राष्ट्र-निर्माण-माला [पुस्तक ३

समाज-विज्ञान



लेखक

चंद्रराज भंडारी 'विशारद'

प्रकाशक

सस्ता-साहित्य-मंडल

अजमेर



भूमिका सहित कुल पृष्ठ संख्या ५८०

प्रथमबार २१००] १९२८ [मूल्य १॥)

प्रकाशक

जीतमल लूणिया, मंत्री

सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर

खर्चा जो लगा है

कागज	५५०)
छपाई	६००)
बाइंडिंग	९०)
लिखाई	६००)
	१८४०)
व्यवस्था, विज्ञापन, आदि खर्च	१३००)
	३१४०)

कुल प्रतियाँ २१००

लागत मूल्य प्रति कापी १॥)

खर्चा जो पुस्तक पर लगाया गया

प्रेस का बिल व लिखाई	१८४०)
व्यवस्था विज्ञापन आदि खर्च	५२०)
	२३६०)

एक प्रति का मूल्य १=)

इस प्रकार इस पुस्तक में फी प्रति ।=) और कुल ७८०) की घटी उठाई गई है।

मुद्रक

जीतमल लूणिया

सस्ता-साहित्य-प्रेस अजमेर

कवि का समाज

(एक आदर्श समाज की कल्पना)

मैं सुखी गृहस्थों के शान्तिमय चक्की चूल्हों से भरा पूरा एक ऐसा समाज देख रहा हूँ, जो पृथ्वी तल पर सबसे अग्रगामी है।

मैं एक ऐसा समाज देख रहा हूँ, जिसमें दासत्व का अस्तित्व नहीं है; जिसमें प्रत्येक मनुष्य स्वाधीनता और आनन्द के साथ विचरण कर रहा है; जहाँ विज्ञान के द्वारा प्राकृतिक शक्तियां बांध ली गई हैं; ज्योति और विद्युत, वायु और तरंग, सर्दी, और गर्मी एवं पृथ्वी तथा वायुमण्डल की सभी सूक्ष्म और गुप्त शक्तियां मनुष्य जाति की आज्ञाधारक दासियां बन गई हैं।

मैं एक ऐसा समाज देख रहा हूँ, जिसमें स्वर्णमय सिंहासन चकनाचूर पड़े हुए हैं और अत्याचारी तथा निरंकुश शासक ख़ाक में मिल गये हैं। मैं देखता हूँ कि आलस्यमय सत्तावाद संसार से उठ चुका है।

मैं सभी प्रकार की कलाओं से सजा हुआ एक सुखमय समाज देख रहा हूँ जिसका वायुमण्डल संगीत की असंख्य रागिनियों से गूँज रहा है, प्रत्येक मनुष्य के ओष्ठों पर सत्य और प्रेम से सने शब्द केलि कर रहे हैं। मेरा संसार निर्वासन की आहों से और कारागार के शोकजनित उद्‌गारों से अनभिज्ञ है। मेरे संसार में फांसी की छाया नहीं पड़ती। इस जगत् में श्रम अपने वांछित

फल पाता है। और मिहनत तथा मजदूरी हाथ में हाथ डाले घूमती हैं।

मैं एक ऐसा समाज देख रहा हूँ, जिसमें कोई दीनतापूर्वक हाथ पसारे नहीं खड़ा है; जहाँ कृपण की पत्थर के समान निश्चल और हृदयहीन आंखें नहीं घूर रही हैं; जहाँ दरिद्र अपना करुणाजनक विलाप नहीं सुना रहा है; जहाँ झूठ के नीले होठ दिखाई नहीं देते और जहाँ उपालम्भ की क्रूर दृष्टि नहीं है।

मैं शरीर और मस्तिष्क के रोगों से रहित एक जाति को देख रहा हूँ। सारी की सारी जाति स्वस्थ और सुन्दर! जैसा रूप, वैसा कर्म्म। शारीरिक सौन्दर्य्य और मानसिक औदार्य्य मानों गठ-जोड़ा बांधे खड़ा हो! मैं जानता हूँ कि प्रतिदिन जीवन दीर्घ हो रहा है आनन्द की जड़ गहरी होती जा रही है, प्रेम का चन्दोवा संसार पर शीतल छाया कर रहा है, और सब से ऊपर विशाल आकाश में आशा की अमर तारिका चमक रही है।

—राबर्ट. जी. इंगरसोल

प्राथमिक वक्तव्य

मनुष्य विकासशील प्राणी है। उसके जीवन की धारा दिन प्रति दिन बदलती रहती है। मानव-स्वभाव की विशेषता और उसकी महत्ता ही इसमें है। अपनी स्थिति में असन्तोष और उन्नति की अतृप्त आकांक्षा यही मनुष्यत्व का सबसे प्रिय और सुन्दर लक्षण है। हम देखते हैं कि दुनिया में कोई भी मनुष्य एक स्थान पर रुक कर रहना पसन्द नहीं करता, उसकी इच्छा किसी न किसी मार्ग से हमेशा आगे बढ़ने की रहती है। इस स्वभाव की उपेक्षा कर जो व्यक्ति तथा जो जातियां एक स्थान पर रुक जाती हैं, वे जड़, आलसी, अकर्मण्य और गुलाम हो जाती हैं, उनका मनुष्यत्व से पतन हो जाता है।

मानव-स्वभाव की इसी विशेषता ने अब तक संसार में कितने ही युग परिवर्तन कर दिये, कितनी ही क्रान्तियां उत्पन्न कर दीं। इसीकी वजह से कितने ही धर्म उदय हुए और अस्त हो गये, कितने ही सिंहासन बने और बिगड़ गये, कितनी ही विचार पद्धतियों ने जन्म लिया और नष्ट हो गई। मगर प्रगतिशील मानव-स्वभाव ने उसकी कुछ भी चिन्ता न की, वह स्वाभविक रूप से बढ़ता ही चला जा रहा है।

मानव-स्वभाव में निवास करनेवाली इसी महती महत्वाकांक्षा ने आज संसार में बुद्धिवाद के नवीन और प्रकाशमय युग को जन्म दिया है। कई भीषण-भीषण संकटों और विपत्तिपूर्ण रास्तों से गुजरती हुई, धार्मिक, राजकीय और सामाजिक अत्याचारों को सहती हुई; मानव-जाति बड़ी कठिनता के साथ इस युग के समीप पहुँची है। बहुत दिनों से मनुष्य-समाज पर अन्ध-श्रद्धा के युग का साम्राज्य था। इस युग ने मनुष्य के ज्ञान-प्रवाह को पूर्णतया रोक दिया था, उसकी विचार-शक्ति को

जड़ कर दिया था, जिससे उसका धर्म्म, कर्म्म, साहित्य और स्वाधीनता सभी भीषण रूप से विकृत हो गये थे। उनमें इतना जंग लग गया था, कि असलियत का पता लगाना भी दूभर हो गया था। मगर बुद्धिवाद के इस युग ने मनुष्य-समाज की बुद्धि के ताले खोल दिये, उसकी विचार-शक्ति को आज़ाद कर दिया, परिणाम यह हुआ कि ज्ञान के मार्ग में जो विघ्न-बाधाएं थीं, वे एकदम दूर हो गई, और उसकी बड़े वेग से उन्नति होने लगी।

इस नवीन युग के प्रादुर्भाव से संसार में कितने ही इष्ट घटित हुए, पर कितने ही ऐसे अनिष्टों का भी सूत्रपात हुआ जो शायद आज की मानव-जाति को अभीष्ट न थे। लेकिन इन सब का विवेचन करना यहाँ पर निरर्थक है। हम केवल इस युग के एक सब से बड़े और सुमधुर परिणाम की ओर दृष्टिपात करना चाहते हैं। वह परिणाम है "विचार-स्वाधीनता का प्रादुर्भाव!" इस युग का यह ऐसा मंगलमय परिणाम है, जिसका मनुष्य-समाज के प्रत्येक सदस्य को अभिनन्दन करना चाहिए। संसार में विचारों की गुलामी और विचारों की दरिद्रता से जितने भयंकर अनर्थ हुए हैं, उतने शायद किसी भी दूसरे कारण से न हुए होंगे। इस युग ने इस गुलामी के ताने-बाने बिखेर कर मनुष्य की स्वतन्त्र विचार और विवेचना करनेवाली शक्ति को जागृत कर दिया है। मानव-जाति के इतिहास में यह घटना क्रम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसीके परिणाम स्वरूप आज मानसशास्त्र, समाजशास्त्र, अध्यात्मविज्ञान, भौतिक विज्ञान आदि सभी बातों में आश्चर्य्य-जनक उन्नति हो रही है। और मनुष्य खुले दिल से ज्ञान की खोज में प्रयत्नशील है।

बुद्धि के प्रकाश में, ज्ञान की चमक में जब मनुष्य ने अपनी सामाजिक दुर्दशा को देखा, अपनी मूढ़ता का अवलोकन किया, अपने आदर्श के साथ अपनी स्थिति की तुलना की, तो उसे अत्यन्त निराशा और दुःख हुआ। उसे अनुभव हुआ कि समाज-ज्ञान के अभाव में हम लोगों

कीकैसी छीछालेदर हो रही है, हम कैसे तीन तेरह हो रहे हैं, हम कितने अत्याचार करते और सहते हैं। यह दुर्दशा तब तक दूर नहीं हो सकती जब तक समाज की व्यवस्था का और उसमें रहनेवाले प्रत्येक सदस्य के अधिकारों का निश्चित निर्णय न हो जाय। इसी आवश्यकता ने समाज-शास्त्र के तत्वों को जन्म दिया। अच्छे-अच्छे प्रतिभाशाली विद्वानों ने इस सम्बन्ध में कई तत्व निश्चित किये। इन तत्वों को निश्चित करने में उन्होंने पूर्वकालीन समाज-शास्त्रज्ञों के मतों से भी पूरी-पूरी सहायता ली। फलतः समाज शास्त्र एक विशिष्ट शास्त्र के रूप में सामाजिक साहित्य में दिखलाई देने लगा।

यद्यपि समाज-शास्त्र को साहित्य में शास्त्रीय रूप धारण किये एक अर्सा हो गया, फिर भी और शास्त्रों की तरह इसके भी बहुत से सिद्धान्त अभी तक एकांगी और अपूर्ण हैं। इसके बहुत से नियमों में अभी अनेक अपवाद भरे पड़े हैं। बहुत ही कम सिद्धान्तों का अभी तक निर्भ्रान्त रूप प्रकट हो सका है। और-और शास्त्रों की तरह इसमें भी अधिकांश नियम ऐसे दिखलाई देते हैं, जिनको हम अन्तिम सिद्धान्त नहीं कह सकते। बात यह है कि मानव-समाज कोई कल या यंत्र तो है नहीं, जिसके विषय में एक निश्चित मत बनाया जा सके। वह भिन्न प्रकार की मनोवृत्तियों को रखनेवाले व्यक्तियों का एक समुदाय है। व्यक्तियों के स्वभाव में इतनी विचित्रता रहती है कि जिस से पांच का सुधार हो सकता है उसीसे दस का बिगाड़ हो जाता है। फिर एक समय में जिस बात से एक व्यक्ति का कल्याण हो जाता है, उसी बात से उसी व्यक्ति का दूसरे समय में महान अनिष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में समाज-शास्त्र के सम्बन्ध किन्हीं निर्भ्रान्त नियमों का स्थिर करना अत्यन्त कठिन है।

इतना होते हुए भी, इस प्रकार के कई व्यापक सिद्धान्तों का आविष्कार जरूर हो चुका है जो सामाजिक-जीवन की गति-विधि का लक्ष्य

निश्चित करने में अत्यन्त सहायक होते हैं। जो समाज-शरीर के अन्तर्जगत का चित्र खींच कर हमारे सम्मुख उपस्थित करते हैं, जिसका ज्ञान समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए आवश्यक है और जिसके अभाव में समाज की एक गहरी हानि होने की सम्भावना रहती हैं। इसके अतिरिक्त जो विवादास्पद विषय हैं, उनपर ऊहापोह होने की भी अत्यन्त आवश्यकता है, जिससे भविष्य में उनका निश्चित स्वरूप निर्दिष्ट होने की सम्भावना रहे।

इसी उद्देश्य के निमित्त संसार की सभी उन्नत भाषाओं में समाज-शास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं और लिखे जा रहे हैं। मगर दुर्भाग्य से हिन्दी में इस विषय के ग्रन्थों का प्रायः अभाव ही है। जो एकाध ग्रन्थ देखने में आता है वह या तो एकदेशीय है या एकाङ्गी। इसके व्यापक स्वरूप पर प्रकाश डालने वाला एक भी ग्रंथ हिन्दी के साहित्य में नहीं है।

इसी अभाव की पूर्ति के लिए यह छोटा सा प्रयत्न है। इस सम्बन्ध में पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों की लिखी जो सामग्री हमें नसीब हुई, उनका निचोड़ लेकर हमने उसपर विचार किया है। जिस विषय में जो मत हमें अधिक उपयुक्त मालूम हुआ, उसीका हमने समर्थन किया है, और अन्त में अपने स्वतंत्र मत का भी उल्लेख कर दिया है। इस ग्रन्थ की विषय रचना भी हमने हिन्दी पाठकों की आवश्यकता का ध्यान रखते हुए विशद और अपने ढंग से स्वतन्त्र ही रक्खी है।

प्रारम्भ में इस विषय पर विद्वान लोगों का अभिमत प्राप्त करने के लिए हमने इसके कुछ अंशों को (सत्ता, क्रान्ति, विवाह, धर्म्म इत्यादि) धारा-वाहिक लेखों के रूप में "आज" "सरस्वती" इत्यादि समाचार पत्रों में प्रकाशित करवाया, और जब हमें मालूम हो गया कि बहुत से विद्वानों ने इन लेखों को पसन्द किया है, तब हमने इन्हें पुस्तकाकार लिखने के विचार को संकल्प के रूप में बदल दिया।

इस पुस्तक में प्रति पादित विषयों की आलोचना करते समय कहीं कहीं हमें ऐसे तत्वों का भी आलोचना करनी पड़ी है, जो शायद आज भी बहुमान्य हैं, और जिनके विधायक ऐसे महापुरुष हैं, जिन पर स्वयं हमारी और सारे संसार की प्रगाढ़ श्रद्धा है। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार की आलोचनाओं का सम्बन्ध केवल सिद्धान्तों के साथ है, उनके विधायकों के व्यक्तित्व के साथ नहीं। उन्होंने जो कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये, वे जहां तक उनसे बन पड़ा संपूर्णतया विचार करके और उस समय की परिस्थिति को देख कर उसके अनुसार ही किये थे, और बहुत संभव है, उस काल में वे सर्वोपयोगी सिद्ध हुए होंगे। लेकिन काल और परिस्थिति के परिवर्तन से आज यदि वे सिद्धान्त अपूर्ण दिखलाई देते हों तो इसमें उनका क्या दोष? इससे उनके महान् व्यक्तित्व में कोई बाधा नहीं आ सकती। आज की पीढ़ी का कर्तव्य है कि वह समयानुसार उनमें परिवर्तन करके उन्हे अपने उपयोगी बना ले। परिवर्तन करना पाप नहीं है। इससे उनके व्यक्तित्व का अपमान समझना भारी भूल है। ऐसे महान् विचारक पूर्व-पुरुषों की सन्तति को भी कोई बात बिना सोचे विचारे ग्रहण अथवा त्याग तो नहीं कर देनी चाहिए।

फिर भी कौन कह सकता है कि आज जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये जा रहे हैं, वे ही अटल और त्रिकालाबाधित हैं। आज के समय में चाहे वे उपयोगी प्रतीत होते हों, पर जब यह समय बदल जायगा तब ये सिद्धांत भी अपूर्ण और गलत ही दिखलाई देने लगेंगे। मतलब यह कि सांसारिक परिवर्तनों के साथ साथ मनुष्य विषयक धारणा और ज्ञान भी विकसित होता जाता है। कल का सत्य आज हमारे लिए पर्याप्त नहीं है, और आज का सत्य भावी प्रजा को शायद ही सन्तुष्ट कर सके। ऐसी स्थिति में किसी सिद्धान्त पर किसी के महान् व्यक्तित्व की छाप लगे रहने के कारण ही उसे पकड़ कर बैठ जाना मनुष्य के पवित्रतम व्रत सत्यान्वेषण से विमुख होना है। मनुष्य-समाज का वास्तविक कर्तव्य

तो यह है कि अपने बढ़ते हुए ज्ञान के अनुसार अपनी आचार-नीति में परिवर्तन करता रहे। जो समाज इसके प्रगतिशील सनातन मानव-धर्म को छोड़ कर जन्म जन्मान्तर तक एक ही लकीर को पीटते चले जाते हैं उनके नष्ट और पतित होने की आशंका पद पद पर रहती है।

अब हम संक्षेप में इस ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयों पर एक दृष्टिपात कर देना आवश्यक समझते हैं।

सबसे पहले हमने समाज के क्रमागत विकास के इतिहास पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। इस इतिहास के द्वारा हमने यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि समाज-रचना का सुव्यवस्थित रूप किस प्रकार अस्तित्व में आया। इसके पश्चात् समाज-रचना के तात्त्विक स्वरूप का विवेचन किया गया है। इस विवेचन के अन्तर्गत भारतीय वर्ण-व्यवस्था, ग्रीक समाज-व्यवस्था, कैण्ट की विचार-पद्धति और साम्यवादियों की समाज-व्यवस्था का वर्णन किया गया है। इन सबकी आलोचना करने के पश्चात् यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि मानव-समाज के जीवन-रक्षा और विकास के लिए वर्ण-व्यवस्था की पद्धति बहुत उत्तम सिद्ध हो सकती है, यदि वह कुछ सुधारों के साथ स्वीकार की जाय। हमारे इस कथन से कोई यह न समझें कि वर्ण-व्यवस्था भारत की वस्तु है इसलिए हमने उसे सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। हमारा विश्वास है कि जिस समता-तत्त्व के लिए आज की मनुष्य-जाति इतनी छटपटा रही रही है, और कई प्रकार के अस्वाभाविक उपायों की योजना कर रही है, वह इस पद्धति के द्वारा प्राप्त हो सकता है यदि इसका बुद्धिमानी पूर्वक उपयोग किया जाय। इसके साथ ही योग्यता-तत्त्व (जिसकी कि समाज को बड़ी आवश्यकता है) की भी इसके द्वारा बड़े उचित ढङ्ग से रक्षा हो सकती है। लेकिन इस पद्धति के शुद्धरूप से जहां इतने लाभ और इतनी व्यवस्था हो सकती है, वहां इसमें थोड़ासी विकृति—जरासी भूल हो जाने ही से—बड़े बड़े महान् अनर्थ खड़े हो जाते हैं। इसका भी हमने

भली प्रकार दिग्दर्शन करवा दिया है। हमने बतलाया है कि इसी विकृति में भारतवर्ष के समान प्रसिद्ध देश के भीषण पतन का सूक्ष्म बीज छिपा हुआ है। भारतीय सभ्यता के सुदृढ़ किले में भी इस विकृति ने ऐसा घुन लगा दिया, जिससे इतना विशाल आयोजन भी भीतर ही भीतर से तीन तेरह हो गया। मतलब यह कि इस पद्धति का उपयोग यदि अत्यन्त शुद्ध रूप में किया जाय तो यह पद्धति समाज-रचना के लिए सर्वोत्कृष्ट हो सकती है।

इसके पश्चात् हमने जीवन के चारों विभागों का विवेचन करते हुए, गृहस्थाश्रम की परम महत्त्वपूर्ण घटना—जहां से सामाजिक जीवन का प्रारम्भ होता है—विवाह पर प्रकाश डाला है। इस सम्बन्ध में हमने विवाह के मूल-तत्वों पर विचार करके संसार की सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध विवाह पद्धतियों की आलोचना की है। हमने बतलाया है कि स्त्री और पुरुष के बीच प्रकृति ने जो स्वाभाविक सम्बन्ध रक्खा है, उसे समझने में मनुष्य-जाति ने बड़ी गम्भीर भूल की है। कहीं कहीं स्वार्थ के वश पुरुष-समाज ने स्त्री-समाज को निर्दयता के साथ कुचलने का प्रयत्न किया है। विवाह के तत्त्व को समझने में मनुष्य-समाज ने बड़ी बड़ी भूलें की हैं, और यही कारण है कि स्त्री और पुरुष का पवित्र सम्बन्ध—जो सामाजिक शान्ति का मूलाधार है—भीषण अशान्ति का कारण बना हुआ है। यह घटना किसी एक ही देश या एक ही काल की नहीं है, प्रत्युत सभी देशों और सभी कालों में किसी न किसी रूप में इस प्रकार की घटनाएं घटी हैं। यह पवित्र सम्बन्ध पतित होते होते कहां जा पहुँचा है इसे देखकर कलेजा कांप उठता है। दो स्त्री-पुरुष जहां इकट्ठे होंगे वहां सिवाय काम-वासना के दूसरी कल्पना का उदय ही नहीं होने पाया। स्त्री और पुरुष के बीच में और भी कोई दूसरा सम्बन्ध हो सकता है; और भी कोई पवित्र भावनाओं का उदय हो सकता है, और भी किसी प्रकार का सुन्दर सहयोग हो सकता है यह कल्पना तक नष्ट हो चुकी है। अब तो शायद् यह कल्पना बेवकूफी का चिन्ह समझी जाने लगी है? कितनी भीषण

दुर्दशा है ? इस सब दुर्दशा का मूल कारण विवाह-पद्धति के अन्दर मज़हबवाद का अड्डा लग जाने से उत्पन्न हुआ है। स्त्री नरक की खानि है, वह वासनाओं की जननी है, वह पुरुष को फंसानेवाली है इत्यादि नाना प्रकार के हीन शब्दों में उसका स्मरण करके मजहबवाद ने स्त्री जाति की ऐसी निन्दा की, मानों उसमें पवित्रता का लेश भी नहीं है। जहां तक उससे हो सका उसने स्त्री-समाज के पावित्र्य को दबाने का प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि इस प्रकार के निकृष्ट संस्कारों को सहन करते करते स्त्रियां सचमुच अपने पवित्र गुणों को भूल बैठीं। उन्होंने गुलामी के द्वारा और वासनाओं की तृप्ति के द्वारा पुरुष-समाज की निकृष्ट इच्छाओं को पूरी करने में ही अपनी सार्थकता समझी और पुरुष समाज ने भी अपनी नीच वासनाओं की पूर्ति का पुतला समझ कर उसे अपने घर में डाल ली। इस प्रकार स्त्री और पुरुष का पवित्र सम्बन्ध, जहां से प्रेम, दया सहानुभूति और मातृत्व के झरने बहने चाहिए, अत्यन्त निकृष्ट हो गया और उसमें से कलह व्यभिचार वासना और निकृष्ट पत्नीत्व की गन्दी मोरियां निकलने लगीं।

इस भीषण दुर्दशा को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि नारी का प्राकृतिक अस्तित्व पुनः जीवित किया जाय, जो पुरुष की स्वार्थपरता और मज़हबवाद के अत्याचार की चक्की में पिस कर नष्ट प्रायः हो गया है। समाज के अन्तर्गत उसका स्वतन्त्र स्थान निश्चित किया जाय, और जानवरों की तरह बिना उसकी इच्छा के—धर्म और समाज के नाम पर—उसे एक घर से दूसरे घर पहुँचाने से रोकी जाय। इसके लिए पहले यह आवश्यक है कि समाज-नीति का सम्बन्ध इस भयंकर मजहब-नीति से एक दम तोड़ दिया जाय, और विवाह धर्म-मूलक तथा वासना-मूलक न होकर प्रेम-मूलक पद्धति पर हो। इसके लिए हमने अपनी कल्पना के अनुसार एक नई विवाह-योजना रखी है।

इसके पश्चात् हमने "तलाक प्रथा" पर अपने विचार प्रकट किये हैं। हम जानते हैं कि इस ग्रन्थ के बहुत से पाठक इस सम्बन्ध में हमारे

विचार पढ़ कर चौंक पड़ेंगे। पर इस विषय पर हम अपने प्रत्येक पाठक से गम्भीरता पूर्वक विचार करने की अपील करते हैं। इस प्रथा की अन्धियारी बाजू (Dark side) पर अत्यन्त शान्ति के साथ विचार कर लेने के पश्चात् ही हमने अपना निश्चय प्रकट किया है। हम जानते हैं कि इस पद्धति के प्रचलित होने पर पारिवारिक बन्धन बहुत कुछ शिथिल हो जायँगे। स्त्री और पुरुष के बीच जो गहरा सम्बन्ध बना हुआ है, वह भी ढीला हो जायगा। मगर फिर भी इतनी हानियों के होने पर भी हम इस पद्धति की आवश्यकता को अनुभव करते हैं। इस पद्धति के अभाव में कितने ही प्रेम-मन्दिर, कलह-मन्दिर बने हुए हैं; कितने ही स्वर्गागार भीषण नरक के नमूने बने हुए हैं; कितने ही महत्वाकांक्षी नवयुवक—जिनके पास प्रतिभा है, बुद्धि है, धन है, दौलत है—अपने विरुद्ध स्वभाववाली पत्नियों की वजह से अपने जीवन, उत्साह, और आनन्द को नष्ट करके नरक-यंत्रणा का अनुभव कर रहे हैं। इसी प्रकार कितनी ही योग्य पत्नियां—जिनके प्रेम का कटोरा लबालब भरा हुआ है, जिनमें दया, सहानुभूति और वात्सल्य प्रचुर मात्रा में है—नीच और क्षुद्र पतियों के साथ अपने उच्च-जीवन को बरबाद कर रही हैं। समाज का स्वास्थ्य नष्ट हो रहा है, शान्ति स्वप्नवत् हो रही हैं, दुर्बल सन्तानें उत्पन्न होकर समाज का भार बढ़ा रही है, मगर इसके प्रतिकार का कुछ उपाय नहीं है। यह स्थिति क्या समाज के लिए अभीष्ट कही जा सकती है? हम जानते हैं कि आदर्श विवाह-प्रणाली प्रचलित हो जाने पर ऐसी घटनाएं बहुत कम हो जायंगी, मगर उन कम घटनाओं को दूर करने के लिये समाज में क्या व्यवस्था रहेगी? इस प्रकार भद्दे तरीके से एक भी व्यक्ति के जीवन को नष्ट करने का समाज को क्या अधिकार है? इस व्याधि की चिकित्सा के लिए हमने सूक्ष्म रूप में, कुछ नियमों के साथ तलाक प्रथा को अंगीकार करने का समर्थन किया है। इस पर हम यह लिख देना आवश्यक समझते हैं कि इस ग्रन्थ में हमने किसी विशिष्ट समाज को लक्ष्य में रख कर कोई योजना

प्रकाशित नहीं की है। इसमें केवल सिद्धान्तों का वर्णन किया है जो किसी भी समाज पर प्रयुक्त हो सकता है।

विवाह-पद्धति का वर्णन हो चुकने पर हमने विवाह के सुमधुर परिणाम—सन्तान पर एक अध्याय लिखा है, और उसके पश्चात् सन्तान—शिक्षा पर एक अध्याय लिख कर इस खण्ड को समाप्त कर दिया है। हमारा विचार "शिक्षा" पर एक स्वतन्त्र खण्ड लिखने का था। मगर कई कारणों से वैसा न कर सके। लाचार इतने ही में सन्तोष करना पड़ा

इसके पश्चात् हम "सत्ता" का विवेचन करनेवाले दूसरे खण्ड में प्रवेश करते हैं।

इस खण्ड में हमने सत्ता की उत्पत्ति के मनो-वैज्ञानिक कारणों का विवेचन करते हुए समाज-सत्ता, धर्म-सत्ता और राज्य-सत्ता के क्रमागत विकास का विवेचन किया है। इसके पश्चात् हमने सत्ता-तत्त्व के सबसे प्रबल परिणाम राज्य पर विचार किया है। राज्य कल्पना की उत्पत्ति, उसके विकास और उसकी भिन्न-भिन्न पद्धतियों का विवेचन करके हमने राज्य के भिन्न भिन्न स्वरूपों की आलोचना की है।

राज्यतंत्र, प्रतिनिधितंत्र, प्रजातंत्र और साम्यवाद इन पद्धतियों में से समाज की रक्षा के लिए कौनसी पद्धति सर्वोत्कृष्ट है इसका निश्चित निर्णय करना बड़ा ही कठिन है। बात यह है कि जहां अपने सात्विक रूप में ये सभी पद्धतियां समाज की रक्षा कर सकती हैं, वहां अपने तामसिक रूप में सभी समाज के लिए भयंकर शाप की तरह सिद्ध हो सकती है। ऐसी स्थिति में किसी एक पद्धति के पक्ष में फैसला देना बड़ा ही पक्षपात पूर्ण हो जाता है। जब हम भारतीय-साहित्य में वर्णित "राज्यतंत्र" के सात्विक स्वरूप को देखते हैं, तब आज के प्रतिनिधि-तंत्र और प्रजा-तंत्र उसके सम्मुख अत्यन्त क्षुद्र जान पड़ते हैं। लेकिन इसके साथ ही जब हम उसके व्यावहारिक रूप पर उसके द्वारा होनेवाले ऐतिहासिक परिणामों पर विचार करते हैं तब हमें बड़ी निराशा होती है और तत्काल

हमारा ध्यान प्रजातंत्र और प्रतिनिधि-तंत्र की ओर चला जाता है। प्रजा-तंत्र और प्रतिनिधि-तंत्र पर गत दो शताब्दियों में यूरोप के अन्तर्गत खूब ज़ोरों के साथ चर्चा चल पड़ी है। कई देशों ने तो इन पद्धतियों का व्यावहारिक क्षेत्र में उपभोग भी किया है मगर ऐसा मालूम पड़ता है कि यूरोप का विचारक और साधारण जन-समुदाय इन पद्धतियों से भी सन्तुष्ट नहीं है। नाना प्रकार की पद्धतियों का प्रयोग करते करते वहाँ का जन-समुदाय इतना उकता गया है कि वह राज्य के अस्तित्व को ही निरर्थक, असभ्यता का सूचक समझने लग गया है, और इसीके परिणाम-स्वरूप वहाँ पर अराजकवाद, समतावाद, तथा व्यक्तिवाद की विचार-पद्धतियों ने जन्म लिया है। प्रति-क्रिया की प्रबल धार में पड़कर वहाँ का जन-समाज पूर्ण स्वाधीनता के समीप पहुँचता जाता है। मगर उसके प्रयत्नों से राज्य का अस्तित्व बिलकुल ही नष्ट हो जायगा, इस बात का समर्थन कम से कम हमारी छोटीसी विचार-प्रणाली नहीं कर सकती। हाँ, इतना अवश्य है कि जब प्रति-क्रिया शान्त हो जायगी तब वहाँ पर राज्य का क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण दिखलाई देने लगेगा। यह स्थिति भी कम सन्तोषजनक नहीं है। इन्हीं सब बातों पर विचार करके हमने प्रतिनिधि-तंत्र का समर्थन किया है और निर्दिष्ट स्वरूप के पक्ष में हमने उचित दलीलें भी दी हैं। हमारी समझ में वही राज्य-पद्धति सबसे श्रेष्ठ है, जो कम से कम शासन करके अधिक से अधिक व्यवस्था कर सकती है। यह सिद्धान्त प्रतिनिधि-तंत्र के शुद्ध स्वरूप से अधिक अंशों में सफल हो सकता है।

आगे चल कर हमने न्याय और क़ानून तथा दण्ड-नीति पर एक अध्याय लिखा है। हमने बतलाया है कि यद्यपि क़ानून की उत्पत्ति न्याय के तत्त्व पर ही होती है, मगर परिस्थिति-भेद से इनमें बड़ा भेद, भेद ही नहीं बल्कि एक प्रकार का जबर्दस्त विरोध भी उत्पन्न हो जाता है। न्याय का तत्त्व मनुष्य के अन्तःकरण से सम्बन्ध रखता है। मगर

क़ानून के तत्त्व उसकी बाहरी परिस्थिति से निश्चित किये जाते हैं। मनुष्य अपनी चतुराई से, अपनी धूर्तता से, अपनी कुटिलता से, अन्तः करण और बाहरी जगत् के बीच में इतना जबर्दस्त विरोध उत्पन्न कर देता है कि जिसे देख कर बड़े-बड़े विचारक भी दङ्ग हो जाते हैं। आज-कल के मानवी-न्यायालयों में क़ानून को प्रधानता दी गई है। क्योंकि न्याय का तत्त्व निश्चित करने के योग्य तराजू उनके पास नहीं रहती। उसमें उनसे पद-पद पर भूलें हो जाने की सम्भावना रहती है। मगर क़ानून ऐसी वस्तु है, जिसका सम्बन्ध बिल्कुल प्रत्यक्ष से है, जिसमें धोखा होने की विशेष सम्भावना नहीं रहती। लेकिन कानून की इस प्रधानता का परिणाम यह हुआ कि कई न्याय की दृष्टि से निरपराध मनुष्य तो अर्थ, वाक्‌शक्ति या छल के अभाव से दण्डित हो जाते हैं, और कई सच्चे अपराधी इन्हीं बातों की बदौलत आनन्द से आज़ाद फिरते रहते हैं। क़ानून की भाषा के अन्तर्गत इतने पेंच उत्पन्न कर दिये गये हैं, जिनकी वजह से कई अपराधी निरपराध और निरपराधी अपराधी करार दिये जाते हैं। और यह सब बातें खुल्लमखुल्ला अभिनीत होती हैं। हमने बतलाया है कि यह स्थिति समाज के लिए अभीष्ट नहीं हो सकती। समाज की सुव्यवस्था के लिए न्याय और कानून के बीच ऐसा समीकरण होना चाहिए जिससे इनका यह पारस्परिक विरोध मिट जाय।

दण्ड-नीति के विषय में हमने जो विचार प्रकट किये हैं, उनसे सम्भव है कुछ पाठकों का विरोध हो। हम भी यह मानते हैं कि समाज की एक विशिष्ट अवस्था ऐसी होती है जिसमें दण्ड-नीति के प्रयोग की आवश्यकता होती है। फिर भी दण्डनीति का सैद्धान्तिक रूप से समर्थन करना अनुपयुक्त ही मालूम होता है। संसार का इतिहास और मानस-शास्त्र के तत्त्व हमें इस नीति के बिल्कुल विरुद्ध अनुभव प्रदान करते हैं। जिस महान् कल्याण की आशा से यह नीति अस्तित्व में आई है वह कल्याण इससे सम्पन्न होता हुआ दिखलाई नहीं देता। इस भयंकर नीति

के रहते हुए भी सामाजिक अपराधों की संख्या तीव्र वेग से बढ़ती ही चली जा रही है। इसीलिए हमने इस नीति की असफलता का वर्णन करते हुए, अपराधों की संख्या घटाने के लिए किसी विधेयात्मक (Positive) नीति का अवलम्बन करने की ओर संकेत किया है।

"सत्ता" का खण्ड समाप्त होने पर "धर्म्म" का तीसरा खण्ड प्रारम्भ होता है। इस खण्ड के विषय को सबसे अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

सब से पहले हम यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि केवल सामाजिक दृष्टि को लक्ष्य में रख कर हमने इस विषय की आलोचना की है। इससे अधिक गहरे पानी में उतरने की न तो हमें आवश्यकता ही थी और न हमने वैसा करने की चेष्टा ही की है। अतएव जो सज्जन इस विवेचन में किसी प्रकार के आध्यात्मिक या दार्शनिक तत्त्वों को ढूँढ़ने का प्रयत्न करेंगे, वे सम्भवतः निराश ही होंगे। प्रस्तुत पुस्तक समाज-शास्त्र से सम्बन्ध रखती है अतः जो केवल इसी दृष्टि से इस पर विचार करेंगे, उन्हींको इसमें विचार की कुछ सामग्री मिल सकेगी।

प्रारम्भ में हमने "अनेक देववाद" पर भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया है। हमने बतलाया है कि नैतिक, सामाजिक और धार्मिक किसी भी दृष्टि से इस धर्म का अधिक महत्त्व नहीं है। इस धर्म्म से सामाजिक-जीवन के कई महत्त्वपूर्ण तत्त्वों में बड़ा व्याघात पहुँचता है। इस धर्म के अनुयायी ईंट, पत्थर, लकड़ी, लोहा, पेड़, पानी, बन्दर, बिल्ली, गाय, बैल, चूहा, सांप, आदि प्रत्येक वस्तु की पूजा करने लगते हैं। किसी भी वस्तु को देवता का स्वरूप देने में इन्हें बिलकुल विलम्ब नहीं लगता। एक पैसे का तेल और एक पैसे का सिन्दूर इनके लिए देवता उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त होता है। बाबू भगवानदास ने इस धर्म के सामाजिक परिणामों पर विचार करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि इस प्रकार बहुत से देवी देवताओं के आगे सिर झुकाने की प्रकृति जिस मनुष्य-झुण्ड

(उसको समाज का आदरणीय नाम देना तो अनुचित मालूम पड़ता है) की होती है वह भीरु, डरपोक और कायर होता है, वह मनुष्यों में भी जिस किसी को अधिक बलवान् देखता है उसीके आगे सिर झुकाने को तथा उसकी खुशामद करने को तैयार हो जाता है। जिस देश में ऐसे झुण्ड रहते हैं उस देश में अपने पैरों पर खड़े होने की स्वतन्त्र सत्ता उत्पन्न नहीं हो सकती। हो भी कैसे ? इस प्रकार के धर्म्मानुयायियों के सम्मुख चारों ओर भय ही भय का साम्राज्य बना रहता है। उनके अगणित देवता उन्हें एक एक परमाणु में व्याप्त दिखलाई देते हैं। छींक होती है तो वे डरते हैं, बिल्ली रास्ता काट जाती है तो वे डरते हैं उल्लू बोलता है तो डरते हैं, छिपकिली छू जाती है तो डरते हैं, दिशाशूल होता है तो डरते हैं, ज्योतिषी का बताया मुहूर्त न हो तो डरते हैं। भूत से डरते हैं, प्रेत से डरते हैं, देवी-देवता से डरते हैं, फकीर भिखमंगे के कोसने से डरते हैं। जो धर्म्म गर्भ से बाहर होने के साथ ही अपने अनुयायियों के आगे भय का साम्राज्य उत्पन्न कर देता है, उस धर्म्म के अनुयायियों का सामाजिक-जीवन कैसे संगठित हो सकता है ?

इसके पश्चात् हमने "ईश्वर वाद" की खूब विस्तार के साथ आलोचना की है। सब से पहले हमने ईश्वरीय कल्पना के महान् उद्देश्य पर अपने विचार प्रकट किये हैं। हमने बतलाया है कि किस प्रकार मानव-बुद्धि की अपूर्णता से ईश्वरीय कल्पना मज़हबवाद में बदल गई, और उससे किस प्रकार बड़े-बड़े सामाजिक अनर्थ-घटित हुए। यहां पर हम यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि इस ग्रंथ में जहां-जहां हमने ईश्वर की आलोचना की है, वहां-वहां हमारा तात्पर्य्य केवल मज़हबी ईश्वर से है।

हमने बतलाया है कि इस मजहबवाद ने मनुष्य की इच्छा-शक्ति और विचार-शक्ति को किस प्रकार कुण्ठित कर दिया है। नाना प्रकार की कल्पनाओं के द्वारा उसने मनुष्य की विचार-शक्ति पर अनेक प्रकार के

पहरे बिठा दिये हैं। यह कलियुग आ रहा है, यह पञ्चम काल है। इस काल में चारों ओर पाप का साम्राज्य हो जायगा। स्वर्ग-सुख की इच्छा रखनेवाले मनुष्य को इसके प्रवाह से बचना चाहिए। उसे मज़हब की आज्ञाओं के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए। इत्यादि। इसी प्रकार की आज्ञाओं से प्रेरित होकर मज़हब के अनुयायियों ने स्वतन्त्र विचार करना छोड़ दिया। यदि कभी कोई स्वतन्त्र विचार उनके मस्तिष्क में जन्म लेता, तो उसे वे कलियुग का प्रभाव समझ कर भीतर ही भीतर दबोच देते। इतने पर भी यदि कोई स्वाधीन विचार का मनुष्य अपने स्वतन्त्र विचारों को प्रकट करता तो वह तुरन्त राक्षस, नास्तिक, काफ़िर या शैतान करार दिया जाता। इस प्रकार जहां तक हो सका मज़हब ने मनुष्य-जाति के ज्ञान के द्वार को रोकने में जी-तोड़ परिश्रम किया। इसी के संस्कारों से प्रभावित आज भी बहुत से लोग इस विज्ञान के युग को, मनुष्य-समाज की इस धारा प्रवाही उन्नति को बड़े भय की दृष्टि से देख रहे हैं। वे इसे कलियुग, पञ्चम काल तथा इसी प्रकार के भिन्न-भिन्न नामोंवाले युग का पापमय प्रवाह समझ कर अपने अनुयायियों को भर सक उससे बचने का उपदेश देते हैं। वे आध्यात्मिकता की दुहाई देकर मनुष्य समाज को इस भौतिक प्रवाह से रोकने का प्रयत्न करते हैं। मगर खेद की बात है कि मज़हब के खज़ाने में सच्ची आध्यात्मिकता का भी तो पता नहीं है। यदि ऐसा होता तब तो मज़हबवाद जगत के लिए आशीर्वाद रूप हो जाता। मगर सच्ची आध्यामिकता को अपनाने में तो पद पद पर ज्ञान की तथा विचार की आवश्यकता होती है। और ज्ञान तथा विचार से मजहब का हमेशा से विरोध रहा है। वह तो हमेशा से परम्परा का तथा जड़ रूढ़ियों का पक्षपाती रहा है। परिणाम यह हुआ कि मजहब वादियों ने भिन्न–भिन्न धर्मों की आध्यात्मिकता के वास्तविक अर्थों को बहुत विकृत कर दिया, उन्होंने उसे बहुत ही बुरी तरह से तोड़ा मरोड़ा। इसी के भीषण परिणाम स्वरूप प्रसिद्ध वेदान्त

दर्शन अकर्मण्यता का जनक बना दिया गया। संसार प्रसिद्ध जैन अहिंसा कायरता के रूप में बदल दी गई। त्यागमय बौद्धधर्म निराशावाद का उत्पादक होकर प्रकट हुआ। प्रसिद्ध क्षमावादी ईसाई धर्म्म और भ्रातृभाव का पोषक इसलाम धर्म्म भयंकर क्रूर रूप लेकर जगत् के सन्मुख आये। समाज-रचना के महान् सिद्धान्तों में भी इस मज़हब वाद का प्रवाह पहुँचा। इसने अपने प्रभाव से उनकी भी बड़ी दुर्दशा कर डाली। जातिपांति, छुआछूत, विकृत, विवाह-पद्धति प्रारब्धवाद, निराशावाद, आदि महान् रोग इसी के गर्भ में से उत्पन्न हुए। मतलब यह कि धर्म के इस विकृत रूप ने मनुष्य की विचार-शक्ति को जड़ कर दिया। इस प्रकार "इच्छा—शक्ति" और "विचार-शक्ति" इन दोनों शक्तियों को—जो कि मनुष्यत्व की प्राण-भूत हैं। मज़हबवाद ने कुण्ठित कर दिया। चारों ओर से 'निषेध, निषेध' की आवाजें लगाकर उसने मनुष्य-समाज का सब कुछ खो दिया।

इसके पश्चात् हमने दर्शन-प्रणीत आध्यात्मवाद का विवेचन करके सदाचारवाद का उल्लेख किया है। उसके पश्चात् अपनी विचार-शक्ति के अनुसार हमने धर्म्म के आदर्श स्वरूप का संक्षिप्त में उल्लेख किया है। हमने बतलाया है, कि वही धर्म्म मनुष्य-समाज के लिए उपयोगी हो सकता है। जिसका एक एक वाक्य विधेयात्मक संस्कारों (Positive suggestion) से परिपूर्ण हो, जो मनुष्य को निराशावाद का नहीं प्रत्युत शुद्ध आशावाद का सन्देश देता हो, जो मनुष्य-जाति को निर्विकार आनन्द का दर्शन कराता हो, जो स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में कहता है "भय के गुलाम मत बनो, शंका के गुलाम मत बनो, खेद के गुलाम मत बनो, निराशा के गुलाम मत बनो, दुःख के गुलाम मत बनो, सुख के गुलाम मत बनो। किसी भी भयंकर घटना से कुण्ठित मत होओ। प्रत्येक घटना पर तुम अपनी इच्छा-शक्ति से विजय प्राप्त कर सकते हो, इस परम सत्य पर विश्वास करके, आनन्द की तरगों में लहराते हुए विच

प्रति दिन बढ़ते ही जाओ। इत्यादि।" इसी प्रकार के धर्म्म से मनुष्य-जाति को नवजीवन की प्राप्ति हो सकती है।

इसके आगे हमने "सदाचार" पर एक अध्याय लिखा है। उसमें हमने बतलाया है कि इसी मज़हबवाद का अड़ङ्गा लग जाने से सदाचार की कैसी दुर्दशा हुई है। सदाचार का महान् आदर्श पतित होते होते कहां से कहां जा पड़ा है। इसके पश्चात् स्वास्थ्य को सदाचार का आधार बनाने का हमने अनुमोदन किया है।

इन तीन विवादास्पद खण्डों के पश्चात् तीन खण्ड ऐसे आते हैं, जो अधिक विवादास्पद नहीं है। और जिनके सम्बन्ध में अधिक लिखना व्यर्थ है। इनमें से चौथा "सम्पत्ति" पांचवां "साहित्य" छठा "स्वाधीनता" के सम्बन्ध में है।

"सम्पत्ति" के खण्ड में हमने सम्पत्ति की उत्पत्ति, उसकी वृद्धि, समाज में सम्पत्ति का स्थान, सम्पत्ति का वितरण तथा व्यक्ति और समाज से सम्पत्ति का सम्बन्ध आदि भिन्न भिन्न विषयों पर प्रकाश डाला है। अन्तिम अध्याय में हमने उत्तराधिकार की प्रथा के सम्बन्ध में कुछ मर्यादा निश्चित करने के लिए लिखा है। मगर समय का एक दम अभाव हो जाने से वह मर्यादा कैसी होना चाहिए इस सम्बन्ध में हम स्पष्टीकरण न कर सके। यदि कभी इसके अगले संस्करण का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो वह कमी निकाल दी जायगी।

"साहित्य" के सम्बन्ध में हमें कुछ लिखना नहीं है। "स्वाधीनता" के प्रारम्भिक दो अध्यायों में हमने प्रसिद्ध तत्ववेत्ता "मिल" का अनुकरण किया है। इस सम्बन्ध में हमें उनके विचार इतने पसन्द आये कि जिनका अनुकरण करने का लोभ हम संवरण न कर सके। अतः इन दो अध्यायों में विचार तो उन्हीं के हैं उन्हें अपना कर हमने अपने ढंग से लिख दिया है। शेष अध्याय हमने अपने विचारानुसार लिखे हैं।

इसके पश्चात् इस ग्रन्थ का उत्तरार्द्ध प्रारम्भ होता है। इसमें "सामाजिक रोग निदान और चिकित्सा" पर लिखा गया है। (खेद है कि उत्तरार्द्ध के मुख पृष्ठ पर यह हेडिंग नहीं दिया गया पाठक सुधार कर पढ़ लें) इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए हमें इस बात की आवश्यकता मालूम हुई कि यदि किसी एक समाज को लक्ष्य में रखकर प्रत्यक्ष रूप से उसके रोगों को बतलाया जाय, तो इस विषय को समझने में अधिक सुविधा होगी। इसलिए हमने भारतीय समाज को लक्ष्य में रख कर इस भाग को लिखा है। क्योंकि यह पुस्तक अधिकतर भारतीय बन्धुओं ही के हाथ में जायगी। अतः उन्हें सामाजिक-सिद्धान्तों के साथ साथ अपनी सामाजिक परिस्थिति का भी ज्ञान हो जायगा। इस प्रकार पुस्तक का प्रथम भाग तो जनरल या सार्वदेशिक हो गया है और दूसरा भाग भारतवर्ष के सम्बन्ध में एक देशीय हो गया है। आशा है पाठकों को हमारी यह पद्धति पसन्द होगी।

यद्यपि यह पुस्तक हमने स्वतन्त्र ढङ्ग से लिखी है, और इसमें प्रतिपादित किये हुए तत्वों को स्वयं अपनी बुद्धि की कसौटी पर जांचा है। यद्यपि इसमें पदर्शित किये हुए विचारों की जिम्मेदारी भी केवल हमारे पर ही है, फिर भी कई भिन्न भिन्न विचारकों के विचारों ने हमारी विचार-प्रणाली को बड़ी सहायता पहुँचाई है, हमारी बुद्धि को उत्तेजना दी है, हमारे मार्ग को आलोकित किया है। यदि उनके विचार हमारे सम्मुख न होते तो पुस्तक का ऐसा रूप पाठकों के हाथ में कदापि न पहुँच सकता। पाश्चात्य विचारकों में से प्रसिद्ध तत्ववेता प्लेटो, एरिस्टोटल, कैण्ट, फ्रोझियर, एडवर्ड जैन्कस, जॉन स्टुअर्ट मिल, हर्बर्टस्पेन्सर, ज्यूलियस साइमन, बाकुनिन, प्रिन्स क्रोपाट्किन, कार्लमार्क्स, लेनिन राबर्टन स्मिथ, स्ट्रेबो, ग्रोटे लार्डकैम्स, लैकी, इत्यादि तथा भारतीय विचारकों में से महात्मा मनु, व्यास, वेद निर्माता, स्मृतिकार, आदि प्राचीन, तथा श्रीयुत चिन्तामणि वैद्य, पं० बद्रीसाह

दुल धरिया, बाबू भगवानदासजी, कवि सम्राट रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्रीयुत पदुमलाल पुन्नालाल बक्षी, पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी प्रो० बालकृष्ण, श्रीयुत गोपाल दामोदर तामस्कर, श्रीयुत सुख सम्पत्तिराय भण्डारी, श्रीयुत मिश्र बन्धु, इत्यादि अनुभवी विचारकों के विचार-पद्धतियों और खोजों से हमें बड़ा प्रकाश मिला है। इसके अतिरिक्त प्रधानतया चांद, और उसके पश्चात् सरस्वती, माधुरी आदि पत्रिकाओं की सामयिक सामग्री ने भी हमें बहुत सहायता पहुँचाई है अतः इन सब के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

समाज शास्त्र का विषय अभी अपूर्ण है। अभी उसके सम्बन्ध में खोजें होना शेष हैं। ऐसी स्थिति में इस ग्रन्थ में प्रतिपादित बहुतसी विचार-पद्धतियों का अपूर्ण और दोष-पूर्ण रह जाना स्वाभाविक है, इसके अतिरिक्त ज्ञान और अनुभव की कमी की वज़ह से भी इसमें बहुत से दोषों का रह जाना सम्भव है। पर हमें आशा है कि विद्वान पाठक इन अपूर्णताओं और दोषों के लिए हमें दोषी न समझेंगे, क्यों कि जहां तक ज्ञान और शक्ति ने हमारा साथ दिया वहां तक हमने ग्रन्थ को सुन्दर बनाने का पूरा पूरा प्रयत्न किया। अतएव जो दोष और भूलें इसमें रह गई हैं, वे हमारी शक्ति और ज्ञान की बाहर की हैं। उनके लिए यदि विद्वान सज्जन हमें सूचित करेंगे तो हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ होंगे।

एक बात और। संयोग की कमी से इस ग्रन्थ के प्रूफ़ देखने का अवसर हमें न मिल सका। शुरू से अन्त तक इसके सब प्रूफ़ दूसरे हाथों में देखे गये। अतएव इसमें प्रूफ़ सम्बन्धी सैकड़ों भूलें रह गई हैं। कहीं कहीं तो अर्थ का अनर्थ होगया है "सभ्य" की जगह "असभ्य" "स्वाभाविक" की जगह "अस्वाभाविक" "विकार शील" की जगह "विचार शील" इत्यादि सैकड़ों भद्दी और अक्षम्य भूलें रह गई हैं जिनकी वजह से कहीं-कहीं तो पाठकों के गहरे भ्रम में पड़जाने का

भी भय है। ऐसी कुछ कुछ प्रधान प्रधान अशुद्धियों के लिए पुस्तक के अन्त में शुद्धि-पत्र दिया है। हम प्रत्येक पाठक से अत्यन्त नम्रता पूर्वक विनय करते हैं कि ग्रन्थ पढ़ने के पूर्व इस शुद्धि पत्र के अनुसार वे पुस्तक का अवश्य संशोधन करलें।

भानपुरा
दीपावलि १९८४

विनीत —
चन्द्रराज भण्डारी

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

विषय पृष्ठ

समाज-रचना

प्रथम अध्याय १९–२५

पूर्वाभास

दूसरा अध्याय २६–५३

समाज-रचना का पूर्व इतिहास

जगली समाज, कौटुम्बिक समाज, कौटुम्बिक समाज की व्यवस्था, कौटुम्बिक समाज का धार्मिक जीवन, कृषि कार्य्य का प्रारम्भ, कृषि का समाज-रचना पर प्रभाव।

तीसरा अध्याय ५४–८७

समाज-रचना का तात्त्विक स्वरूप

वर्ण व्यवस्था, प्लेटो की सामाजिक व्यवस्था, कैण्ट की विचार-पद्धति, साम्यवादियों की विचार-धारा, उपर्युक्त चारों पद्धतियों की आलोचना और भिन्न भिन्न शास्त्रों की दृष्टि से उनका विश्लेषण।

चौथा अध्याय ८८–११३

समाज में पुरुष और स्त्री का स्थान

भारतीय समाज में स्त्रियों का स्थान, यूरोपीय समाज में स्त्री का स्थान, इंजील में स्त्री का स्थान, अरबी समाज में स्त्रियों का स्थान, शरीर-शास्त्र, मानस-शास्त्र और समाजशास्त्र की दृष्टि से स्त्री और पुरुष के अधिकारों का विश्लेषण।

पांचवा अध्याय ११४–१२२

जीवन-विभाग—आश्रम-पद्धति

आश्रम-पद्धति की उपयोगिता और समाज पर उसका

विषय — पृष्ठ

मङ्गलमय परिणाम, ब्रह्मचर्य्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वान-प्रस्थाश्रम, सन्यास, प्लेटो की आश्रम-व्यवस्था। आश्रम व्यवस्था की आलोचना।

छठा अध्याय — १२३-१५२

विवाह

विवाह का मनोवैज्ञानिक उद्देश्य, विवाह का व्यक्तिगत उद्देश्य, विवाह का सामाजिक उद्देश्य, भारतीय विवाह-पद्धतियां और उनकी आलोचना, यूरोपीय विवाह पद्धतियां, प्लेटो की योजना और उसकी आलोचना, रोमन विवाह पद्धतियां और उनकी आलोचना, ईसाई विवाह-पद्धति और उसकी आलोचना, धर्मनीति और विवाह-प्रणाली, सफल विवाह-पद्धति का स्वरूप, तलाक-प्रथा और उसकी आलोचना।

सातवां अध्याय — १५२-१६७

सन्तान

उत्तम सन्तान की आवश्यकता, उत्तम सन्तान के लिए विवाह-पद्धति की उत्तमता, अधिजनन-शास्त्र के अनुसार दाय संस्कारों का वर्णन, पाश्चात्य अधिजनन-शास्त्र (Eugenics) का मत, सन्तान-पालन, सन्तान-शिक्षा, शिक्षा-शैली।

दूसरा खण्ड

(सत्ता)

प्रथम अध्याय — १७१-१८२

सत्ता

समाज में सत्ता के उदय का मनोवैज्ञानिक विवेचन सत्ता के प्रकार, समाज-सत्ता धर्म-सत्ता और राज-सत्ता का विवेचन, इन तीनों सत्ताओं के सात्विक और

विषय पृष्ठ

तामसिक रूप से होने वाले सामाजिक इष्ट और अनिष्ट का वर्णन ।

दूसरा अध्याय १८३-२१८

राज्य

यूरोपियन राज्य-कल्पना का विकास, अरस्तू की विचार-पद्धति, एपीक्यूरियन पद्धति का वर्णन, स्टोइक-विचार-पद्धति, मैकियावेली, जीनबोदी, रिचर्डहूकर, थामस हॉब्स, जॉन लॉक, और रूसो की विचार पद्धतियों का विवेचन, भारतीय राज्य-कल्पना का विकास, इकरार सिद्धान्त का विवेचन, राजा के चुनाव के सम्बन्ध में वेदों का मत, महाभारत में राज्य सम्बन्धी विचार, राजतंत्र, प्रतिनिधितंत्र और प्रजातंत्र इन तीनों पद्धतियों का विवेचन, इनके सम्बन्ध में भिन्न भिन्न विद्वानों के मत, उनकी आलोचना, उत्तम राज्य पद्धति का स्वरूप ।

तीसरा अध्याय २१९-२२९

व्यक्तिवाद, अराजकवाद, और बोल्शेविज्म,

व्यक्तिवाद का विवेचन, ज्यूलियस साईमन, हर्बर्ट स्पेन्सर इत्यादि विद्वानों की उपपत्तियां, अराजकवाद का विवेचन, बाकुनिन, और प्रिन्स क्रोपाट्किन की विचार-पद्धतियां, कम्यूनिज्म और बोल्शेविज्म का विवेचन, कार्ल मार्क्स और लेनिन की विचार-पद्धतियां ।

चौथा अध्याय २३०-२३४

न्याय और कानून

न्याय और कानून के बीच उत्पन्न हुए वैषम्य का विवेचन, इससे होने वाले सामाजिक अनिष्ट का वर्णन ।

विषय | पृष्ठ

पांचवा अध्याय २३५-२४२

दण्ड-विधान

साम, दाम, दण्ड और भेद नीति का विवेचन, दण्ड नीति की असफलता और उसका समाज पर प्रभाव।

तीसरा खण्ड

(धर्म)

प्रथम अध्याय २४५-२४९

धर्म

धर्म की उत्पत्ति का वैज्ञानिक विवेचन।

दूसरा अध्याय २५०-२५२

अनेक देववाद

मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, और नैतिक दृष्टि से इस धर्म की परीक्षा।

तीसरा अध्याय २५३-२७९

एकेश्वरवाद, कर्माडम्बर और धर्मान्धता

ईश्वर की कल्पना और मानव-बुद्धि की अपूर्णता, ईश्वर-वाद के समर्थकों की उपपत्तियों का विवेचन और इनकी आलोचना, ईश्वर की अपूर्ण कल्पना से होने वाले सामाजिक और नैतिक अनिष्टों का विवेचन। इन्क्वीज़िशन अदालत के रोमांचकारी अत्याचारों का चित्रण।

चौथा अध्याय २८०-२८२

दर्शन प्रणीत अध्यात्मवाद

धर्म विज्ञान, नीति विज्ञान और समाज विज्ञान की दृष्टि से इस धर्म की परीक्षा और आलोचना।

विषय पृष्ठ

पांचवा अध्याय २८३-२८८

धर्म कैसा हो!

विश्वव्यापी धर्म में होने वाली विशेषताओं का विवेचन।

छठा अध्याय २८६-३०१

सदाचार

सदाचार का वैज्ञानिक विवेचन, और उसमें पाये जाने वाले अपवादों का वर्णन।

चौथा खण्ड

(सम्पत्ति)

पहला अध्याय ३०५-३१०

सम्पत्ति की उत्पत्ति

सम्पत्ति की भावनाओं के उत्पन्न होने के वैज्ञानिक कारण, सम्पत्ति-शास्त्र को शास्त्रीय रूप न मिलने का कारण।

दूसरा अध्याय ३११-३१७

सम्पत्ति का स्वरूप, सम्पत्ति को उत्पन्न करने के साधन।

तीसरा अध्याय ३१८-३२५

समाज में सम्पत्ति का स्थान

सम्पत्ति के अभाव और प्रभाव से होने वाले सामाजिक अनिष्ट।

चौथा अध्याय ३२६-३४०

सम्पत्ति की वृद्धि,

कृषि, पशु-पालन, सहकारी बैंक।

पाँचवा अध्याय ३४१-३४८

व्यापार,

व्यापार-नीति की सफलता, साख, वचन की पाबन्दी, व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा, प्रचार के तरीके।

विषय | पृष्ठ

छठा अध्याय ३४९–३५२

सम्पत्ति का वितरण

सातवां अध्याय ३५३–३६३

व्यक्ति, सम्पत्ति और समाज

सम्पत्ति पर व्यक्ति के अधिकार की मर्यादा, सम्पत्ति पर समाज के अधिकार की मर्यादा, उत्तराधिकार-प्रथा का विवेचन।

पांचवा खंड

(साहित्य)

पहला अध्याय ३६७–३७१

साहित्य

समाज-उन्नति के लिए साहित्य की आवश्यकता, साहित्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन, साहित्य के भेद।

दूसरा अध्याय ३७२–३७९

इतिहास

समाज में इतिहास-शास्त्र का जन्म, इतिहास की आवश्यकता, इतिहास के भेद।

तीसरा अध्याय ३८०–३९०

भौतिक विज्ञान

भौतिक विज्ञान की उत्पत्ति और समाज पर उसका महत्वपूर्ण परिणाम।

चौथा अध्याय ३९१–३९६

मानस-शास्त्र

मानस-शास्त्र का उदय और समाज पर उसका प्रभाव।

पांचवां अध्याय ३९७–४०२

धर्मशास्त्र

दर्शनशास्त्र और पुराणों का विवेचन और समाज पर उनसे घटने वाले इष्टानिष्टों का वर्णन।

विषय पृष्ठ

छठा अध्याय ४०३–४१२

काव्य

काव्य की उत्पत्ति और सामाजिक हिताहित से उसका सम्बन्ध ।

सातवाँ अध्याय ४१३–४२२

नाटक और उपन्यास

आदर्शवादी और प्रकृतवादी विचारकों की विचार-पद्धतियाँ और उनकी आलोचना ।

आठवाँ अध्याय ४२२–४२५

समाचार-पत्र

समाचारपत्रों की आवश्यकता और समाज पर उनका प्रभाव ।

छठा खंड

(स्वाधीनता)

प्रथम अध्याय ४२६–४३३

स्वाधीनता का विवेचन

दूसरा अध्याय ४३३–४४९

व्यक्ति पर समाज के अधिकार की मर्यादा, प्रत्येक व्यक्ति के जन्म-सिद्ध अधिकार ।

तीसरा अध्याय ४५०–४५८

विचार-स्वाधीनता

विचार स्वातन्त्र्य पर राज्य और समाज के प्रतिबन्ध की मर्यादा, जॉन स्टुअर्ट मिल की विचार-पद्धति ।

चौथा अध्याय ४५९–४६६

धार्मिक स्वाधीनता का विवेचन ।

पाँचवां अध्याय ४६७–४७५

आर्थिक स्वाधीनता और उसका विवेचन ।

छठा अध्याय ४७६–४७७

राजनैतिक स्वाधीनता और उसका विवेचन ।

उत्तरार्ध

विषय पृष्ठ

सामाजिक रोग, निदान और चिकित्सा

पहला खंड

समष्टिगत असङ्गठन

प्रथम अध्याय ४८१–४९२

(१) जाति-पांति (२) छुआछूत।

दूसरा अध्याय ४९३–४९९

धार्मिक मतभेद।

तीसरा अध्याय ५००–५१८

समष्टिगत-प्रेमाभाव, गृहकलह, विधवा-वृद्धि, व्यभिचार और दुर्बल सन्तान—कारण, स्त्री के अधिकारों का वैषम्य और विवाह-पद्धति की भ्रष्टता।

चौथा अध्याय ५१९–५२९

समष्टि-गत प्रारब्धवाद, तामस, अकर्मण्यता और जड़ता—कारण, अपूर्ण ईश्वरवाद, मजहबवाद और अनेक देववाद, चिकित्सा-आनन्दमय धर्म और भौतिक विज्ञान का प्रचार।

पाँचवाँ अध्याय ५३०–५३३

असाध्य निदान

दूसरा खंड

क्रान्ति

पहला अध्याय ५३७–५४९

क्रान्ति का वैज्ञानिक विवेचन।

दूसरा अध्याय ५५०–५५९

क्रान्ति के साधन।

तीसरा अध्याय ५५९–५६४

सशस्त्र क्रान्ति।

समाज-विज्ञान

(प्रथम खण्ड)

समाज-रचना

" जो समाज-रचना साम्य-तत्व को प्रधान रूप से लक्ष्य में रख कर अपनी व्यवस्था को निर्द्धारित करती है, जो समाज-रचना महत्ता को जन्म का आश्रय न देकर गुण और कर्म का आश्रय देती है, जो समाज रचना मनुष्य और मनुष्य में एकता की भावना की वृद्धि करते हुए उसे स्वाधीनता के अधिकाधिक समीप ले जाती है, समाज-नीति की दृष्टि से वही समाज-रचना श्रेष्ठ है।"

ग्रन्थकार

पहला अध्याय

पूर्वाभास

मनुष्य-जगत् प्रकृति की रचना का सब से उत्कृष्ट नमूना है। प्रकृति ने मनुष्य-प्राणी की बनावट में अपनी कारीगरी का कमाल कर दिया है। संसार के बड़े से बड़े दार्शनिक और विज्ञान-वेत्ता भी प्रकृति की इस बनावट का रहस्य-भेद करने में असफल रहे हैं। जब हम सूक्ष्म दृष्टि से मनुष्य-जगत् की रचना पर दृष्टि-पात करते हैं, तो आश्चर्य चकित होकर रह जाना पड़ता है। हमें भिन्न २ प्रकार की विभिन्न प्रकृतियों के दर्शन इस जगत् में एक साथ ही होते हैं। एक ओर हमें स्वर्ग के सब से सुंदर और पुनीत दृश्य अभिनीत होते हुए दिखाई देते हैं, दूसरी ओर नरक के सब से बीभत्स और अत्यन्त भीषण दृश्य देखने को मिलते हैं। एक ओर हम करुणा, प्रेम, उदारता, क्षमा और सहानुभूति के शत-सहस्र मुखी झरनों का कलकल नाद सुनते हैं, तो दूसरी ओर प्रतिहिंसा, रक्त-पिपासा, विश्वास-घात और जीवन-संग्राम की प्रचण्ड भीषण ज्वाला को धधकती हुई देखते हैं। एक ओर स्वाधीनता की वीणा का सुंदर संगीत सुन कर हमारे कान ठण्ढे होते हैं, तो दूसरी ओर गुलामी का प्रचण्ड हाहाकार हमें सन्तप्त कर देता है। मतलब यह कि प्रकृति ने मनुष्य-प्राणी को विरोधी प्रवृत्तियों की एक प्रदर्शिनी बना दिया है। उसके अन्तर्गत उसने एक ऐसा युद्ध रच दिया है, जिसका कभी अन्त नहीं

हो सकता जो अमर है। यह अविरल-घात-प्रतिघात ही मनुष्य-प्राणी की विशेषता है। यही उसका सौन्दर्य्य है। इसीके अन्दर से दुनिया के तमाम शास्त्रों की, तमाम विशेष घटनाओं, और तमाम ज्ञान की सृष्टि होती है। जिस रोज यह निरन्तर चलने वाला आघात-प्रतिघात, यह अनन्त युद्ध बन्द हो जायगा उसी दिन मनुष्य-समाज का अन्त हो जायगा।

समाज-शास्त्र भी मनुष्य की दो विरोधी प्रवृत्तियों के संघर्ष से उत्पन्न हुआ है। प्रकृति ने दो विरोधी प्रवृत्तियों को बड़ी ही खूबी के साथ मनुष्य-प्राणी के अन्दर एक दूसरे के सम्मुख खड़ी कर दिया है। एक तो है उसकी "सामाजिक प्रवृत्ति"। इसकी वजह से मनुष्य चेष्टा करने पर भी अकेला नहीं रह सकता। वह उसे दूसरे मनुष्यों के साथ समाज बना कर रहने के लिए प्रेरित करती है दूसरी वृत्ति है उसकी "स्वार्थ-भावना" जो भावना मनुष्य को समाज में रहने के अयोग्य बना देती है। इसका वशवर्ती होकर मनुष्य अपने ही समाज के लोगों का अनिष्ट करने पर उतारू हो जाता है। एक ओर तो सामाजिक विवेक की प्रवृत्ति उसे महल के सोपान पर चढ़ाना चाहती है, तहां दूसरी ओर स्वार्थमयी तृष्णा उसे नीचता के गढ़े में ढकेलना चाहती है। यह युद्ध मनुष्य प्राणी के अन्तर्गत निरन्तर चलता रहता है।

इसी द्वन्द्व युद्ध पर संयम रखने एवं मनुष्य प्राणी को उच्छृ-ङ्खल न होने देने तथा उसकी सामाजिक प्रवृत्ति की रक्षा करने के लिए समाज-रचना की और इस संबंध के नियमों की उत्पत्ति होती है। इन नियमों को शास्त्र का रूप तो मनुष्य-जाति का विकास होने के पश्चात् ही मिलता है। यद्यपि वे प्रचलित हो जाते हैं मनुष्य

जाति के आदिम काल ही से, जब से कि मनुष्य समूह रूप में रहने लगता है। बिना इन नियमों के मनुष्य अपनी रक्षा नहीं कर सकता। इसलिए यदि यह कहा जाय तो जरा भी अत्युक्ति न होगी कि समाज-शास्त्र ही वह सब से पहला और प्राचीन शास्त्र है, जिसका उपयोग मनुष्य-समाज अपने प्रारम्भ काल से करता आया है, और जिसके बिना वह एक घड़ी भर भी जीवित नहीं रह सकता। यही वह शास्त्र है जिसकी जड़ से आगे चल कर राजनीति, इतिहासशास्त्र, तत्त्वज्ञान, आदि भिन्न भिन्न प्रकार की शाखाएं फूटती हैं।

इस शास्त्र के द्वारा मनुष्य अपनी कुटिल और स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियों को संयत करना सीखता है; इस शास्त्र के द्वारा मनुष्य यह सीखता है कि समाज में किस तरह रहा जाय, समाजोपयोगी सत् प्रवृत्तियों का विकास कैसे किया जाय।

समाज-शास्त्र की उत्पत्ति जितनी प्राचीन और गहन है उतनी ही उसकी व्याप्ति भी विशाल है। मानव-समाज के तमाम व्यापारों का इसमें समावेश हो जाता है। धर्म, राजनीति, समाज-रचना, नीति-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, भौतिक-शास्त्र आदि तमाम विषयों का अन्तर्भाव समाज-शास्त्र में होता है। समाज-शास्त्र का काम है इन सब शास्त्रों के पारस्परिक संबंध को और इनके उत्कर्ष तथा अपकर्ष से मानव-समाज में होने वाले परिवर्तनों का दिग्दर्शन कराना।

समाज-शास्त्र के अन्तर्गत दुनिया के सभी शास्त्रों का प्रधान अथवा गौण रूप से समावेश हो जाता है। यह शास्त्र उन नियमों और विधानों का दिग्दर्शन करवाता है जिनके अनुसार चलकर

विविध विचार, रुचि और स्वभाव वाला मनुष्य-प्राणी एक सर्व सामान्य भूमि पर आ जाता है; और वह सुख, शान्ति और स्वाधीनता के साथ अपनी गति-विधि कर सकता है। समाज-शास्त्र अपने नियमों के द्वारा मनुष्य की कुप्रवृत्तियों पर संयम करके उसकी सत्प्रवृत्तियों के विकास में सहायता पहुँचाता है। अतः मानव-जाति का प्रारम्भ-काल इस शास्त्र का प्रारम्भ-काल है, और ज्यों ज्यों मनुष्य अपना विकास करता जायगा यह बराबर इसी तरह अधिकाधिक पूर्णता को पहुँचता जायगा। हाँ, शास्त्र का रूप इसे आरम्भ से नहीं मिला। हमें यह देखना चाहिए कि यह व्यवस्थित रूप इसे कब प्राप्त हुआ।

इतिहास के पाठकों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि संसार में सभ्यता का विकास सब से पहले भारत में और उसके पश्चात् मिश्र, ग्रीस, रोम आदि देशों में हुआ है। अतः समाज शास्त्र की उत्पत्ति देखने के लिए हमें सब से पहले इन्हीं देशों के साहित्य को टटोलना होगा।

सब से पहले भारतवर्ष के साहित्य पर दृष्टिपात करना उचित होगा। इस साहित्य में हमें समाज-शास्त्र या इसी भाव को प्रदर्शन करने वाले नाम पर कोई विशिष्ट शास्त्र या ग्रन्थ देखने को नहीं मिलता। पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ के लोगों में इस सम्बन्ध की कल्पना भी उत्पन्न न हुई थी। हम तो यहाँ तक कहने का साहस कर सकते हैं कि समाज-शास्त्र नामक कोई विशिष्ट शास्त्र का अस्तित्त्व न होने पर भी यहाँ के विद्वानों ने इस शास्त्र सम्बन्धी कल्पना में अपनी पराकाष्ठा बतला दी थी।

सब से पहले तो हमें हमारे वेदों में समाज-शास्त्र सम्बन्धी

बहुत सी ऋचाओं के दर्शन होते हैं, जिनमें वर्णाश्रम पद्धति आदि के विधान भी हमें देखने को मिलते हैं।

पर इनमें इस शास्त्र का व्यवस्थित रूप हमें नहीं मिलता। इस शास्त्र को सब से पहले व्यवास्थित रूप देने वाले हमारे देश में महर्षि मनु हुए। इनकी बनाई हुई स्मृति को यदि हम समाज-विज्ञान का उत्कृष्ट ग्रन्थ कहें तो अत्युक्ति न होगी। इस स्मृति में समाज शास्त्र के बहुत से सूक्ष्म तत्त्वों का वर्णन किया गया है। वर्णव्यवस्था, विवाह-पद्धति, राज्यसत्ता आदि सभी विषयों का इसमें उल्लेख है। यह बात दूसरी है कि समय का परिवर्तन हो जाने से आजकल के समाज-विज्ञान-वादियों का उनसे गहरा मत-भेद हो। पर यह मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि मनुस्मृति समाज-विज्ञान सम्बन्धी बहुत से तत्वों की गम्भीर खोज का परिणाम है।

मनु के अतिरिक्त पाराशर आदि सत्रह स्मृतिकार इस देश में और हुए। इनकी स्मृतियों में भी समाज-शास्त्र के बहुत से तत्त्वों की छान बीन की गई हैं। समाज-शास्त्र सम्बन्धी इतनी गहरी छान बीन होने पर भी हमारे प्राचीन साहित्य में हमें इस विषय की एक भी स्वतन्त्र पुस्तक देखने को नहीं मिलती। इसका प्रधान कारण यह है कि इस देश के ऋषि और महर्षियों ने, विद्वान् और मनीषियों ने प्रत्येक विषय को धर्म की ही एक शाखा मान कर उसका विवेचन किया है। उन लोगों की बतलाई हुई प्रत्येक बात में हमें धर्म की झलक दिखलाई देगी। इन लोगों ने समाज-विज्ञान को भी धर्म का एक अङ्ग बना कर उसका सम्बन्ध इस लोक की अपेक्षा परलोक से अधिक कर दिया। और इसी

कारण उन्होंने इस विषय को स्वतन्त्र रूप से न रख कर स्मृति के रूप में रक्खा। उनके इस कार्य्य का नैतिक परिणाम अच्छा हुआ या बुरा इसका विवेचन हम आगे चल कर करेंगे।

ग्रीस की सभ्यता भारतवर्ष की अपेक्षा कुछ नवीन होने पर भी अन्य देशों की अपेक्षा बहुत प्राचीन है। ग्रीस की सभ्यता का जन्मदाता इस समय खास करके पायथागोरस माना जाता है। यह तत्त्वज्ञानी ईसा से करीब छः सौ वर्ष पूर्व हुआ। इसने भी समाज-शास्त्र के सम्बन्ध में बहुत से विधानों की रचना की। पर इस शास्त्र को पूर्ण विकसित रूप देने वाला ग्रीस में महान तत्त्वज्ञानी प्लेटो हुआ। इसने अपने "रिपब्लिक" नामक ग्रन्थ में समाज-विज्ञान सम्बन्धी सूक्ष्म बातों की विवेचना की। आज भी वह "रिपब्लिक" नामक ग्रन्थ दुनिया के साहित्य में एक अपूर्व वस्तु है। इस ग्रन्थ में उसने वर्ण-व्यवस्था, विवाह-पद्धति एक-कुटुम्ब-पद्धति, एक-राष्ट्र-पद्धति, पुरुष और स्त्री के अधिकार, राष्ट्र की सम्पत्ति आदि सभी विषयों पर बड़ा बढ़िया विवेचन किया है।

प्लेटो के पश्चात् इस विषय की चर्चा उसके शिष्य एरिस्टोटल ने अपने "पॉलिटिक्स" नामक ग्रन्थ में की थी। इस ग्रन्थ में राजनीति का विशद विवेचन है। फिर भी समाज-नीति संबन्धी कई ऐसे तत्व जो रिपब्लिक में देखने को नहीं मिलते इस ग्रंथ में मिल जाते हैं।

ग्रीस ही की तरह चीन में कनफ्यूशस ने और ईरान में जोरोस्टर ने समाज-शास्त्र सम्बन्धी बहुतसे तत्वों की मीमांसा की थी।

यूरोप की आधुनिक सभ्यता बहुत नवीन है। सत्रहवीं सदी

के पूर्व वहाँ पर समाज-शास्त्र की कोई भी शास्त्रीय कल्पना न थी सब से पहले ऑगस्ट कैण्ट नामक फ्रेंच दार्शनिक ने समाज की विस्तृत व्याप्ति का संकलित स्वरूप ध्यान में लेकर इस विषय पर सब से पहले "पॉजिटिव्ह फ़िलासफ़ी" नामक ग्रंथ की रचना की। कैण्ट का जन्म सन् १७९८ की दूसरी जनवरी को फ्रांस के एक ग्राम में हुआ था। इस तत्वज्ञानी के पूर्व तर्क-शास्त्र की पद्धति से समाज की चिकित्सा किसी ने नहीं की थी। "सोशियालॉजी' अर्थात् समाज-शास्त्र शब्द का सब से पहले प्रयोग करने वाला लेखक कैण्ट ही था। इसी के समकालीन जेम्स स्टुअर्ट मिल नामक ग्रंथकार ने भी इस विषय पर विवेचन किया था। पर उसे उस विषय के उपयुक्त कोई नाम न मिला; अतः उसे "सोशल एकॉनमी कहकर उसने अपने विषय को स्पष्ट किया।

इसके पश्चात् तो इस विषय पर बहुत गंभीर विवेचन आरंभ हो गया। और अब यूरोपीय साहित्य में समाज-शास्त्र पर सैकड़ों किताबें निकल गईं और निकलती जा रही हैं। इस प्रकार क्रमागत विकास करते करते समाज-शास्त्र इस विकसित स्थिति को प्राप्त हुआ है।

दूसरा अध्याय

समाज-रचना का पूर्व इतिहास

जगत् के प्राचीन इतिहास को देखने से पता चलता है कि मनुष्य-जाति की आदिम अवस्था में उसे समाज-रचना का ज्ञान न था। लोग जंगलों में रहते थे, और शिकार के द्वारा अपना पेट भरते थे। मनुष्य और मनुष्य के बीच के पारस्परिक सम्बन्ध का तथा विवाह-शादी, खेती, पशु-पालन का उन्हें भान भी न था। धीरे धीरे क्रमशः ज्यों ज्यों उनका अनुभव बढ़ता गया, और ज्यों ज्यों उन्हें जीवन में कठिनाइयाँ मालूम होती गईं त्यों त्यों समाज-रचना की कल्पना का उगम होने लगा, और क्रमागत विकास होते होते समाज रचना को यह रूप मिला। समाज-रचना के क्रम-विकास का यह इतिहास बड़ा ही मनोरंजक है। इसके अतिरिक्त इस इतिहास में से समाज-विज्ञान सम्बन्धी बहुत से बहुमूल्य तत्वों का पता भी चलता है। अतः यहाँ पर संक्षिप्त में उसका विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक होगा।

समाज-रचना का जो स्वरूप हमें आज देखने को मिलता है यह उसकी बहुत ऊँची और विकसित अवस्था है। कई निम्न अवस्थाओं को पार करने के पश्चात उसे यह रूप मिला है। एक प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् ने इन अवस्थाओं को तीन भागों में विभक्त कर दिया है। उनका कथन है कि तीन अवस्थाओं को पार करने के पश्चात समाज-रचना को आधुनिक स्वरूप प्राप्त हुआ है। उन

तीन अवस्थाओं में सबसे पहली अवस्था "जंगली समाज" है। जंगली समाज का विकास होते होते उसे कौटुम्बिक समाज की दूसरी अवस्था प्राप्त होती है। कौटुम्बिक समाज का विकास राजकीय समाज की तीसरी अवस्था में होता है और उसके पश्चात् आज की स्थिति प्राप्त होती है। अब हमें क्रम से यह देखने का प्रयत्न करना चाहिए कि यह विकास किस प्रकार होता है।

जंगली समाज

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य-जाति इस समय सभ्यता के बहुत ऊँचे शिखर पर पहुँच गई है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की वृद्धि और व्यापार तथा राजनीति के गम्भीर असर से उसका कायापलट हो गया है। उसके वर्तमान रूप को देख कर उसके पूर्व रूप की कल्पना करना भी आज असम्भव सा प्रतीत होता है। फिर भी संसार में अब तक बहुतसा जन-समाज ऐसा है, जिस पर इस सभ्यता का रंचमात्र भी असर नहीं पड़ा है और जो इस विकसित काल में भी अपनी आदिम अवस्था में ही जीवन-यापन कर रहा है। संसार में बहुतसी जातियाँ अब भी ऐसी हैं जो वल्कल (वृक्षों की छाल) पहन कर, तथा जंगली जानवरों का मांस खाकर अपना जीवन व्यतीत कर रही हैं; जिन्हें न कृषि कर्म का ज्ञान है न पशु-पालन का अभ्यास; जो न विवाह-शादी की रस्म को समझते हैं, और न समाज-रचना के अन्य किसी सिद्धान्त को; जिन पर सभ्यता की एक सूक्ष्म किरण भी अब तक न पड़ने पाई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसी जातियों की संख्या दिन प्रतिदिन घटती जा रही है और यह

भी सम्भव है कि कुछ समय के पश्चात् वे उस अवस्था को पार कर जायँ और संसार में हमें एक भी जाति इस जंगली अवस्था में न दिखाई दे। पर इस समय कम से कम विद्वानों को प्राचीन समाज का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए उनका अस्तित्व अवश्य शेष है। इन जातियों में अन्दमान में बसने वाली जातियाँ, मद्रास की पहाड़ी जातियाँ, उड़ीसा की जुआंग जाति, लंका की वेड्डा जाति, आफ्रिका की बुशमेन्न और अक्का जाति, मध्य-अमेरिका की केरब जाति, दक्षिण अमेरिका की ब्राभ्किलियन जाति इत्यादि जातियों के लोग सम्मिलित हैं। वॉनडीमेन्स लैण्ड की "तास्मानियन" जाति इस समय बिलकुल नष्ट हो गई है। यह जाति जंगली समाज का सबसे बढ़िया उदाहरण थी। अब इस समय आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों की जाति इस समाज का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। इसका कारण यह है कि अभी तक उन लोगों का दूसरी जातियों के साथ बिलकुल संसर्ग नहीं हुआ है। इन लोगों के सामाजिक जीवन के अभ्यास से प्राचीन जंगली समाज की रचना का बहुत कुछ वास्तविक ज्ञान होता है।

जंगली जातियों के इन लोगों के जीवन को देखने से पता चलता है कि इन लोगों को कृषि और पशु-पालन का बिलकुल ज्ञान नहीं है, कुत्तों के सिवाय दूसरे जानवरों को ये लोग पालना ही नहीं जानते। इनके मकान हैं वृत्तों की टहनियों के बने घोंसले नुमा झोपड़ियां। ये प्रायः गुफाओं में और बड़े-बड़े पत्थरों पर पत्तों की छाया करके रहते हैं। इन्हें पता नहीं कि पहाड़ी वनस्पति और जंगली जानवरों के मांस के सिवाय दुनिया में और भी खाने योग्य दूसरी चीजें हैं। फिर धातु को गला कर उसके

हथियार बनाने की कल्पना तो इन्हें हो ही कैसे सकती है। सामान्यतया ये लोग नग्न ही रहते हैं। हाँ, किसी खास धार्मिक क्रिया के अवसर पर ये वृक्ष की छाल से अपने गुह्य अंगों को ढक लेते हैं। और इस तरह यह कङ्गाल और क्षुधातुर जीवन ये सहस्रों युगों से व्यतीत करते आ रहे हैं। आस्ट्रेलिया के निवासी और वहाँ के जंगल इतने प्राचीन हैं कि जिनके मुक़ाबिले में दुनिया के किसी हिस्से में दूसरी प्राचीन वस्तु नहीं मिल सकती।

प्रकृति का अध्ययन करने वालों को वहाँ के जंगलों और नदियों में बहुतसी ऐसी ऐसी वस्तुएं देखने को मिलती हैं जो पृथ्वी के अन्य भागों में बहुत दीर्घ काल के पूर्व ही नष्ट हो चुकी हैं। इसका कारण यह है कि भूतकाल में आस्ट्रेलिया का दुनिया के दूसरे देशों के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा। तीन सदी के पूर्व इस देश का पता भी दुनिया के लोगों को न था। इससे हम सहज ही समझ सकते हैं कि यहाँ के जंगली लोग हज़ारों वर्षों से एकान्त जीवन का भोग कर रहे हैं। दुनिया के साथ संसर्ग न होने के कारण ही उनके द्वारा दुनिया के विद्वानों को मनुष्य जाति की एक प्राचीन और विशिष्ट अवस्था का प्रामाणिक पता लग रहा है।

इन लोगों के रहन-सहन से तथा इतिहास की दूसरी सामग्री से जो अनुमान निकाला गया है उससे पता चलता है कि प्राचीन काल के जंगली लोग आपस में समूह बाँध कर रहते थे (जैसा कि आस्ट्रेलिया के मूल निवासी अब भी रहते हैं) यहाँ पर समूह शब्द से कोई यह न समझे कि समूह सगे-सम्बन्धियों के होते थे। मनुष्य की प्रगति में एक समय ऐसा अवश्य आता है, जिसमें एक

समूह के लोग अपने को एक ही पुरुष के वंशज बतलाते हैं पर यह अवस्था आगे की है। जंगली समाज में ऐसी कोई कल्पना न थी। इनका समूह खास करके शिकार करने के लिए, तथा दूसरे छोटे बड़े कार्य्य के लिए एकत्रित होने वाले एक मण्डल की तरह होता था। इस प्रकार के समूह-बद्ध लोग शिकार करके उसे आपस में बाँट लेते थे और स्वाभाविक रूप से एक साथ ही रहा करते थे।

आस्ट्रेलिया के इन समूहों में प्रत्येक समूह के लोगों पर किसी विशिष्ट प्रकार के वृक्ष या पशु का सांकेतिक चिन्ह रहता है। इस चिन्ह को वे लोग "टॉटेम" कहते हैं। इन भिन्न भिन्न सांकेतिक चिन्हों से वहाँ के लोग भिन्न भिन्न समूहों में पहचाने जाते हैं। बस यही चिन्ह उनकी समाज-रचना का खास नमूना है। इस प्रकार के समूह वाले लोग आपस में विवाह-शादी नहीं करते। उदाहरणार्थ "सांप" के निशान वाला युवक सांप के निशान वाली युवती से विवाह नहीं कर सकता। इसी प्रकार वृक्ष के निशान वाली युवती उसी निशान वाले युवक से विवाह नहीं कर सकती। जंगली समाज-व्यवस्था का यह पहला नियम है। इस नियम की उत्पत्ति कैसे हुई यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता फिर भी यह तो निश्चित है कि निकटवर्ती लोगों से सम्बन्ध न करना यही इसका प्रधान हेतु है। जंगली लोग किसी विशेष सिद्धान्त पर अपने नियम चाहे न बना सकते हों; पर वास्तविक घटनाओं का निरीक्षण करने की शक्ति तो उनमें स्वाभाविक रूप से रहती है। सम्भव है निकटवर्ती सम्बन्धों से होने वाली हानि का उन्हें भान हुआ हो और उसी पर से उन्होंने इस नियम की रचना की हो।

इस नियम का दूसरा भाग और भी अधिक आश्चर्यकारक है। इन लोगों के नियमानुसार यदि एक निशान वाले युवक के साथ दूसरे निशान वाली युवती का सम्बन्ध हो जाय, तो उस निशान वाले समूह की कुल कन्याएँ उस युवक के समूह की पत्नियाँ समझी जायँगी। उदाहरणार्थ साँप के निशान वाले तमाम पुरुष वृक्ष के निशान वाली तमाम कन्याओं के पति समझे जायँगे इससे यह न समझना चाहिए कि प्रत्येक पुरुष सभी स्त्रियों के साथ या प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषों के साथ अनिवार्य रूप से सम्बन्ध करती ही होगी। इस नियम के रहते भी इस समाज के पुरुष एक या दो स्त्रियों से अधिक के साथ सम्बन्ध नहीं करते। फिर भी इस बात की वहाँ स्वाधीनता है कि उस समूह का कोई भी पुरुष उस समूह की किसी भी स्त्री के साथ अपना सम्बन्ध जमा सकता है। ऐसा करना उन लोगों में पाप नहीं समझा जाता। इसी प्रकार की घटनाओं को देखकर पहले के पादरी समाज ने इन लोगों की ओर से घृणा के साथ मुंह फेर लिया था और इसी कारण सामाजिक इतिहास के इस बहुमूल्य अनुभव से वे लोग अनभिज्ञ रहे थे।

लग्न की इस प्रथा से जंगली समाज में कोई भी पुरुष या स्त्री अविवाहित नहीं रह सकता। दो समूहों में लग्न हो जाने के पश्चात् उस समूह की तमाम अविवाहित स्त्रियाँ दूसरे समूह के अविवाहित पुरुषों की पत्नियाँ हो जाती हैं। उनसे उत्पन्न होनेवाली संतानें सब की संतानें समझी जाती हैं। इसी प्रकार अपने सांकेतिक चिन्ह वाले तमाम स्त्री पुरुष भाई बहन के समान और माता के सांकेतिक चिन्हवाले तमाम स्त्री पुरुष उनके माता-पिता

के समान समझे जाते हैं। इस प्रकार माता, पिता, भाई, बहन बालक और पत्नियां ये सब एक सम्बन्ध में हो जाते हैं। यह पद्धति बड़ी विचित्र मालूम होती है, पर बहुतसी जातियों में यह अब भी प्रचलित हैं।

एक सांकेतिक चिन्ह वाले लोगों में आपस में विवाह की रुकावट के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के विशेष सम्बन्ध होते हैं। इस प्रकार के समूह का प्रत्येक मनुष्य दृढ़ रूप से यह विश्वास रखता है कि वह अपने सांकेतिक चिन्ह वाले समूह का बालक है। उस समूह को और उसमें प्रचलित नियमों को वह अत्यन्त पूज्य समझता है इन लोगों के इन ख्यालों में से हमें धर्म और क़ानून के तत्व की प्राथमिक अवस्था का बड़ा ही मनोरंजक रूप देखने को मिलता है। धार्मिक विचारों की प्रगति की तीन अव-स्थाओं में से पहली अवस्था का जिसमें मनुष्य अपने ही समान किसी प्राणी की या पत्थर की पूजा करता हैं इसमें हमें दिग्दर्शन होता है। इन लोगों का ख़याल रहता है कि समूह की आज्ञा भंग करने से अथवा लग्न-पद्धति में बाधा पड़ने से देवता हमारा नाश कर डालेंगे। इन लोगों के सिद्धान्त के अनुसार दैव के मानी हैं दुःखदायी सज़ा देने वाली एक शक्ति। उनका ख्याल है कि ये देवता पृथ्वी पर रोग और मृत्यु फैलाते हैं और मनुष्य के रक्त के प्यासे होते हैं। इत्यादि।

इसी प्रकार इनकी सामाजिक, धार्मिक एवं कानून संबंधी कल्पनायें भी इसीसे मिलती जुलती होती हैं। इन कानूनों में यह मत करो नहीं तो ऐसा होगा, वह मत करो नहीं तो फलां रोग होगा इस तरह शुरू से अन्त तक निषेधात्मक भावों का ही

समावेश रहता है। इन निषेधों या रुकावटों की जड़ में कोई सिद्धांत नहीं होता। केवल काकतालीय न्याय पर ही इन कानूनों की सृष्टि होती है। उदाहरणार्थ, कोई मनुष्य किसी वृक्ष के नीचे जा रहा है दैवयोग से हवा चली और उस वृक्ष की डाली टूट कर उस पर गिर पड़ी। इसका कारण वे किसी प्राकृतिक नियम को न मान कर यही कहेंगे कि उस रास्ते पर जाने से वृक्षों का देवता क्रोधित हो गया और इसी से वह डाली टूट कर गिर पड़ी। अतः निश्चित् हुआ कि उस रास्ते से भविष्य में कोई न जावे। इसी प्रकार कोई लकड़ी का बनाया हुआ पुल टूट जाय और उसके साथ कोई डूब जाय तो यह माना जायगा कि पुल बँधाते वक्त जल के देवता को पेट भर भोजन नहीं मिला, इसीसे उसने यह भोग ले लिया। अब आगे से जब पुल बांधा जाय, तब पहले ही एक मनुष्य का भोग जरूर दे देना चाहिए। बस इस नियम के अनुसार जब पुल बंधा कि तुरन्त किसी गरीब आदमी के हाथ पैर बांध कर उसे नदी में फेंक दिया। इतिहास में जो बलिदान की प्रथा के बारे में हम बारम्बार पढ़ते हैं, उसका आरम्भ इसी तरह का है।

यह सब वर्णन आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों का है। इन लोगों के अध्ययन से हम मनुष्य जाति की आदिम अवस्था का पूरा पूरा तो नहीं पर बहुत कुछ पता अवश्य लगा सकते हैं। इन सब बातों से निश्चत रूप से यह पता लगता है कि आदिम अवस्था में मनुष्य जाति को समाज-रचना का बिलकुल ज्ञान न था। सामान्य रूप से ये लोग कंगाल, गृहहीन, जाड़े और गर्मी से अपनी रक्षा करने में असमर्थ, वस्त्ररहित, और नानाप्रकार के भयों से आक्रांत रहते थे। इनमें कौटुम्बिक जीवन और भोजन-

व्यवस्था का कोई ठिकाना न था जङ्गली जानवरों की शिकार पर ही इनका सब कुछ आधार रखता था। पशु-पालन और कृषि से ये लोग बिलकुल अनभिज्ञ थे। फिर भी परिस्थिति के कारण इनमें आजकल के उन्नत समाज की अपेक्षा कई प्रकार की विशेषताएं उत्पन्न हो गई थीं। दिन रात भय से आक्रान्त रहने की वजह से इन लोगों की सतर्कशीलता और निरीक्षण-शक्ति बहुत बढ़ी हुई थी। आजकल के गुप्त और नामी जासूस भी जिन भयङ्कर झाड़ियों में चोरों को खोजने में असमर्थ रहते हैं, उन झाड़ियों में ये लोग आसानी से शत्रुओं को ढूढ़ लेते हैं। वैज्ञानिक वायुचक्र-शास्त्री भी जहाँ गलती कर जाते हैं उस जगह केवल बाहरी लक्षणों को देखकर ही ये लोग कह सकते हैं कि तूफान आ रहा है। इनकी श्रवण-शक्ति भी उन्नत मनुष्य जाति की श्रवण-शक्ति से तीव्र होती है। फिर भी यह निश्चित है कि समाज-रचना शास्त्र की दृष्टि से इन लोगों का महत्व बहुत कम है।

कौटुम्बिक समाज

भिन्न भिन्न प्रकार के अनुभव और जीवन की कठिनाइयों को पार करता हुआ जंगली समाज धीरे धीरे कौटुम्बिक समाज में परिणत होता है। इस समाज के रूप में परिवर्तित लोगों को समाज-रचना का कुछ-कुछ ज्ञान होने लगता है, जंगली समाज की अपेक्षा और भी कई महत्वपूर्ण विशेषतायें इनमें उत्पन्न हो जाती हैं। पर सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण विशेषता जो इनमें उत्पन्न होती है, और जिसकी वजह से इन लोगों का कायापलट हो जाता है। वह पशु-पालन की क्रिया है। यही विशेषता सब विशेषताओं की जननी है।

हम ऊपर लिख आये हैं कि जंगली समाज को पशु-पालन का ज्ञान न था। उस काल में गाय, भैंस, बकरी, घोड़े आदि तमाम पशु जंगली जानवरों की तरह स्वतन्त्रता-पूर्वक विचरण करते फिरते थे। जंगली लोगों की कुछ जातियों ने, जिनके आसपास के जंगलों में ये पशु अधिकता से रहते थे, पहले पहल इन पशुओं को पालना शुरु किया। यहाँ पर सहज ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पशु-पालन की यह प्रवृत्ति इन लोगों में किस प्रकार उत्पन्न हुई ? इस प्रश्न पर कुछ विवेचन करना यहाँ पर आवश्यक होगा।

जंगली लोगों के स्वभाव का मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से मनन करने पर मालूम होता है कि इन लोगों के स्वभाव में, बेदरकारी और लोभ की भावनाएँ बहुत अधिक तादाद में रहती थीं। इन भावनाओं के अतिरिक्त, समूह प्रथा की उत्पत्ति हो जाने के कारण, इनमें कुछ ममतापूर्ण भावनाओं और कौतुहल-प्रिय स्वभाव की उत्पत्ति हो गई थी। प्रारम्भ में ये लोग जितने पशुओं को पकड़ते थे, उन सब को मार डालते थे। पर पीछे जाकर उन जातियों में जिनके आस पास के जंगलों में पशु बहुत होते थे जो अनायास ही इन लोगों के हाथ लग जाते थे पशुओं का संग्रह करने की प्रवृत्ति का विकास हुआ, और इन लोगों ने भर पेट खाना खा लेने के पश्चात् बचे हुए पशुओं को मारना बन्द कर दिया। ये लोग भविष्य की खुराक के निमित्त इन पशुओं को सुरक्षित रूप से रखने लगे। जिस दिन इन्हें शिकार हाथ न लगती उस दिन इन पशुओं को मार कर ये खाते थे। इसके बीच के समय में—जब तक पशु जीवित रहते थे, ये लोग उनके साथ स्वयं खेलते, अपने बच्चों को खिलाते और इस प्रकार अपनी कौतूहल-प्रवृत्ति को तृप्त करते थे।

कुछ समय तक तो इन लोगों का यह खेल चूहे और बिल्ली के खेल की तरह होता रहा। पर धीरे धीरे अधिक सहवास से उनके हृदय में स्वाभाविक प्रेम का अङ्कुर भी फूटा, और ये लोग हृदय से पशुओं पर प्रेम करने लगे। आगे चलकर तो यह प्रेम यहाँ तक बढ़ा कि ये लोग इन पालतू पशुओं को मार कर खाने के बदले स्वयं भूखों मरना अधिक पसन्द करने लगे। संक्षिप्त में यों कह सकते हैं कि पशु-पालन की यह क्रिया प्रारम्भ में लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से नहीं, प्रत्युत मनुष्य की ममतामय प्रवृत्ति और कौतूहल-प्रियता की तृप्ति के लिए अस्तित्व में आई।

प्रारम्भ में तो पशु-पालन का कुछ भी उपयोग इन लोगों के ध्यान में नहीं आया। पर आगे जाकर जब इन्होंने देखा कि ये पशु तो विना मारे भी मनुष्य की बहुतसी आवश्यकताओं की तृप्ति करते हैं, जब इन्हें भेड़ों के ऊन, गायों और भैंसों के दूध आदि वस्तुओं की उपयोगिता मालूम हुई तो इनको अत्यन्त आनन्द हुआ और पशु-पालन का कार्य्य बड़ी तेजी से बढ़ने लगा। इसके साथ ही इन लोगों का जीवन जंगली अवस्था से निकल कर पशुपाल या गुवाल अवस्था में प्रविष्ट हुआ।

पशु-पालन की इस क्रिया से उनके सामाजिक जीवन में कई प्रकार के आवश्यक परिवर्त्तन घटित हुए। इनमें से कुछ परिवर्त्तनों का विवेचन इस स्थान पर करना आवश्यक प्रतीत होता है।

१—*"पुरुष के द्वारा विवाह सम्बन्ध का होना"* जंगली अवस्था में पुरुष शिकार का काम करते थे। स्त्रियाँ भी उन्हें इस कार्य्य में सहायता देती थीं पर उनका मुख्य कार्य्य अपने समूह के वास-स्थान को सम्भालना, उनके खानपान की व्यवस्था और सन्तान

पालन करना भर था। पुरुष शिकार के लिए भटकते रहते थे और स्त्रियाँ स्थायी रूप से एक ही स्थान पर रहती थीं। ऐसी स्थिति में विवाह-सम्बन्ध आदि का कार्य्य स्वाभाविकतया स्त्रियों के ही जिम्मे रहता था। पर पशु-पालन की पद्धति शुरु होने के पश्चात्, खाते खाते बचे हुए प्राणियों पर, शिकार पकड़ने वालों का अर्थात् पुरुषों का अधिकार समझा जाने लगा। और इनको रखने का तथा उनको सम्हालने का कार्य्य पुरुषों के जिम्मे रहने लगा। धीरे धीरे ये प्राणी उनकी मिलकियत समझे जाने लगे। इस प्रकार समाज में स्त्रियों की सत्ता घटने लगी और पुरुषों के अधिकार बढ़ने लगे। विवाह सम्बन्ध भी इसी तरह स्त्रियों के हाथ से हट कर धीरे धीरे पुरुषों के हाथ में आ गया।

२—*मजदूरी की महत्ता में वृद्धि*—पशु-पालन की पद्धति में वृद्धि होने पर इन लोगों को मजदूरी की महत्ता मालूम होने लगी। पशु-पालन में जो मनुष्य सफल होते थे उन्हें पशुओं की व्यवस्था करने के लिए दूसरे सहायकों की आवश्यकता होती थी। स्त्रियाँ तो घर के काम में ही संलग्न रहने की वजह से उन्हें सहायता देने में असमर्थ थीं। अतएव पशुओं को चराने और उनको रोकने के लिए दूसरे आदमी रक्खे जाने लगे। मज़दूरी की इसी आवश्यकता के कारण पशु-पालक युग में दो बड़े ही महत्व पूर्ण रिवाज उत्पन्न हुए। पहला त स्थायी विवाह का और दूसरा दासत्व प्रथा का। स्थायी लग्न के साथ दासत्व प्रथा का सम्बन्ध आज के युग में बड़ा विचित्र मालूम होता है पर आगे चल कर हमें मालूम होगा कि ये दोनों शाखाएँ एक ही वृक्ष की है।

३—*स्थाई विवाह सम्बन्ध*— स्थायी विवाह सम्बन्ध की पद्धति

कौटुम्बिक समाज की पद्धतियों में प्रधान अंश-स्वरूप हैं। कितने ही लेखकों का मत है कि यह पद्धति उन लोगों की नीति और वृत्ति में अकस्मात् होने वाले अनिश्चित सुधारों का परिणाम है। पर वास्तव में देखा जाय तो इस पद्धति की जड़ बहुत ही क्षुद्र नीति पर अवलम्बित है। स्त्री और सन्तानों के परिश्रम का लाभ केवल व्यक्तिगत रूप से उठाने के लिए ही यह पद्धति अस्तित्व में लाई गई थी। यदि यह पद्धति किसी उच्च नीति का परिणाम होती तो हमें इसमें दो तत्त्व अवश्य देखने को मिलते (१) पुरुष और स्त्री की विवाह-संख्या में समानता और (२) दोनों ओर की सम्मति। पर वस्तु-स्थिति को हम इन दोनों बातों से बिलकुल विपरित देखते हैं। अनेक स्त्रियों के साथ विवाह करने की प्रथा उस समय बिलकुल सामान्य समझी जाती थी। इसके अतिरिक्त पति का ध्यान अपनी पत्नी के परिश्रम पर ही अधिक रहता था उसके चाल-चलन की ओर वह प्रायः उपेक्षा की दृष्टि से ही देखता था। इसके अतिरिक्त स्त्रियों की सम्मति की कोई कदर नहीं की जाती थी। पुरानी-विवाह-पद्धतियों से पता चलता है कि उस समय स्त्री का हरण करके उससे विवाह करने की अथवा उसे खरीद करके उससे सम्बन्ध करने की प्रथाएँ भी प्रचलित थीं। इन रीतियों के नष्ट हो जाने पर भी जगत् की विवाह-पद्धतियों में इनके बाह्य-रूप के स्मारक अब भी पाये जाते हैं। हाथ में कटार अथवा तलवार रखना, विवाह के पूर्व तोरण मार कर बल प्रदर्शित करना आदि २ रिवाज इसी तत्त्व के बचे खुचे खण्डहर हैं। कन्याओं की खरीद-बिक्री तो अभी तक प्रायः उसी रूप में होती है। इत्यादि इन बातों से साबित होता है कि स्थायी विवाह

की पद्धति प्रारम्भ में किसी ऊंचे नैतिक तत्त्व पर नहीं, प्रत्युत स्त्री और सन्तानों के परिश्रम का व्यक्तिगत लाभ उठाने के लिए ही अस्तित्व में आई है।

४—*दास प्रथा*—जंगली समाज में जब दो समूहों में पारस्परिक लड़ाई होती थी और एक पक्ष के लोग दूसरे पक्ष में कैद होकर चले जाते थे तो दूसरे पक्षवाले उन्हें मार कर खा जाते थे। क्योंकि उस समय लड़ाइयाँ प्रायः खाने के लिए होती थीं। पर कौटुम्बिक समाज में लोग परिश्रम का मूल्य समझने लग गये थे। इसलिए उन्होंने स्थायी विवाह-पद्धति के ही समान यह रिवाज भी निकाला कि लड़ाई के कैदी मारे न जांय, इसके विपरीत उनसे मज़दूरी करवा के उनके परिश्रम का लाभ उठाया जाय। इसी नियम के फल-स्वरूप दास-प्रथा अस्तित्व में आई। लोगों ने दयार्द्र होकर कैदियों को मार डालने के बदले उन्हें गुलाम बना कर उनसे मेहनत मज़दूरी लेना प्रारम्भ किया। इस प्रकार पशु-पालन की इस पद्धति से एक साथ दो महत्त्व पूर्ण पद्धतियों का (१) स्थायी विवाह पद्धति (२) गुलाम प्रथा का जन्म हुआ। इन दो प्रथाओं के अतिरिक्त एक और विशेषता इस समाज-रचना में हुई। जङ्गली समाज में स्त्रियों का जो प्राधान्य था वह नष्ट होकर वहां पुरुष का प्राधान्य हो गया। घर में स्त्री, सन्तान और गुलामों पर पति की सत्ता ही सर्वोपरि मानी जाने लगी।

इसके अत्तिरिक्त पशु-पालन की इस पद्धति से तत्कालीन सभ्यता में और भी एक दो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। भोजन की नियमितता और निवास-स्थान की वृद्धि से मनुष्यों की संख्या में और उनके सामाजिक-जीवन में बहुत कुछ सुधार हो गया। पर

इसके साथ ही एक समूह दूसरे समूह से या एक कुटुम्ब दूसरे कुटुम्ब से बल में कम है या ज्यादा, इस प्रकार का प्रतिस्पर्द्धात्मक विचार-पद्धति का भी जन्म हो गया। इस प्रतिस्पर्द्धात्मक विचार-पद्धति के साथ ही समाज में उंच नीच की कल्पना का जन्म हुआ। आदिम आयरिश समाज में सामान्य मनुष्य, और संपत्ति-शील इस प्रकार के दो वर्ग पड़ गये थे। धनवान् लोग अपने पशुओं को पालने के लिए साधारण लोगों को नौकर रखते थे। इससे मालिक और नौकर की भावनाओं का भी प्रादुर्भाव हो गया। इस प्रकार समाज में धनवान् और गरीब, मालिक और नौकर, गुलाम और मालिक आदि भिन्न भिन्न प्रकार की भेदभावमयी भावनाओं का प्रचार हुआ। यहीं से साम्यवाद की भावनाओं का अन्त होने लगा।

कौटुम्बिक समाज की व्यवस्था

हम ऊपर लिख आये हैं कि पशु-पालन की पद्धति का जन्म होने पर लोगों के ध्यान में समाज-रचना सम्बन्धी बहुतसी मोटी मोटी बातों का प्रादुर्भाव हुआ, और तदनुसार समाज-रचना का उस समाज में उद्गम भी हुआ। अब हम अत्यन्त संक्षिप्त में उन लोगों की समाज-व्यवस्था का वर्णन कर देना चाहते हैं।

कौटुम्बिक समाज के अन्तर्गत बहुत से छोटे २ समूह होते थे। इनमें से प्रत्येक समूह के लोग अपने को किसी एक खास या प्रसिद्ध पुरुष की संतान बतलाते थे। समूह के पुरुष और उनसे उत्पन्न बालक ही बाकायदा समूह के सभासद् हो सकते थे। फिर भी प्रसङ्गवशात् इस प्रकार के समूहों में बाहरी लोग भी सम्मि-

लित हो जाया करते थे। जैसे दूसरे समूहों से बिछुड़े हुए लोगों को भी कई समूहवाले दया करके अपने समूह में मिला लेते थे। इन लोगों का विवाह भी वे अपनी समूह की कन्याओं से कर देते थे। पर ऐसे लोगों का या उनकी संतानों का दर्जा समूह के खास सभासदों से नीचे समझा जाता था। कई बार महान् सेवाओं के बदले में या बहुत समय के संसर्ग से ये लोग बराबरी के दर्जे में भी सम्मिलित कर लिये जाते थे।

इनके अतिरिक्त प्रत्येक समूह में बहुत से गुलाम भी रहा करते थे। लड़ाई में पकड़े जाने वाले लोग गुलाम बनाए जाते थे। इन लोगों से ढोर चराने तथा घर के और काम भी लिये जाते थे। इन लोगों का दरजा निकृष्ट समझा जाता था।

इस कथन से यह न समझ लेना चाहिए कि समूह के असली सभासदों में सभी का दरजा समान होता था। समूह के प्रत्येक सभासद् का गोचर भूमि में हक़ रहता था, जङ्गल में शिकार करने का अधिकार भी उन्हें होता था। समीपवर्त्ती सगे-सम्बन्धियों से सहायता लेने की तथा हथियारों के उपयोग करने की भी उन्हें स्वाधीनता थी। पर इसके साथ ही-जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं—इस समाज में पशु तथा अन्य सामग्रियां व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में रहने लगी थीं। जो सभासद् अपने परिश्रम से इनको प्राप्त करता अथवा जिसके पास अधिक सम्पत्ति होती उसका दरजा ऊंचा समझा जाता था और जो अपने पराक्रम से सम्पत्ति को प्राप्त करने में असमर्थ रहता वह नीचे दरजे का समझा जाता था।

इस स्थिति में एक और महत्वपूर्ण पद्धति का बीज उत्पन्न

हुआ । आज हम समाज में जमींदार पद्धति का जो अस्तित्व देख रहे हैं, उसका बीज इसी पद्धति में से निकला । उस समय जमीन की मिल्कियत की तो कल्पना न थी । पर जिन लोगों के पास अधिक पशु होते थे, वे एक नियत समय के लिए गरीबों को ढोर देते थे, और उसके बदले में खाद्य सामग्री या इसी प्रकार का और कोई टैक्स लेते थे । जिन लोगों के पास कुछ ढोर तो घर के और कुछ किराये के होते थे वे मध्यम श्रेणी के और जिनके पास सभी किराये के होते थे वे निकृष्ट श्रेणी के समझे जाते थे । इन उमराव लोगों में भी सम्पत्ति की तादाद के अनुसार श्रेणियां होती थीं, पर उनका महत्व केवल दण्डनीति में ही कुछ रहता था ।

स्वतन्त्र और परतन्त्र उमराव और सामान्य प्रजा इन लोगों के अतिरिक्त कौटुम्बिक समूह में अधिकारियों का भी एक वर्ग था। यह व्यवस्था बहुत उपयोगी थी।

१—*अध्यक्ष*—यह समूह का स्थापक गिना जाता था । आयरिश लोग "रि", स्कॉच लोग "मारमेर", वेल्श लोग "पेम", ट्यूटन लोग सीनिंग", ("किंग" शब्द इसी शब्द से निकला है) बलूच "तूमानदार" और पठान लोग "खान" के नाम से इसे संबोधित करते थे । जो मनुष्य बहुत वाचाल, बहादुर और प्रामाणिक होता था, वही इस पद के लिए चुना जाता था। इसकी आज्ञा का पालन सब लोग करते थे। युद्ध करने का तथा समूह की रक्षा करने का कुल भार और अधिकार इसे रहता था ।

२—*उपाध्यक्ष*—आयरिश लोग इसे "टैनिस्ट" और वेल्स लोग "टीसवैरटयुरथु" कहते थे । अध्यक्ष की मृत्यु के पश्चात्

उपाध्यक्ष उसके स्थान पर आता था और सरदार के जीवन काल में यह उसके सहायक का काम करता था।

३—*सेनापति*—आयरिश और स्कॉच लोग इसे "टुशेश" और और वेल्श लोग इसे डायल्बार कहते थे। शुरू शुरू में इस पद की विशेष योजना न थी। क्योंकि युद्ध का भार अध्यक्ष पर रहता था। पर कई बार अध्यक्ष में और तो सब गुण मिल जाते थे, मगर युद्ध-कला में वह कमजोर साबित होता था। इस कमी के कारण लोग जिसे युद्ध कार्य में निपुण देखते उसे युद्ध के समय में सेना-नायक का पद दे देते थे। धीरे धीरे यह पद स्थायी हो गया।

अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और सेना नायक इन तीनों अधिकारियों का युद्ध में की हुई लूट पर विशेष अधिकार रहता था। इसके अतिरिक्त सामान्य लोगों की ओर से उन्हें खास खास अवसरों पर भेंट भी दी जाती थी।

४—*व्यवस्थापक सभा*—यह वृद्ध और समझदार लोगों का एक मंडल होता था। इसे आयरिश लोग "ब्रतान्स" वेल्शलोग 'हेनेडवर" ट्यूटन लोग रॅशिम्बर्गफ मुसलमान लोग "जीग्राह" और हिंदू लोग "पंचायत" कहते थे। इस सभा का मुख्य कार्य था समूह के रिवाजों और धार्मिक क्रियाओं को निश्चिन्त करना। जिस समय लिखने का रिवाज न था उस समय इस सभा की उपयोगिता वहुत बढ़ी हुई थी। यह सभा आजकल की कचहरियों की, प्रधान मण्डलों की और प्रतिनिधि सभाओं की जननी रूप थी। कई जगह यह सभा केवल सात मेम्वरों की होती थी और कई जगह समूह के सभी वृद्ध लोग इसके सभासद होते थे।

कौटुम्बिक समाज का धार्मिक जीवन

कौटुम्बिक समाज के धर्म का मुख्य लक्ष्य "पूर्वज पूजा" थी। ये लोग अपने पूर्वजों को परमेश्वर की तरह पूज्य समझते और पूजते थे। दूसरे प्रधान प्रधान धर्मों से इस धर्म में दो तीन प्रकार का खास विरोध रहता है। बौद्ध, ईसाई, मुसलमान आदि सभी धर्मों का लक्ष्य है अपने धर्म-तत्वों का प्रचार। इनके प्रचारक संसार में उपदेशों के द्वारा या और तरीकों से प्रचार करते रहते हैं। पर कौटुम्बिक समाज में–पूर्वज पूजा काल में–यह नीति बहुत नापसंद की जाती थी। इन लोगों का खयाल था कि हमारे देव और हमारे पूर्वज केवल हमारे ही लिए हैं। दूसरे लोगों को उनसे लाभ उठाने का कोई अधिकार नहीं है। इन लोगों की धर्म की दीवार केवल अन्ध-विश्वास पर स्थित रहती थी, तत्वज्ञान की खोज का ये लोग कोई प्रयत्न नहीं करते थे। इन लोगों की तमाम धार्मिक क्रियाएं गुप्त रहती थीं। प्रत्येक पिता अपने पुत्र को और गुरु अपने शिष्य को ये क्रियाएं बहुत ही गुप्त रूप से वारसा के रूप में बतलाया जाता था।

कृषि कार्य का आरम्भ

उपर्युक्त विवेचन को पढ़ने के पश्चात् यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि जंगली समाज की अपेक्षा पशु-पालक समाज के जीवन में बहुत कुछ स्थिरता आ गई थी। उनमें सामाजिक व्यवस्था का भी जन्म हुआ था, और इसके साथ ही उन्हें कुछ आराम भी मिलने लगा था। इन सब बातों के परिणाम स्वरूप उनकी कुटुम्ब वृद्धि बहुत तेजी से होने लगी और कुछ ही

काल के अनन्तर उन्हें जीविका के साधनों में और वास-स्थान के क्षेत्र में वृद्धि करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी।

आवश्यकता आविष्कार की जननी है। निरन्तर की खोज ही से नवीन तत्वों की उत्पत्ति होती है। हम ऊपर लिख आये हैं कि पशु पालक समाज की जीविका जंगली फल-फूलों से, जंगली जानवरों के मांस से और पालतू पशुओं के दूध, दही से चलती थी। पेट भर कर खाने के पश्चात् वे लोग जो चीजें सुरक्षित रह सकती थीं उन्हें ज़मीन में गाड़कर रख देते थे। कई बार इन फल-बीजों को साल साल भर तक निकालने का अवसर न आता था। इन पर बरसात भी बरस जाती थी, जिसकी वजह से कभी-कभी ये उग भी आते थे। जब तक आनन्द से खाने को मिलता रहा तब तक तो इन लोगों का ध्यान इस ओर नहीं गया। पर आवश्यकता पड़ने पर इन्होंने इधर ध्यान देना प्रारम्भ किया। सूक्ष्म दृष्टि से जब इन्होंने देखा कि बीज को ज़मीन में गाड़ देने से और उस पर पानी डालने से वह ऊग आता है और क्रमशः बड़ा होकर उसी प्रकार के फल देता है, तब उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। अब इन्होंने इस पद्धति को और भी उत्साह के साथ आजमाना शुरू किया। जब उन्हें इसमें अधिकाधिक सफलता मिलने लगी, तब तो उन्होंने बड़े पैमाने पर इस कार्य को करना प्रारम्भ किया।

सब से पहले इन्होंने पाट की पाट ज़मीन को साफ़ करके उसमें बीज बोना आरम्भ किया। कुछ समय तक फसल लेने के पश्चात् जब उन्हें मालूम हुआ कि एक ही ज़मीन में लगातार खेती करने से उसकी उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जाती है, तब इन्होंने आधी ज़मीन को पड़त रखना और आधी में फसल बोना प्रारम्भ

किया। इस प्रकार नये-नये अनुभवों से और रास्ते में आने वाली कठिनाइयों से ये लोग इस कार्य में धीरे धीरे उन्नति करते गये। आज जो कृषि-कला का उन्नत स्वरूप नज़र आ रहा है वह इसी पद्धति का परिणत स्वरूप है।

खेती का समाज-रचना पर प्रभाव

पशु-पालन से जीवन-यापन करने वाले लोग अभी तक समूह बद्ध होकर रहते थे। पर उनका कोई स्थायी मुकाम नहीं था। जहाँ भी कहीं घास, वनस्पति वगैरह की सुविधा वे देखते, वहीं जाकर रहने लग जाते थे। उन्हें किसी खास प्रान्त से वा खास जगह से कोई मोह नहीं रहता था। पर कृषि का आविष्कार होने के पश्चात् लोगों को जमीन का मूल्य भी मालूम होने लगा, और पशुओं की तरह जमीन भी मिल्कियत समझी जाने लगी। पशुओं की तरह जमीन तो उनके साथ साथ जा ही नहीं सकती थी अतएव, अब उन्हें अपने समूह की जमीन के आसपास ही स्थायी रूप से रहना पड़ता था। इस प्रकार कृषि कार्य्य की कृपा से समूह-पद्धति में से ग्राम-रचना का प्रादुर्भाव हुआ और लोग अपनी उपजाऊ जमीन के आसपास ग्राम बसा बसा कर रहने लगे।

प्रारम्भ में तो ये लोग समथल भूमि पर सम्मिलित रूप से खेती करके फ़सल आने पर उसे बांट लेते थे। पर धीरे २ इनमें भी व्यक्तिगत मिल्कियत का प्रादुर्भाव हुआ। किसी कुटुम्ब में अधिक मनुष्य होते थे, वे ज्यादा जमीन तैय्यार कर सकते थे। कोई व्यक्तिगत रूप से अधिक परिश्रमी होते थे, वे दूसरे

मनुष्यों की अपेक्षा अधिक जमीन जोत सकते थे। कोई सम्पत्ति की दृष्टि से अधिक धनवान् होते थे, वे अपने नौकरों अथवा गुलामों के द्वारा अधिक काम करवा सकते थे। इस प्रकार जब वे लोग ज्यादा काम करते तो फिर फसल में बराबरी का भाग लेना कैसे सम्भव हो सकता था ? परिणाम यह हुआ कि जमीन पर भी व्यक्तिगत मालिकी कायम हो गई और हर एक मनुष्य के लिए जमीन का अलग-अलग टुकड़ा निश्चित हो गया। इतिहास के परिशीलन से मालूम होता है कि उस काल में अधिकांश लोग ३० बीघा मिल्कियत वाले थे। १२० बीघा की मिल्कियत वाले भी कुछ लोग रहते थे। कोई कोई इससे भी अधिक जमीन के मालिक होते थे।

जमीन की मिल्कियत हो जाने पर समाज में एक और गम्भीर बात उत्पन्न हुई। कभी बरसात की कमी से, रोग लग जाने से या अन्य कारणों से कई लोगों की फ़सलें नष्ट हो जातीं। ऐसी स्थिति में लोगों के भूखों मरने की नौबत आती। तब वे किसी धनवान् आदमी से खाने के लिए अन्न लाते थे। इस अन्न के बदले में या तो वे उसके यहां नियत समय तक मज़-दूरी करते या अपनी जमीन उसके यहां रख देते अथवा बेच देते थे। बाद में वही जमीन वे लोग कुछ निश्चित् किराया या मजदूरी देकर हांकने के लिए ले लेते थे। इस प्रणाली के परि-णाम स्वरूप समाज में तीन वर्ग उत्पन्न हो गये। पहला वर्ग जिसे आजकल की भाषा में हम "जमींदार" कह सकते हैं, वह होता था। इसके पास काफ़ी जमीन के साथ साथ कुछ सत्ता भी होती थी। दूसरा वर्ग वह जिसके पास सत्ता तो नहीं

पर जमीन काफ़ी होने से वह किराये पर जमीन देता तथा व्यवहार करता था। इस वर्ग को आजकल की भाषा में हम महाजन वर्ग कह सकते हैं और तीसरा वर्ग-जिसे हम गुलाम या मजदूर वर्ग कह सकते हैं-वह होता था, जिसके पास निज की जमीन बहुत कम होती थी। ये लोग अक्सर महाजन या जमींदार-वर्ग के यहां मजदूरी या गुलामी करके अपना पेट पालते थे।

अधिकारी

समूह-बद्ध समाज-व्यवस्था की अपेक्षा ग्रामीण समाज-व्यवस्था में अधिकारियों का बढ़ना स्वाभाविक है। इस व्यवस्था में सब से ऊपर एक ग्राम का मुखिया रहता था। इसको ग्राम के सब लोग मिल कर चुनते थे। यह सारे ग्राम का प्रतिनिधित्व करता था। जिन-जिन लोगों के लिए जो नियम निश्चित थे उन लोगों से उन नियमों को पालन करवाने की जिम्मेदारी इस पर रहती थी। बाहर के लोगों से ग्राम की ओर से यही व्यवहार करता था। इसके पश्चात् "रावणीआ" (सिपाही) होता था। इसका कार्य इधर उधर संवाद पहुचाने, किसी वृक्ष की शीतल छाँह में पंचायत इकट्ठी करने और मुखिया की आज्ञाओं का पालन करने का होता था। इसके पश्चात एक बाघरी रहता था इसका कार्य भूले-भटके ढोरों को पकड़ने का, तथा उन ढोरों के मालिकों से-ग्राम के स्थायी फण्ड में-उचित दण्ड लेकर उनको वापस पहुँचाने का होता था। इसके बाद एक चरवाहा रहता था, जिसका कार्य चरते हुए ढ़ोरों पर निगरानी रखने का कोई अपने हक से अधिक ढोर न चरा ले इस बात की निगरानी

रखने का था। इन लोगों के अतिरिक्त चौकीदार आदि और भी कुछ लोग रहते थे। इन सब लोगों को इनके कार्य के बदले में जमीन, पशु तथा अनाज वगैरह मिलता रहता था। इस स्थान पर दूरदर्शी पाठकों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि इस पद्धति में राज्य-सत्ता का अत्यन्त सूक्ष्म बीज किस प्रकार छिपा हुआ था।

कृषि-कार्य में जब विकास हुआ तब इसके लिए औजारों की भी आवश्यकता होने लगी। धीरे धीरे धातुओं को गला कर औजार बनाने की पद्धति का आविष्कार हुआ। इन पद्धतियों के साथ ही ग्रामों में व्यापार की प्रथा शुरू हो चली। कई लोग इन कामों में लगे रहने के कारण कृषि, पशु-पालन आदि काम नहीं कर सकते थे। फलतः खेती और पशु पालन के बदले लोग इनसे औजार बनवा कर लेते थे, और उसके बदले में अनाज, पशु वगैरह वे इन्हें देते थे। इस प्रकार धीरे धीरे परिवर्तन और देन-लेन की प्रथा अस्तित्व में आई।

मतलब यह कि ज्यों ज्यों समाज-रचना में विकास होता गया, और लोगों की व्यक्तिगत भावनाएं प्रबल होने लगीं त्यों त्यों समाज में स्वार्थ-वृत्ति जागृत होने लगी। इस स्वार्थ-वृत्ति के साथ ही ऊंच नीच और दुर्बल तथा बलवान की भावनाओं ने भी जोर पकड़ा। इन भावनाओं के फल-स्वरूप समाज में भिन्न भिन्नप्रकार के वर्ग उत्पन्न हुए, और उन में मनोमालिन्य और झगड़े पैदा होने लगे। पारस्परिक स्वार्थों में घात-प्रतिघात होने लगा और समाज में एक प्रकार की विशृङ्खलता उत्पन्न होने लगी।

यह विश्रृंखलता कहीं शीघ्र और कहीं विलम्ब से दुनिया की

सभी जातियों में उत्पन्न हुई। दैवयोग से इस विशृंखलता के उत्पन्न होने तक समाज में कई मनस्वी पुरुषों का अविर्भाव भी हो गया था। अतः उन्होंने इसकी चिकित्सा करने के उपाय सोचना प्रारंभ किया। तभी से समाज-शास्त्र और समाज के शास्त्रीय रूप की उत्पत्ति हुई। पाठकों को आगे चलकर बड़ा आश्चर्य होगा जब वे देखेंगे कि समाज-रचना के सम्बन्ध में भिन्न २ देशों के दार्शनिकों के विचार बिल्कुल एक साथ टक्कर खाते हैं।

अस्तु ! समाज-रचना का पूर्व इतिहास यहीं खतम हो जाता है, इसके पश्चात् उसके नवीन इतिहास का प्रारम्भ होता है, जिसका वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं।

समाज-रचना के इस इतिहास में एक दो आवश्यक बातों की ओर पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित कर हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे। समाज-रचना के इस इतिहास को ध्यान पूर्वक पढ़ने पर हमें इसमें एक तत्त्व तो यह देखने को मिलता है कि जंगली समाज चाहे जितना ही सभ्य और अविवेकी क्यों न रहा हो, पर उसमें स्वाभाविकता की मात्रा सब से अधिक थी। उनके समूहों में ऊंच-नीच की भावनाओं ने तथा मनुष्य की स्वार्थ-वृत्ति ने विकसित होने का अवसर नहीं पाया था। ज्यों ज्यों समाज-रचना का ज्ञान लोगों में बढ़ता गया और ज्यों ज्यों इसका विकास होता गया, त्यों त्यों समाज में अस्वाभाविकता की मात्रा बढ़ती गई। यह स्वाभाविकता सब से पहले हमें उच्च और नीच तथा गुलाम और मालिक की कल्पना में देखने को मिलती है। इसके पश्चात् स्त्री-समाज के ऊपर पुरुष-समाज का अधिकार होना भी इसी अस्वाभाविकता का दूसरा नमूना है।

उसके पश्चात् तो समाज-रचना के विकास के साथ ही इस अस्वाभाविकता की गति भी तीव्र वेग से बढ़ती गई। जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार होने के पश्चात् तो इसकी मात्रा और भी तीव्र हो गई, यहाँ तक कि इसके मारे समाज में विश्रृंखलता मच गई और इसका दमन करने के लिए समाज के मनस्वी पुरुषों को सावधान होना पड़ा। पर जैसा कि आगे चल कर मालूम होगा इन लोगों के सतत प्रयत्न से भी इस कृत्रिमता की बाढ़ रुकी नहीं। उल्टे मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों ज्यों दवा की। वर्णाश्रम धर्म की कल्पना होने पर भी उंच नीच की कल्पना न मिटी, वह और भी ज्यादा बढ़ गई। राज्य की उत्पत्ति होने पर भी रक्तपात न मिटा, उल्टे, युद्ध, अत्याचार और अपराधों की संख्या बढ़ गई। धर्म का आविष्कार होने पर भी समाज में शांति का प्रसार न हो सका, उलटे दुनिया में मजहब वाद के महान् भीषण दृश्य का का ताण्डवनृत्य होने लगा। विवाह-पद्धति का आविष्कार हो जाने पर भी स्त्री-पुरुष के अधिकारों का निर्णय न हो सका, उलटे दिन पर दिन यह प्रश्न अधिकाधिक जटिल रूप से सामने आता जा रहा है।

इतिहास की इन दीर्घ कालीन दुःख मय घटनाओं को देख कर कई लोगों ने यह अनुमान स्थिर कर लिया है कि जो घटनायें हो रही हैं ये बिलकुल स्वाभाविक हैं। एक समाज-शास्त्री ने लिखा है कि ऊंच-नीच की कल्पना मनुष्य-जाति के आदिम काल से चली आ रही है इस लिए वह मिटाए नहीं मिट सकती। वह बिलकुल स्वाभाविक है। अतः उसे मद्दे नज़र रख कर ही हमें समाज-शास्त्र की नीति को निश्चित करना होगा। दूसरे विद्वान

ने एक स्थान पर लिखा है कि स्त्री हमेशा से ही पुरुष की अधीनता में रहती चली आई है अतः उसके बिलकुल स्वाधीन होने की कल्पना ही गलत है। हां, पुरुषों की अधीनता में उन्हें अधिक से अधिक अधिकार मिल जाना चाहिए। इत्यादि।

पर इस प्रकार विचार-पद्धतियों को निर्णीत करने वाले लोग इस विषय के दूसरे पहलू की बिलकुल उपेक्षा कर जाते हैं। वे यह नहीं सोचते कि यह अस्वाभाविकता मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति का परिणाम नहीं; प्रत्युत अब तक की निश्चित समाज-नीति की अपूर्णता का परिणाम है। यदि यह बिल्कुल स्वाभाविक होती तो संसार में अस्वाभाविकता का सभी स्थानों पर बोल बाला रहता। पर हम स्पष्ट रूप से देख रहे हैं जहाँ की समाज-नीति जितनी ही अधिक विकसित है, वहाँ पर यह अस्वाभाविकता उतनी ही कम है। जब यह बात प्रत्यक्ष है, तो क्या ताज्जुब कि समाज नीति का पूर्ण विकास होने पर यह अस्वाभाविकता बिलकुल नष्ट हो जाय।

कई मनुष्य इससे भी अधिक हास्यास्पद बात कहते हैं। इस आस्वाभाविकता के दुःखमय परिणाम से निराश होकर वे कहते हैं कि मनुष्य-जाति की इस विकसित स्थिति से तो वह जंगली अवस्था ही श्रेष्ठ थी, जिसमें कम से कम युद्ध, रक्तपात और पैशाचिकता के ये दृश्य देखने को तो न मिलते। इस प्रकार के निराशावादी लोग जगत् की प्रगति में बड़े ही भयङ्कर रूप से बाधक होते हैं। ये लोग जड़त्व के पक्षपाती और गतिविधि के महान् शत्रु होते हैं। ये लोग इस बात को बिलकुल भूल जाते हैं कि गतिविधि ही इस जगत् का धर्म और

विषमता ही मानवता का सौन्दर्य है। गतिविधि को तो हम प्रयत्न करके भी नहीं रोक सकते। यदि हम इसे उन्नति की ओर नहीं ले जायँगे तो अवश्य यह हमें अधःपतन के गड्ढे में ढकेल देगी। ऐसी स्थिति में क्या जगत् के प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य नहीं हो जाता कि वह इस गतिविधि को उन्नति के मार्ग में लगा कर जगत् की प्रगति में सहायता दे, अभी तक मनुष्य जाति जो जो भूलें करती आई है, उनसे उसे सावधान करके सच्चे रास्ते पर लगाने का प्रयत्न करे ? समाज शास्त्र इसी विषय के सिद्धान्त मनुष्य-जाति के सम्मुख रखता है।

तीसरा अध्याय।

समाज-व्यवस्था का तात्विक स्वरूप

पूर्व अध्याय में हम समाज-रचना के क्रमागत विकास का संक्षिप्त विवेचन कर आये हैं। हम यह लिख आये हैं कि ज्यों ज्यों मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति विकसित होती गई, त्यों त्यों उसकी स्वार्थ-भावनाएँ भी प्रबल होने लगीं, फलतः समाज में दिन व दिन जीवन-कलह की वृद्धि होती गई। इस जीवन-कलह को, इस अशान्ति को-मिटा कर समाज में शान्ति का प्रचार करने के लिए तत्कालीन महापुरुषों ने समाज की चिकित्सा करना प्रारम्भ किया। उन्होंने मनुष्य-प्रवृत्ति का गहन अध्ययन करके सामाजिक नियमों की रचना की। जहाँ पर सभ्यता का सब से पहले विकास हुआ वहाँ पर इन नियमों की रचना भी पहले हुई। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि संसार में भारत और ग्रीस की सभ्यता बहुत प्राचीन है और इन्हीं देशों में सब से पहले समाज-रचना सम्बन्धी नियमों की योजना भी हुई। इन दोनों देशों के तत्त्वज्ञानियों की कल्पना और योजना में एक अद्भुत साम्य है। इन दोनों देशों के तत्वज्ञानियों द्वारा परिचालित समाज-रचना पद्धति का निचोड़ देकर अब यह बताने का प्रयत्न हमें करना है कि वे समाज-शास्त्र की दृष्टि से व्यावहारिक रूप में कहाँ तक सफल हो सकी हैं।

वर्ण व्यवस्था

सब से पहले हम भारतीय वर्ण-व्यवस्था का सार देते हैं। भारतीय तत्व-ज्ञानियों ने मनुष्य-स्वभाव का गहरा अध्ययन करके यह तत्व निकाला कि मनुष्य के अन्तर्गत भिन्न २ प्रकार की कई विरोधी प्रवृत्तियां निवास करती रहती हैं। उसके अन्तर्जगत् में इन प्रवृत्तियाँ का घात-प्रतिघात निरन्तर चलता रहता है। ये प्रवृत्तियां जब तक साम्य अवस्था में रहती हैं, तब तक मनुष्य और मनुष्य-समाज स्वाभाविक अवस्था में रहते हैं, और तब तक समाज में स्थायी शान्ति का प्रादुर्भाव भी रहता है। पर इन गुणों में विषमता होते ही-एक के न्यून और दूसरे के अधिक होते ही-समाज की अवस्था अप्राकृतिक हो जाती है। उसमें अशान्ति और जीवन-कलह का उद्भव हो जाता है। इन गुणों को साम्यावस्था में रखने के लिए उनके मतानुसार समाज में (१) श्रेष्ठबुद्धि, (२) उत्कट पौरुष, (३) पर्याप्त अर्थ और (४) यथेष्ट अवकाश इन चार गुणों का समावेश होना चाहिए। समाज में इन चार बातों में से एक के भी कम या अधिक होने से उसमें साम्यावस्था की धारणा नहीं हो सकती। इस साम्यावस्था को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि जिन २ लोगों में जिस २ प्रवृत्ति की प्रधानता हो उन लोगों को चुन कर उन पर समाज में उक्त गुण का योगक्षेम करने का दायित्व रख दिया जाय। इस प्रकार समाज में रहने वाले तमाम व्यक्तियों को गुण कर्मानुसार इन चार प्रकार के विभागों में विभक्त कर दिये जांय। बुद्धि-प्रधान लोगों को एक विभाग में रक्खा जाय, शक्ति-प्रधान

लोगों का दूसरा विभाग बना दिया जाय। व्यवसायात्मक भावना वाले लोगों को अर्थ-प्रधान विभाग में रक्खा जाय और जिन लोगों में किसी भी प्रकार की मानसिक प्रतिमा न हो, जो लोग केवल शारीरिक श्रम के द्वारा समाज की सेवा कर सकते हों उन्हें अवकाश प्रधान विभाग में रक्खा जाय। भारतीय तत्वज्ञानियों ने अपनी भाषा में इन चारों वर्णों का नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, और शूद्र रक्खा।

ये विभाग तो कर दिये गये, मगर इसका क्या विश्वास कि ये लोग इस व्यवस्था के अनुसार अपने अपने वर्ण-धर्म का पूरा पूरा पालन करेंगे। इसके लिए उन्होने बतलाया कि बिना थोड़ा बहुत त्याग और संयम किये कोई अपने वर्ण-धर्म का ठीक तौर से पालन नहीं कर सकता। अतएव इस व्यवस्था का विधान देते हुए ऋषियों ने कहा कि—जिस वर्ण के हाथ में अपने समाज की बुद्धि और विवेक का योग-क्षेम हो उसकी बुद्धि और उसका विवेक अत्यन्त निर्मल होना चाहिए। जिस वर्ण के हाथ में अपनी जाति की रक्षा का भार तथा जाति की स्वाधीनता की जिम्मेदारी हो, उसे बिना किसी ऐहिक आशा के अपनी शक्ति को निर्मल और अपने प्राणों को समाज की रक्षा के निमित्त हमेशा जोखिम में डालने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। जिस वर्ण के हाथ में अपनी जाति के पालन-पोषण का और उसकी आर्थिक स्वाधीनता का भार हो, उसे हमेशा माता के समान निरपेक्ष और निरभिमान रहना चाहिए। तथा जिस वर्ण के हाथ में अपनी जाति की सेवा का भार हो उसे धात्री के समान निरीह और सहिष्णु रहना चाहिए। इनमें से किसी एक वर्ण के कर्तव्यच्युत होते ही समाज में विषमता

उत्पन्न हो जाती है और धीरे धीरे सभी वर्ण उसका अनुकरण कर कर्तव्यच्युत हो जाते हैं।

इस प्रकार का त्याग यदि सब वर्ण वाले करने को तैयार हो जांय तो वर्ण-व्यवस्था समाज में बहुत स्वाभाविक रूप से चल सकती है। पर इसके साथ ही वे लोग यह भी भली प्रकार जानते थे कि त्याग कहने में जितना सरल है, करने में उतना ही कठिन है। प्रत्येक समाज में दस-बीस व्यक्ति ऐसे अवश्य मिल जायंगे जो निस्वार्थ भाव से प्रसन्नतापूर्वक त्याग करने के लिए उद्यत हों। पर सारे समाज का बिना किसी प्रकार के स्वार्थ के इस प्रकार त्यागी हो जाना एक दम अस्वाभाविक है। अतएव इस त्याग के अन्तर्गत कोई ऐसा निमित्त, कोई ऐसा आकर्षण, कोई ऐसा प्रलोभन अवश्य होना चाहिए जिससे मनुष्य की प्रवृत्ति स्वयमेव त्याग करने के लिए उत्सुक हो। यदि इस प्रकार का कोई आकर्षण न होगा तो वर्ण-व्यवस्था का यह किला बनने के पहले ही नष्ट हो जायगा।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए उन्होंने मनुष्य-प्रवृत्ति का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन करके चारों प्रकार के वर्णों के लिए एक एक सामाजिक सुविधा की योजना की। उन्होंने अत्यन्त गम्भीर अध्ययन के पश्चात् यह तत्व निकाला कि बुद्धि-प्रधान वर्ग खास करके मान और प्रतिष्ठा का, अधिक इच्छुक रहता है। इस वर्ग के लोग मान में जरासा भंग पड़ते ही महाक्रुद्ध हो जाते हैं। शक्ति-प्रधान-वर्ग स्वभावतः ऐश्वर्य्य, सत्ता और अधिकार का विशेष इच्छुक होता है, अर्थ-प्रधान वर्ग की प्रवृत्ति स्वभावतः विलास की

ओर रहती है और श्रमजीवी वर्ग हमेंशा निश्चिन्तता को पसन्द करता है।

इस योजना के अनुसार उन्होंने ब्राह्मण-वर्ग को सबसे अधिक सम्मान, क्षत्रिय-वर्ग को सबसे अधिक ऐश्वर्य, वैश्य-वर्ग को सबसे अधिक विलास और शूद्र-वर्ग को सबसे अधिक निश्चिन्तता देने की योजना समाज में की। इसके मानी यह नहीं कि बल, धन, अथवा परिश्रम से अपनी जाति की सेवा करने वालों का मान नहीं होता था। या विद्या, धन अथवा परिश्रम से सेवा करने वाले को ऐश्वर्य्य नहीं मिलता था। न्यूनाधिक रूप में ये वस्तुएं मिलतीं सबको थीं, लेकिन तुलनात्मक दृष्टि से जितना ऐश्वर्य शक्ति-प्रधान वर्ग को, जितना विलास अर्थ-प्रधान वर्ग को और जितना नैश्चिन्त्य परिश्रमी वर्ग को, इस योजना में मिलता था उतना दूसरों को नहीं। प्रत्येक वर्ग को एक ही विशेष सुविधा प्रधान रूप से दी जाती थी और उनको कहा जाता था कि वे अन्य वर्णों की सुविधाओं को ओर से बिलकुल निस्पृह और उदासीन रहें। ब्राह्मणों के हाथ में तीनों वर्णों की बागडोर दी गई, पर इसके साथ ही उनसे कहा गया कि आपका सम्पत्ति और ऐश्वर्य्य से कोई ताल्लुक न रहेगा। क्षत्रियों को शक्ति सम्बन्धी स्वाधीनता दी गई, पर उनसे कहा गया कि आपको ब्राह्मण-वर्ग की सलाह के अनुसार अपनी शक्ति का सदुपयोग करना होगा। वैश्यों को आर्थिक स्वाधीनता दी गई, और कहा गया कि आपको ब्राह्मणों की सलाह के अनुसार समाज में अर्थ का योग-क्षेम करना पड़ेगा। इसी प्रकार शूद्रों को कहा गया कि तुम मनमाने खेल कूद करो, पर तुम्हें बिना अधिकार और धन की लिप्सा के समाज की सेवा करनी होगी।

यही वर्ण-व्यवस्था के मूलतत्व हैं यहाँ यह बात क्षण भर के लिए भी न भूलना चाहिए कि *इस व्यवस्था की सारी नींव गुण और कर्म पर है जन्म पर नहीं।*

प्लेटो की सामाजिक व्यवस्था

प्लेटो ग्रीस के उन प्राचीन विद्वानों में से एक था, जिसकी प्रतिभा का प्रकाश समस्त यूरोप के प्रत्येक ज्ञान-विभाग में आज भी पड़ रहा है। उसकी प्रतिभा और विद्वत्ता का लोहा आज के उन्नतिशील विचारक भी मुक्त-कण्ठ से मानते हैं। ग्रीस के प्रसिद्ध तत्वज्ञानी सुकरात का यह शिष्य था, और नामी राजनीतिज्ञ अरस्तू का गुरु था। इस का जन्म ईसा से ४३० वर्ष पूर्व और मृत्यु ईसा से ३४७ वर्ष पूर्व हुई थी। इसका "रिपब्लिक" नामक ग्रन्थ आज भी विचारक समुदाय में बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है। कई लोगों का तो यहाँ तक खयाल है कि यदि हम प्लेटो के लेखों का मर्म भली भाँति समझ लें तो उसके बाहर हमें कोई दार्शनिक तत्व न मिलेगा। इस ग्रन्थ में समाज व्यवस्था का भी सिल-सिलेवार वर्णन बातचीत के तर पौर बड़े हीं रोचक ढङ्ग से किया गया है। 'रिपब्लिक' के दूसरे, तीसरे और चौथे खण्ड में खास करके इसी व्यवस्था का वर्णन किया गया है। इन अध्यायों में उसने अपनी कल्पना के अनुसार एक आदर्श राष्ट्र और समाज की कल्पना की है। इसका सारांश हम नीचे देते हैं।

प्लेटो के मतानुसार मनुष्य-प्रकृति में तीन गुण प्रधान रूप से रहते हैं (१) बुद्धि (२) तेज और (३) वासना। इन तीनों

में से कुछ मनुष्य बुद्धि-प्रधान होते हैं और कुछ वासना-प्रधान होते हैं। बुद्धि से समाज का पोषण होता है और वासना से उसका नाश होता है। तेज इन दोनों का मध्यवर्ती गुण है। इस से समाज की रक्षा भी हो सकती है और नाश भी। प्लेटो का मत है कि यदि प्रत्येक मनुष्य अपने तीनों गुणों का विकास करने में लगे तो उसमें वह पूर्ण सफलता प्राप्त न कर सकेगा। अतः जिस मनुष्य में जिस गुण की प्रधानता हो उसीका विकास करके समाज में योगक्षेम करना चाहिए। इससे एक लाभ और होता है। वह यह कि इससे सभी मनुष्य एक दूसरे पर अवलम्बित रह कर सहयोग से रहते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था से समाज में सहज ही तीन प्रकार के विभाग हो जायंगे। पहला बुद्धि-प्रधान विभाग (True Guardians) दूसरा तेज-प्रधान विभाग (Auxiliaries) और तीसरा वासना-प्रधान विभाग (Husbandmen and craftsmen)।

पहले बुद्धि-प्रधान वर्ग के हाथ में समाज के संरक्षण का भार दे देना चाहिए। ऐसे लोगों को न्याय, सौन्दर्य्य, और संयम के तत्वों से पूर्ण वाकिफ होना चाहिए। ताकि वह इन तत्वों को शासितों के आचरण में उत्पन्न कर सकें। इसके अतिरिक्त ऐसे लोगों को मानस-शास्त्र के उन सूक्ष्म तत्वों का, जिनसे उपर्युक्त तत्वों की उत्पत्ति होती है, पूर्ण ज्ञाता होना चाहिए। इस प्रकार तत्वों के जानकार लोगों के हाथ जब समाज की व्यवस्था होगी तभी आदर्श समाज और राष्ट्र की उत्पत्ति हो सकेगी। इन बातों के अतिरिक्त शासक-वर्ग के लोगों के लिए यह आवश्यक है कि वे सांसारिक प्रलोभनों की उलझनों में न पड़े। बचपन ही से उन

की शिक्षा इस ढङ्ग की होनी चाहिए, जिससे उनकी वृत्ति विलास की ओर न झुक सके। क्योंकि यदि ये लोग सांसारिक उलझनों से उलझ जाएँगे तो फिर अपने कार्यों को कौशल पूर्वक न कर सकेंगे। इसलिए यह आवश्यक है कि सांसारिक प्रलोभनों से ये लोग बिलकुल मुक्त रक्खे जायँ। इनके भरण-पोषण की व्यवस्था राज्य अपनी ओर से कर दे। इसके अतिरिक्त इन लोगों को विवाहादि झगड़ों में भी न पड़ने दिया जाय। इनकी इस सम्बन्ध की आवश्यकता भी राज्य की ओर से ही पूर्ण की जाय। इस प्रकार ये लोग व्यक्तिगत सम्पत्ति, स्त्री पत्नी और पुत्रों के मोहमय जंजाल से बिलकुल मुक्त रक्खे जायँ। ऐसी व्यवस्था हो जाने पर ये लोग बिना किसी स्वार्थ-सिद्धि के ईमानदारी के साथ राष्ट्र का कार्य्य कर सकेंगे। क्योंकि जिन शासकों के कोई अलग घर द्वार नहीं, पत्नी-पुत्र नहीं, माल मिल्कियत नहीं, वे क्योंकर स्वार्थ के झगड़ों में पड़ेंगे? उन्हें किसका पेट भरना है? किससे उनका व्यक्तिगत प्रेम है? वे किसके लिए माल मिल्कियत इकट्ठी करेंगे? मतलब यह कि किसी प्रकार का स्वार्थ न रहने से इन लोगों का कार्य्य राष्ट्र के हित में बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। प्लेटो ने इसी को न्याय (Justice) अथवा धार्मिकता बताया है। और यही सामाजिक जीवन का मुख्य तत्व है।

शासकों के कर्त्तव्यों की आलोचना करते हुए प्लेटो अपने "रिपब्लिक" के चौथे अध्याय में लिखते हैं कि संरक्षकों का प्रथम कर्त्तव्य साम्यवाद का प्रचार करना होगा। इनकी व्यवस्था ऐसी हो जिससे समाज में न कोई नितान्त कंगाल रहने पावे और न

कोई अत्यन्त धनवान ही हो। इनका दूसरा कर्तव्य साम्राज्य को अत्यधिक विस्तार से बचाना होगा। तीसरा कर्तव्य संगीत और व्यायाम पर यथोचित दृष्टि रखना होगा। शेष छोटी-बड़ी बातें वे स्वयं सोच कर तय कर लेंगे।

समाज के दूसरे वर्ग में तेज-गुण प्रधान व्यक्ति (Auxiliaries) सम्मिलित रहेंगे। इन लोगों का कार्य्य अपने बाहुबल से समाज की बाह्य आपत्तियों से रक्षा करना होगा। बुद्धि-प्रधान वर्ग की सलाह या सहायता से ये लोग समाज में वीरत्व को समष्टिगत बनाए रक्खेंगे। प्लेटो ने इन तेजवान रक्षकों की तुलना गृह-रक्षक कुत्तों से की है। जिस प्रकार कुत्ता घर के लोगों से बिलकुल नरम और शान्त रहता है तथा अपने और परायों को भली प्रकार पहचानता है, उसी प्रकार इन तेजवान रक्षकों को भी इन गुणों से युक्त होना पड़ेगा। इन लोगों को भी अपने राष्ट्र और समाज के प्रति नरम और शान्त रहना होगा। पराये के साथ तेज और अपनों पर प्रेम दिखलाना होगा। परिणाम यह निकलता है कि तेज को बुद्धि की और तज्जन्य ज्ञान की आवश्यकता है। तेज-प्रधान व्यक्तियों को हमेशा बुद्धि-प्रधान व्यक्तियों की अधीनता में या उनकी सहायता से काम करना पड़ेगा।

समाज के तीसरे वर्ग में वासना-प्रधान साधारण मनुष्य (Husbandmen and craftsmen) सम्मिलित रहेंगे। इन लोगों पर समाज की खाद्य सामग्री को उत्पन्न करने तथा उसे समाज में आवश्यकतानुसार वितरण करने की जिम्मेदारी रहेगी और इसी में उन्हें अपनी कुशलता का परिचय देना होगा। ऐसे लोगों पर केवल इसी काम की जिम्मेदारी रहेगी।

प्लेटो के मतानुसार इस प्रकार की पद्धति से सारे समाज में अच्छी एकता बनी रह सकती है। एक एक काम एक एक पुरुष द्वारा ही सम्पन्न होने से अकारण और अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा दूर हो जाती है। और समाज में विशृंखलता आदि दोष नहीं देख पड़ते।

यह प्लेटो की समाज-व्यवस्था है। पाठकों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इस विचार-पद्धति से भारतीय विचार-पद्धति की धाराएं कहाँ तक मिलती हैं।

कैएट की विचार-पद्धति

अठारहवीं शताब्दि में फ्रान्स में आगस्ट कैएट नामक एक प्रसिद्ध समाज-शास्त्री हुआ था। यूरोपियन साहित्य में इसके पहले समाज-शास्त्र को एक स्वतन्त्र शास्त्र का स्वरूप अब तक किसी ने नहीं दिया था। "सोशियालाजी" शब्द का उत्पादक यही माना जाता है। इसीने सब से पहले मानव-जाति की सामुदायिक एकता की कल्पना करके बतलाया था कि यह समाज यन्त्र-रचना के समान अथवा देहधारी प्राणी के भिन्न भिन्न अंगों के समान परस्पर सम्बन्ध है। इसी कल्पना पर उसने अपने "पाजिटिव्ह फ़िलासफ़ी" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में मानव-समाज की उत्पत्ति की इमारत खड़ी की है। इस ग्रन्थ में इसने ईश्वरवाद का प्रबल रूप से खण्डन करके ईश्वर के स्थान पर मनुष्य-समाज की स्थापना की है। उसने प्रतिपादित किया है कि सृष्ट पदार्थों के अन्तर्गत मनुष्य-समाज ही सबसे उदात्त और पूजा करने के योग्य है। इस समाज की शुद्ध अन्तःकरण पूर्वक सेवा करना ही मनुष्य

का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है। जिस प्रकार प्राणी की शरीर-रचना में अनेक प्रकार के अववय होते हैं, और वे सब अपने अपने कार्य्य करते रहते हैं। लेकिन फिर भी उन सब का अन्तिम लक्ष्य शरीर का पोषण ही होता है, उनका अपना कोई पृथक् व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता, उसी प्रकार मानव-समाज के भी भिन्न भिन्न अवयव होते हैं। उनका कार्य भी अलग अलग होता है, पर उन सब के कार्यों की भिन्न-भिन्न धाराएं समाज-हित में जा कर एकाकार हो जाती हैं। इस कार्य्य-भेद के अनुसार कैण्ट ने मनुष्य-समाज को गुण-कर्मानुसार चार भागों में विभक्त कर दिया है। उसकी विचार-पद्धति का संक्षिप्त सारांश हम नीचे देने की चेष्टा करते हैं।

"परमेश्वर के स्थान पर मानव-समाज की प्रतिष्ठा कर देने के पश्चात् अखिल मानव-समाज पर असीम प्रेम करना और उसकी सेवा में दत्तचित रहना ही मनुष्य का परम-धर्म हो जाता है। पर सेवा का यह कार्य्य सब लोग एक ही रास्ते से नहीं कर सकते। क्योंकि सब लोगों की मानसिक और नैतिक स्थिति समान नहीं होती। प्रत्येक मनुष्य में अपनी विशेषता होती है। कोई विद्वान् होता है, तो कोई वीर होता है और कोई व्यापारी। अतः प्रत्येक मनुष्य को उसकी मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार सेवा का कार्य्य मिलना चाहिए। जिन लोगों का झुकाव बौद्धिक विकास की ओर हो, जो क्रमशः अपनी मानसिक और नैतिक उन्नति कर रहे हों, तथा स्वार्थ और सांसारिक प्रलोभनों की ओर जिनका आकर्षण न हो उन्हें एक प्रकार से पुरोहित-समाज में स्थान मिलेगा। अर्थात् भविष्य में तत्ववेता लोग ही मानव-समाज के पुरोहित होंगे और उनके नैतिक व्यवहार की शुद्धता पर ही समाज के सम्पूर्ण

भागों का योग क्षेम निर्भर रहेगा। सांसारिक प्रलोभनों के प्रति उदासीनता ही धार्मिक और नैतिक उन्नति का मूल मंत्र हैं। व्यवहार और परमार्थ पूर्णतया एक स्थान पर नहीं रह सकते, इसलिए यह पुरोहित वर्ग सत्य, शुद्ध और सदाचार के बगैर आदर्श के समाज का शिरोभाग, अग्रणी और स्वतंत्र होना चाहिए जगत् के सम्पूर्ण व्यवहारों से उदासीन हो जाने के कारण, सांसारिक सुखों में निमग्न रहने वालों की अपेक्षा इनका अधिकार बहुत अधिक होता है। ये लोग मनुष्य-जाति के उन्नतिशील कार्य्यों की प्रधान धुरी के समान हैं। भौतिक शास्त्र, काव्य, नीति आदि को अपने आचरण में मूर्त रूप देकर ये लोग दूसरों को अपने उदाहरण से उपदेश देंगे। लोक-शिक्षा का कार्य करने के लिए इस पुरोहित वर्ग का दूसरे वर्गों से बिलकुल पृथक् और स्वतंत्र रहना उचित है।

इसके पश्चात् लौकिक व्यवहार की ओर देखना आवश्यक है। शरीर के अन्तर्गत रक्त को एक भाग से दूसरे भाग में पहुँचाने के लिए जिस प्रकार रक्त-वाहिनी नाड़ियों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार धन और द्रव्यरूपी रक्त को राष्ट्र-शरीर के एक भाग से दूसरे भाग में पहुँचाने के लिए समाज में व्यापारी वर्ग की आवश्यकता है। जनता के आर्थिक कल्याण का उत्तरदायित्व इस विभाग पर निर्भर रहता है। पर द्रव्य की लालसा मदिरा के समान मनुष्य के लोभ को भड़का सकती है और लोभ के पंजे में फस कर यह विभाग समाज के दूसरे विभागों पर कहीं अन्याय न करने लगे इसलिए इस विभाग के व्यवहार पर किसी प्रकार का नैतिक दबाव होना आवश्यक है। यह काम पुरोहित विभाग

ही अच्छी तरह कर सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि पुरोहित वर्ग इस दूसरे वर्ग के कामों की देखभाल करता रहे, उनका मार्ग दर्शन करता रहे। इन दोनों विभागों के पारस्परिक प्रेम और शुद्ध व्यवहार पर ही समाज की उन्नति निर्भर है।

समाज के मस्तिष्क-स्थान पुरोहित-वर्ग और हृदय-स्थान व्यापारी वर्ग को कल्पना के पश्चात् एक ऐसे वर्ग की भी आवश्यकता है, जो उसके हाथ-पैर की जगह पर काम करे। यह वर्ग मजदूर वर्ग है। बिना इस वर्ग के कोई कार्य नहीं हो सकता, अतएव इस वर्ग की भी बहुत अधिक आवश्यकता है। समय के अभाव और द्रव्य की कमी के कारण ये लोग राजसूत्र नहीं चला सकते और न अपूर्ण बुद्धि तथा तात्विक कल्पनाओं के अभाव के कारण यह वर्ग समाज का मार्ग प्रदर्शक ही हो सकता है। शूद्र वर्ग सदा कार्य ही करता रहेगा। इनका बल इनकी संख्या पर निर्भर है।

पुरुष वर्ग के उपर्युक्त तीन विभागों में विभक्त हो जाने के पश्चात् समाज में बुद्धि विषयक तमाम व्यवस्था ठीक हो जायगी। पर केवल बुद्धि-बल पर हो मनुष्य के विचार-सामर्थ्य की इमारत खड़ी नहीं हो सकती। बुद्धि के भोजन के लिए कोमल मनोविभावों की भी अत्यन्त आवश्यकता है। दया वात्सल्य, प्रेम, भक्ति आदि उत्तरोत्तर ऊपर ले जाने वाली सीढ़ियां मनोरचना के एक महत्वपूर्ण भाग की प्रदर्शक है। संसार में इन मनोभावों का केन्द्र-स्थान स्त्री जाति है। सृष्टि के नियमानुसार सबल लोगों के द्वारा दुर्बलों की, धनियों के द्वारा गरीबों की और पुरुषों के द्वारा स्त्रियों की रक्षा होना अत्यन्त आवश्यक है। स्त्री-जाति स्वभावतः दुर्बल

होती है। गर्भ-धारण, प्रसूति, आदि के कारण उनके भरण-पोषण का भार पुरुषों को उठाना चाहिए और उसके बदले में स्त्रियों को गृह-कार्य में दक्ष रह कर पुरुष-जाति के प्रेम को बढ़ाना चाहिए।

यही कैण्ट की विचार-पद्धति का सारांश है। उसका मत है कि यदि उपर्युक्त ढाँचे पर समाज की रचना होगी तो मानव-समाज को अवश्य सुख प्राप्त होगा।

उपर्युक्त तीनों विचार-पद्धतियों को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता चलेगा कि इन तीनों के तत्वों में बहुत अधिक समानता है। तीनों ही विचार-प्रणालियों में एक ही तत्व दृष्टि-गोचर होता है। वह यह कि मनुष्य भिन्न भिन्न गुणों का समुदाय है। प्रत्येक मनुष्य में भिन्न भिन्न प्रकार के विशेष गुण होते हैं और प्रत्येक समाज में भिन्न भिन्न प्रकार के गुण-प्रधान मनुष्य रहते हैं। गुण-कर्म-सम्बन्धी यह भेद स्वाभाविक है और मनुष्य-समाज के जन्म के साथ ही इसका भी जन्म है। गुण और कर्मानुसार उच्च और नीच की यह कल्पना मनुष्य-समाज में अनादि काल से चली आ रही है। परिस्थिति की भिन्नता के अनुसार इस कल्पना की जड़ में कहीं धार्मिक तत्त्व मिलता है और कहीं साम्पत्तिक। पर किसी न किसी रूप में इस कल्पना का अस्तित्व सर्वत्र दृष्टि-गोचर होता है। अतएव समाज के हित के ख्याल से यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य को उसकी विशेषता के अनुसार ही सामाजिक सेवा का भार देना चाहिए। जिससे उसे अपने प्राकृतिक गुण का विकास करने के लिए उपयुक्त अवसर मिल जाय। इस प्रकार सब लोग जब अपने अपने विशेष गुणों का विकास करके पारस्परिक सहयोग से काम करेंगे तो समाज में सब गुणों का पूर्ण विकास

होगा, और दैवी सम्पद् समष्टिगत हो जायगी। इसके विपरीत यदि साम्यवाद की दुहाई देकर सब मनुष्यों को एक ही रास्ते पर जोत दिया जायगा, यदि सभी लोग शासक, सभी योद्धा और सभी मजदूर समझे जायँगे, तो कोई मनुष्य किसी भी गुण में अपना विकास न कर सकेगा और समाज मे अव्यवस्था फैल जायगी। साम्यवाद यह नहीं कहता कि सब लोगों को, विद्वानों को और मजदूरों को, पुरुषों को और स्त्रियों को योग्यता और अयोग्यता का तत्व समझे बिना ही एक रास्ते पर जोत दिया जाय। प्रत्युत साम्यवाद का असली रूप तो यही है कि हरएक मनुष्य को अपनी अपनी रुचि के अनुसार अपना अपना विकास करने की पूर्ण स्वाधीनता मिले। समाज प्रत्येक को योग्यतानुसार क्षेत्र देने में पूर्ण समानता का व्यवहार करे। इत्यादि।

उपर्युक्त पद्धतियों की आलोचना करने के पूर्व हमें उन उपपत्तियों पर भी एक निगाह डाल देना चाहिए जो इन पद्धतियों के विरोध में, तथा साम्यवाद के पक्षपातियों की ओर से उपस्थित की गई हैं।

साम्यवाद के पक्षपाती इन पद्धतियों की आलोचना करते हुए कहते हैं कि इन पद्धतियों में कई प्रकार की भूलें भरी हुई हैं। इनमें सृष्टि के दो प्रधान नियमों का उल्लंघन किया गया है, जिसके कारण ये तमाम विचार-धारायें शुरू से अन्त तक भ्रमपूर्ण हो गई हैं। इन पद्धतियों के प्रवर्तक और समर्थन करने वाले लोग सब से पहले इस बात को भुला देते हैं कि सब मनुष्य, प्राणी-स्वभाव के अनुसार तत्वतः एक समान हैं। समुद्र के वक्षस्थल पर उठने वाली असंख्य तरङ्गे भिन्न भिन्न दिखलाई देने पर

भी तत्त्वतः समान हैं। उनका वह भेद ऊपरी और गौण है। उसी प्रकार मानव-समाज का घटक स्वरूप प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य के समान ही है। सभी मनुष्यों के शारीरिक अवयव हड्डी, मांस, मज्जा आदि तो एक से ही होते हैं। क्या कोई ऐसा भी विषय है जिसे मनुष्य-प्राणी चेष्टा करने पर भी न सीख सके। शिक्षा के प्रभाव से और उसके अभाव से क्या मनुष्य रोजगार की ऊँच-नीच स्थिति को प्राप्त नहीं हो सकता? जब मनुष्य परिश्रम से रोजगार का ज्ञान प्राप्त कर सकता है, तब क्या वह उसी प्रकार के परिश्रम से तत्त्व-ज्ञान का अनुभव प्राप्त नहीं कर सकेगा? मतलब यह कि मनुष्यों का व्यक्तिगत भेद उनकी पारस्परिक समानता की तुलना में बहुत क्षुद्र है। ऐसी हालत में सम्पूर्ण मानव-जाति को एक प्राणी की उपमा देकर भिन्न भिन्न समूहों को उसके भिन्न भिन्न भाग मानना और उनमें अवास्तविक तारतम्य की कल्पना करना क्या अज्ञान का लक्षण नहीं है? प्राणी-शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों का कुछ ऐसा अन्तः सम्बन्ध होता है कि उनमें से किसी भी एक अवयव की क्रिया का परिणाम उसके दूसरे अवयवों पर भी होता है। कई अंशों में मानव-जाति की भी यही स्थिति है और इसी से सम्भवतः मानव-जाति को प्राणी-शरीर की उपमा देने की कल्पना का उदय हुआ होगा। पर इसी एक कारण से उसके भागों में ऊँच और नीच की कल्पना कर लेना पागलपन है। पृथ्वी के गोले पर पर्वतादि ऊपर उठे हुए, और समुद्रादि नीचे घुसे हुए प्रदेश अधिष्ठित हैं। परन्तु परिधि के मान से इस निम्नोन्नतता का कुछ भी महत्त्व नहीं समझा जाता। इस भेद-भाव से उसकी गोलाई में कुछ भी बाधा नहीं आती। इसी

प्रकार बुद्धि और शरीर सम्बन्धी क्षुद्र भेदों से समानता के महान् तत्त्व में भी किसी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती। इसके अतिरिक्त मानव-जाति के साथ सजीव शरीर की तुलना करना एक और भी दृष्टि से भ्रमात्मक है। वह यह कि मनुष्य की शरीर-रचना बिलकुल नियमित होती है। जिस स्थान पर जो अङ्ग होना चाहिए वहीं वह रहता है। इसी प्रकार उन अवयवों का कार्य्य भी नियमित है। एक अवयव से दूसरे अवयव का कार्य्य नहीं हो सकता। पर मनुष्य-समाज का प्रत्येक व्यक्ति शिक्षा और अभ्यास से समाज का प्रत्येक कार्य्य कर सकता है। एक राजनीति-कुशल मनुष्य भी प्रसङ्ग पड़ने पर शस्त्र धारण कर सकता है और शिक्षा के द्वारा एक किसान भी लोक-नायक बन सकता है। ऐसी दशा में व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह को जकड़ कर उसकी योग्यता और कर्त्तव्य-शक्ति को शृंखलाबद्ध कर देना मनुष्य-जाति को भयङ्कर अवनति के पथ पर पहुंचा देना होगा। यद्यपि इन पद्धतियों में सब के साथ उदारता के व्यवहार का नियम रक्खा गया है, फिर भी इनमें मनुष्य-जाति के स्थूल और सर्वव्यापी साधर्म्य की अपेक्षा क्षुद्र और संकुचित वैधर्म्य की ओर ही अधिक दृष्टि रक्खी गई है। इन पद्धतियों की प्रवर्तकों और पुरस्कर्ताओं ने मनुष्य-जाति को चार बड़ी बड़ी कोठरियों में बन्द करके उसके विकास को रोकने का प्रयत्न किया है। पर हमको आशा करना चाहिए कि मनुष्य प्राणी इन अस्वभाविक बन्धनों में न फँस कर मन चाहे वृक्ष पर अपना घर बनाने की स्वतन्त्रता रखने वाले पक्षियों के समान स्वतन्त्र रहेगा। और यह आशा पूर्ण होने का समय शीघ्र ही प्राप्त होगा।

इस प्रकार परस्पर विरुद्ध इन दोनों विचार-पद्धतियों में सत्य का कहाँ तक अंश है इस बात पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक होगा।

इतिहास का गम्भीरता पूर्वक अनुशीलन करने के पश्चात् इस बात में तो किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता कि जब से मनुष्य-जाति का ऐतिहासिक अस्तित्व प्रारम्भ हुआ है तभी से उसके अन्तर्गत ऊँच और नीच की भावनाओं का अस्तित्व किसी रूप में बराबर रहता आया है। इन भावनाओं के मूल में कहीं धार्मिक तत्व दृष्टि-गोचर होता है तो कही साम्पत्तिक तत्व दिखलाई देता है और कहीं पर राजनैतिक और सामाजिक तत्व की भित्ति पर ये भावनाएं खड़ी दिखलाई देती हैं। पर किसी न किसी रुप में इनका अस्तित्व अवश्य मिलता है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर तो साम्यवादियों की यह कल्पना कि सभी मनुष्य शिक्षा और अभ्यास के द्वारा एक श्रेणी पर पहुँच सकते हैं और ऊँच-नीच की कल्पना जो अस्वाभाविक है, असत्य ठहर जाती है।

पर केवल इतिहास पर ही विश्वास करके किसी तत्व का स्वरूप निश्चित कर लेना अत्यन्त भ्रमात्मक है। क्योंकि मनुष्य उन्नतिशील प्राणी है उसका भविष्य, भूतकाल की अपेक्षा उज्ज्वल रहता है। भूतकाल के अनुभवों से यह लाभ अवश्य उठा सकता है। पर केवल भूतकाल के आधार पर उसके भावी तत्व निश्चित नहीं हो सकते। इतिहास में ऐसी बहुतसी बातों का पता तक नहीं है जिनकी आज खोज हो रही है और जिनसे मनुष्य-जाति अपरिमित लाभ उठा रही है। इसी प्रकार सम्भव है उंच और

नीच की कल्पना भी उस समय अस्वाभाविक और बुरी न मानी जाती हो और इसी कारण उसका अस्तित्व नष्ट न हुआ हो। पर आज के जमाने में तो वह बुरी मानी जाती है और उसका अस्तित्त्व नष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसी हालत में केवल इतिहास का पल्ला पकड़ कर, उसको अस्वाभाविक कह देने ही से संसार का समाधान नहीं हो सकता। हमें तात्विक दृष्टि से भी यह देखना चाहिए कि ये भावनायें स्वाभाविक हैं या नहीं ? यदि हैं तो इनमें कितना अंश स्वाभाविक है और कितना अस्वाभाविक ? और समाज-शास्त्र की दृष्टि से इनका सुन्दर से सुन्दर रूप क्या हो सकता है।

सब से पहले हमें मानस-शास्त्र की दृष्टि से इस तत्त्व की परीक्षा करनी चाहिए। मानस-शास्त्र निर्विवाद रूप से इस बात को प्रतिपादन करता है कि प्रत्येक मनुष्य की मनोभावनाओं में प्राकृतिक रूप से कुछ विशेषतायें अवश्य रहतीं हैं। उसके पश्चात् संस्कार और परिस्थिति इन विशेषताओं को और भी दृढ़ या कमजोर कर देती है। इन विशेषताओं के अनुकूल यदि मनुष्य को क्षेत्र मिले, तो उसमें वह असाधारण उन्नति करके बतला सकता है। पर यदि उसके प्रतिकूल उसे क्षेत्र मिला तो उसके क्षेत्र और उसके विशिष्ट गुण के बीच में घात-प्रतिघात होने लगते हैं, जिससे उसकी शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। किसी भी स्कूल में आप चले जाइए, आप देखेंगे कि उसमें कई लड़के तो ऐसे होते हैं जिन पर अध्यापक थोड़ा ही परिश्रम करते हैं और वे चल निकलते हैं। पर कई लड़के ऐसे होते हैं जिन पर अध्यापक परिश्रम करते करते थक जाते हैं, मगर वे चलते ही नहीं। इसका

क्या कारण ! क्या वे लड़के निकम्मे हैं ? नहीं, असल बात यह है कि उनका यह क्षेत्र ही नहीं है। उनकी मनोरचना के विरुद्ध उनसे काम लिया जाता है और इसी कारण उनका और अध्यापक का जीव एक हो जाने पर भी वे नहीं बढ़ने पाते। अब आप उन सब लड़कों को किसी खान में खुदवाने के लिए, या किसी युद्ध के मैदान में लड़ने के लिए ले जाइए। आप देखेंगे कि उस स्कूल के वे मूर्ख लड़के अब कितने उत्साह से काम करते हैं और वे बुद्धिमान लड़के वहाँ किस प्रकार मूर्ख साबित होते हैं। मतलब यह कि मनुष्यों की मनोरचना में जो स्वाभाविक भेद होता है, वह अभी तक तो मनुष्यों के प्रयत्नों से मिटता हुआ दिखलाई नहीं देता। ऐसी स्थिति में यदि हम समाज-रचना के समय इस आवश्यक भेद पर ध्यान न रक्खेंगे तो हमारी समाज-रचना कभी सफल न होगी। हाँ, यह मानने में किसी को इन्कार न होगा कि व्यक्तिओं को अपनी विशेषताओं का विकास करने का मौका पूर्ण साम्यवाद के तत्त्व पर दिया जाय।

अब जरा शरीर-शास्त्र की दृष्टि से इस विषय पर विचार कीजिए। प्रत्येक मनुष्य की शरीर-रचना को यदि आप सूक्ष्म दृष्टि से देखेंगे तो आप को भिन्न भिन्न शरीरों में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य दिखलाई देगा। इस शरीर-रचना के अनुसार प्रत्येक मनुष्य की मनोरचना में भी अन्तर पड़ जाता है, जिससे उनमें भिन्न भिन्न प्रकार की विशेषताएं उत्पन्न हो जाती हैं। निग्रो जाति के लोगों को देखिए। ये लोग बिलकुल काले होते हैं। इसका शिरो भाग ठोड़ी से बहुत पीछे रहता है इन लोगों में बुद्धि और मानसिक शक्ति का प्रायः अभाव होता है। पर इनके मनोविकार

बहुत प्रबल और भयङ्कर होते हैं। ये लोग किसी के प्राणों का कुछ मूल्य नहीं समझते। मरना और मारना इनके लिए मामूली बात है। लेकिन पीत वर्ण के लोगों की शरीर-रचना नीग्रो लोगों से बिलकुल विरुद्ध होती है। अर्थात् इनका शिरोभाग ठोड़ी की अपेक्षा आगे झुका हुआ रहता है। इनका मस्तक चौड़ा और उंचा तथा चेहरा तिकोना होता है। ये लोग प्रायः आलसी होते हैं। इनका उत्साह और इच्छा-शक्ति बहुत दुर्बल होती है। इधर आर्य्य लोगों को देखिए। इनकी शरीर-रचना आप और ही तरह की पाएंगे। इनकी शरीर-रचना के अनुसार इनकी बुद्धि, इनका उत्साह और इनकी कार्यप्रद्धति बहुत सुंदर होती है। ये भिन्न भिन्न जातियों के उदाहरण हैं। इसी प्रकार भिन्न २ व्यक्तियों में भी शरीर-रचना सम्बन्धी भेद रहता है। समाज-रचना में इस भेद की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

अब समाज-शास्त्र की दृष्टि से भी इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए। कल्पना कीजिए एक मनुष्य ने अपने परिश्रम के बल से बहुतसा धन कमा लिया, और दूसरा मनुष्य अपने प्रमाद की वजह से या अन्य कारणों से गरीब है। वह भूखों मरता हुआ उस धनवान के द्वार पर कर्ज लेने के लिए जाता है। वह धनवान उसे कर्ज देता है। क्या कोई कह सकता है कि इन दोनों मनुष्यों के अन्तःकरण में ऊँच-नीच की भावनाओं का अस्तित्व ही नहीं है? साम्यवादी कहेंगे कि हमारे समाज में सम्पत्तिशाली और गरीब रहेंगे ही नहीं। खैर, कुछ क्षणों के लिए हम भी इस बात को मान लेते हैं। और दूसरा उदाहरण देखिए। एक मनुष्य कारीगर है, वह अपनी प्रतिभा के बल से चार रुपये रोज कमाता

है, उसके अधिकार में दस मज़दूर काम करते हैं वे एक रुपया रोज कमाते हैं। कारीगर उनको आज्ञा देता है और वे उसका पालन करते हैं। एक मास्टर है उसके पास पचास विद्यार्थी पढ़ते हैं, मास्टर उनको आज्ञा देता है, उनको नत-मस्तक होकर वह आज्ञा स्वीकार करना पड़ती है। यदि ये नहीं करते हैं तो वह उन्हें सजा भी देता है। एक पिता है, उसके दस पुत्र हैं, पिता उनको आज्ञा दे सकता है, मगर पुत्र वैसा नहीं कर सकते। उन्हें नम्रता-पूवक आज्ञा का पालन करना ही पड़ता है। क्या इन भावनाओं में ऊँच और नीच का तत्त्व नहीं है? फिर क्या साम्यवाद को तत्त्व इन भावनाओं को नष्ट कर सकता है?

इतने विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि, केवल ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं प्रत्युत शरीर-शास्त्र, मानस-शास्त्र, समाज-शास्त्र आदि शास्त्रों की तात्विक दृष्टि से भी ऊँच और नीच की भावनाएं प्राकृतिक हैं और जब तक मनुष्य "मनुष्य" है तब तक ये भावनाएं नहीं मिटाई जा सकतीं।

अब हमें देखना यह है कि ऊंच और नीच की इन प्राकृतिक भावनाओं को मद्दे नजर रख कर उपर्युक्त तत्त्व-ज्ञानियों ने जो विचार-पद्धतियां निश्चित की हैं, वे कहाँ तक ठीक हैं, और समाज-शास्त्र की दृष्टि से उनका कितना महत्त्व है?

सब से पहले ऐतिहासिक दृष्टि से हमें इसकी आलोचना करनी चाहिए। प्लेटो की पद्धति का तात्विक महत्त्व कितना ही हो पर उसका ऐतिहासिक महत्त्व कुछ भी नहीं है। क्योंकि उनकी पद्धति केवल शास्त्र की मर्यादा ही में मर्यादित रही, उसका व्यावहारिक स्वरूप शायद ग्रीस ने कभी नहीं देखा। इसी प्रकार कैएट

की विचार-पद्धति का वास्तविक स्वरूप भी यूरोप ने शायद अङ्गीकार नहीं किया। हाँ, भारतवर्ष की वर्णाश्रम धर्म की विचार-पद्धति अवश्य पूर्ण रूप से व्यवहार में आई, बल्कि यह कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी कि यहाँ की समाज-रचना का प्राण ही यह पद्धति है। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से इसी का महत्व सब से अधिक है।

ऐसा कहा जाता है कि भारतवर्ष में यह पद्धति जिस समय प्रचलित थी तब यहाँ की समाज-व्यवस्था बहुत सुन्दर थी। सम्भव है इतिहास काल के पूर्व किसी समय यह बात सत्य साबित हुई हो। पर ज्ञात इतिहास में तो हमारी कल्पना के अनुसार हमारी समाज-रचना का सुन्दर स्वरूप कहीं भी देखने को नहीं मिलता। हमारे इतिहास में रामचन्द्र का काल सब से उन्नत, सब से सुन्दर, और सब से सुखी माना जाता है। पर उस काल में भी हमें तपस्वी शूद्रक का रामचन्द्र के द्वारा वध महासती सीता का निर्वासन आदि कई घटनाएं ऐसी मिलती हैं जिन्हें देखकर हमारा हृदय अत्यन्त दुःखी होता है। जब स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम के हाथों से हम इस प्रकार की घटनाओं को होती हुई देखते हैं तब साधारण मनुष्यों के हाथ से ऐसी कितनी घटनाएँ होती होंगी इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार महाभारत काल में भी हमें ऐसी ही अव्यवस्था दिखलाई देती है। द्रोणाचार्य और कृपाचार्य क्षत्रिय-कर्तव्य को ग्रहण कर शस्त्र धारण करते हैं, इसके लिये समाज में कोई दण्ड-विधान नहीं, किंतु शस्त्र-परीक्षा में कर्ण को, महज इसी बात के लिए रोक दिया जाता है कि वह दासी-पुत्र है। इसी प्रकार महा सती द्रौपदी

को रुपये पैसे की भाँति जुए के दांव पर फेंक देना बतलाता है कि उस समय हमारे समाज में स्त्रियों का क्या स्थान था। महाभारत के पश्चात् तो वर्ण-व्यवस्था का महा भीषण स्वरूप हमें दिखाई देता है, जिसका वर्णन इतिहास के पृष्ठों पर काले अक्षरों में अङ्कित है और जिस को नष्ट करने के लिए इस देश में भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर का अवतार हुआ था।

वर्ण-व्यवस्था के समान सुन्दर व्यवस्था के इस भीषण ऐतिहासिक परिणाम के मूल कारणों पर जब हम विचार करते हैं तो हमें माल्रूम होता है कि इन परिणामों का मूल कारण वर्ण-व्यवस्था नहीं, प्रत्युत इस व्यवस्था के पालन में की हुई एक भयङ्कर भूल है। हम पहले लिख आये हैं कि इस सिद्धान्त की भित्ति जन्म और वंश परम्परा पर नहीं प्रत्युत गुण और कर्म पर रक्खी गई थी। वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था का चुनाव गुण और कर्म के अनुसार ही होता था, और इसी कारण उस काल की वर्ण-व्यवस्था में हमें इस प्रकार की कोई अशान्ति नहीं दिखलाई देती। लेकिन रामायण और महाभारत काल में यह चुनाव जन्म-परम्परा से होने लग गया था। इसी भयङ्कर भूल के परिणाम स्वरूप दिव्य-ब्राह्मण-गुण-सम्पन्न महर्षि शूद्रक केवल शूद्र-वंश में जन्म लेने के कारण काट डाले गये, और उज्वल क्षात्र-गुणों वाले कर्ण को बार-बार अपमानित होना पड़ा था। इस भूल का दूसरा दुष्परिणाम यह हुआ कि उच्च वर्ण के लोगों में कुलभिमान का सञ्चार हो गया। वे समझने लगे कि यह प्रतिष्ठा तो हमारी वंश-परम्परा के लिए जन्म-सिद्ध हो गई। अब यदि हम लोग अपने कर्तव्य का पालन न भी करें तो हमारी कोई हानि नहीं हो

सकती। इसी अभिमान से प्रेरित होकर इन लोगों ने अपने से नीचे वाले वर्णों पर मनमाना अधिकार चलाना प्रारम्भ किया। यदि वर्ण-व्यवस्था में यह विकृति उत्पन्न न हुई होती तो न तो ब्राह्मणों में दम्भ बढ़ता, और न शूद्रवंश में जन्म मात्र ले लेने के कारण शूद्रों को इतना अन्याय सहना पड़ता।

मतलब यह कि इस प्रकार की जितनी भी ऐतिहासिक घटनाएं हमें देखने को मिलती हैं, उनका उत्तरदायित्व वर्णाश्रम पद्धति पर नहीं, प्रत्युत इसके सम्बन्ध में की हुई मानव-समाज की भूलों पर है। यदि यहां का मनुष्य-समाज इसके मूल सिद्धांतों की रक्षा करता तो संभव है इस प्रकार की घटनाओं के उत्पन्न होने का अवसर न आता।

अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से इस पद्धति पर जो दोषारोपण किया जाता है वह सत्य होने पर भी इसके वास्तविक स्वरूप पर सिद्ध नहीं हो सकता, उसका कुल दायित्व इसके विकृत स्वरूप पर है।

अब हमें मानस-शास्त्र की पद्धति से इस व्यवस्था की जांच करना चाहिये। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि वर्णाश्रम-व्यवस्था के विधायकों ने इसका आविष्कार करते समय मनुष्य के स्वभाव को एक क्षण के लिए भी नहीं भुलाया था। मनुष्य के अन्दर जितनी भी स्वार्थमूलक कमजोरियां वास करती हैं प्रायः उन सब का उन्हें ध्यान था। इस लिए उन्होंने इसमें कई ऐसी सुविधाएं रक्खी हैं जिनसे इन कमजोर वृत्तियों की तृप्ति करते हुए भी मनुष्य अपने सामाजिक जीवन की रक्षा कर सके। फिर भी इस पद्धति में मनुष्य के परिवर्तनशील स्वभाव अथवा उसकी चंचल प्रकृति का समीकरण न हो सका। फलतः अत्यन्त गंभीरतापूर्वक

आविष्कृत की हुई इस पद्धति में भी एक दो अत्यन्त महत्वपूर्ण कमजोरियां रह गईं।

(१) पहली कमजोरी इस पद्धति में यह है कि इसमें मनुष्य के कई मनोविकारों की उपेक्षा हो गई है। यह बात सत्य है कि मनुष्य में एक गुण विशेष रूप से प्रधान होता है। पर इस के साथ ही यह भी निश्चित है कि उस में दूसरे गुणों की भी मात्रा रहती है। इस पद्धति में मनुष्य के प्रधान गुण को तो अपना लिया गया है, उस गुण का विकास करने के साधन तो उत्पन्न कर दिये गये हैं; मगर उसके दूसरे गुणों की बिलकुल उपेक्षा की गई है। परिणाम यह होता है कि जब तक मनुष्य में उसका प्रधान गुण जागृत रहता है तब तक तो वह मर्यादित रहता है, पर देश, काल और परिस्थिति का संयोग मिलने पर कभी कभी उसमें दूसरी वृत्तियों का भी स्फुरण होता है। मनुष्य की त्याग-वृत्ति और उसका बुद्धिबल इस स्फुरण को कई बार दबा देता है, लेकिन कभी कभी यह भाव इतने प्रबल वेग से जागृत होता है कि जिसे न तो मनुष्य की त्याग-वृत्ति रोक सकती है और न उसका बुद्धि बल रोक सकता है। इस स्फुरण से उसकी मनोवृत्तियों में एक प्रकार का संघर्ष होता है। जिससे उसके मन में एक प्रकार की क्रान्ति मच जाती है। इस बात को एक दो उदाहरण देकर सिद्ध करना और भी उपयुक्त होगा। मान लीजिए एक ब्राह्मण है, वह दिन-रात क्षत्रियों के राज मन्दिरों में आता जाता है, राजा और रानी उसके पैरों की पूजा करते हैं। उसके चारों ओर यहां विलास और ऐश्वर्य के रमणीय दृश्य हैं। इस के अतिरिक्त यहां उसके हाथ में बुद्धि के साथ साथ सत्ता भी

है, धर्म-व्यवस्था देने का उसे यहां पूर्ण अधिकार है। ऐसी स्थिति में क्या उसकी वासना-मय भावनाएं जागृत होने से बचेंगी? क्या ऐसी कठिन परिस्थिति में उसकी त्याग-वृत्ति उसे पतन से बचा सकेगी? बड़े बड़े महर्षि और महात्मा जङ्गलों में रहकर भी जब अपने संयम की रक्षा न कर सके, तब कौन विचारवान पुरुष यह आशा कर सकता है कि इस महान् ऐश्वर्य और विलास के बीच, जहां उनके हाथों में पूर्ण सत्ता है, ये लोग अपने आप को वहां निर्लिप्त रख सकेंगे? हम मानते हैं कि कुछ मनुष्य ऐसे भी अवश्य निकलेंगे जो विलास और ऐश्वर्य के अन्तिम दृश्यों पर घृणा से लात मार कर निकल जाएँगे। पर क्या कभी यह सम्भव है कि एक जाति या एक समुदाय का समुदाय ऐसा हो जाय? इधर शूद्रों की भी यही हालत होगी। उन में प्रधानतः शूद्रत्व की भावनाएँ रहतीं हैं। पर किसी न किसी अंश में उनमें ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व और वैश्यत्व की भावनाएं भी जरूर निवास करती हैं। ऐसी स्थिति में समय और परिस्थिति-वश जब कभी उनके अन्दर इन भावनाओं का उदय होगा, उस समय क्या उनमें अपनी स्थिति के प्रति असन्तोष उत्पन्न न होगा? उस समय क्या निश्चिन्तता का पुरस्कार इस स्थिति से उनकी रक्षा कर सकेगा? ऐसी स्थिति में क्या वे लोग अपनी उन्नति की तैय्यारी करके उक्त वर्णों में सम्मिलित होने के लिए प्रस्तुत न होंगे? और उन की इस उत्सुकता से क्या समाज-व्यवस्था में धक्का न पहुंचेगा?

(२) दूसरी बात यह है कि इस पद्धति में गुण-कर्मानुसार चुनाव की योजना का समर्थन किया गया है। वस्तुतः यही

योजना समाज-रचना के लिये उपयुक्त भी है । मगर इस पद्धति में एक बड़ी भारी कठिनाई यह है कि चुनाव किस नियम से हो? किस कसौटी से मनुष्य की परीक्षा की जाय? पहले के जमाने में ब्रह्मचर्याश्रमों में गुरु अपने विद्यार्थियों की मनोवृत्तियों की परीक्षा करते थे, और वहाँ से निकलते समय वे प्रत्येक विद्यार्थी को जिस वर्ण के वे योग्य समझते उस का प्रमाण-पत्र दे देते थे। यह व्यवस्था है तो बड़ी सुन्दर, पर अल्प-जन-संख्यक समाज ही में यह उपयोगी हो सकती है। इससे मनुष्य के अन्तःकरण की चञ्चलता कई अंशों में इस योजना में बाधक होती है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक व्यक्ति की अन्तः प्रेरणा आज उसे जिस मार्ग से लेजा रही है, दो बरस बाद वह उसे बिलकुल ही दूसरे मार्ग पर चलने को बाध्य कर देती है। आज जो मनुष्य आनन्द पूर्वक नौकरी कर रहा है, संस्कारों के परिवर्त्तन से कल वही नौकरी से घृणा करके व्यापार करने लग जाता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य के मनोभावों पर निश्चित मत दे देना महा कठिन है। इस प्रकार के मत आगे चल कर बड़े गलत प्रमाणित होते हैं। यही कारण है कि कुछ समय तक तो गुण कर्मानुसार चुनाव की यह प्रथा चलती रही। मगर आगे जाकर जब लोगों ने इसकी असुविधाओं को देखा, और इसके साथ यह भी देखा कि प्रत्येक मनुष्य के शरीर और मन पर उसके माता पिता और कुल का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है, प्रत्येक वर्ण की सन्तानें अकसर उसी वर्ण के तुल्य होती हैं, और जन्म के अनुसार चुनाव का यह तरीका है भी सुविधा-जनक, तो चट उन्हों ने इस पद्धति को अङ्गीकार कर लिया।

मगर इस पद्धति के प्रचलित होते ही समाज में भीषण विशृंखलता मच गई। ब्राह्मणों ने स्वार्थ प्रवृत्ति से प्रेरित होकर सोचा कि ब्राह्मणत्व का पट्टा तो हमें पुश्त दर पुश्त के लिए मिल ही गया है, अब ज्ञान सम्पादन करें तो क्या और न करें तो क्या? त्यागी रहें तो क्या और विलासी रहें तो क्या? फल यह हुआ कि इन लोगों ने अपने स्वार्थों का समर्थन करने वाले कई विधानों की रचना कर डाली। इन्हीं विधानों के द्वारा उन्हों ने शूद्रों के पठन-पाठन और तपस्या के अधिकार भी छीन लिये, जिससे वे पठन-पाठन और अध्ययन में उनसे आगे न बढ़ सकें। इन्हीं विधानों के द्वारा उन्होंने यज्ञ में पशु-बलिदान की प्रथा का अविष्कार किया। इन्हीं विधानों के द्वारा यहाँ का स्त्री-समुदाय, पुरुष-समुदाय की मौरूसी जायदाद करार दिया गया। इस के अतिरिक्त छूआछूत, जाति पांति आदि रोगों का जन्म भी इसी पद्धति में से हुआ।

मतलब यह कि गुण और कर्म के अनुसार चुनाव की कठिनाई ने इस भयङ्कर स्थिति को जन्म दिया। इतने विवेचन का निष्कर्ष यह है कि यद्यपि यह पद्धति मनुष्य स्वभाव और मनोरचना की बहुत छान बीन कर आविष्कृत की गई है, फिर भी मानसशास्त्र की दृष्टि से इस में कुछ ऐसी तात्विक कमजोरियां हैं, जिनके निकल जाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

अब जरा सामाजिक दृष्टि से भी इस पद्धति पर कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। इस पद्धति के अनुसार एक एक विभाग का उत्तरदायित्व एक एक विभाग पर रक्खा गया है। केवल ब्राह्मण वर्ग को दूसरे वर्गों के कार्य्यों में हस्तक्षेप करने का अधि-

कार दिया गया है। शेष तीन वर्गों पर केवल अपने अपने कर्तव्यों का दायित्व रक्खा गया है। अब यदि ब्राह्मण वर्ग आपस में संगठन करके कर्तव्य-च्युत हो जाय तो उसे ठीक मार्ग पर लाने के लिये समाज के पास कोई व्यवस्था नहीं। मौजूदा व्यवस्था के अनुसार तो ब्राह्मण चाहे कैसा ही अपराध क्यों न करे, मगर एक नियमित मर्यादा के बाहर ब्राह्मण को सजा देने का राजा को कोई अधिकार ही नहीं, ब्राह्मण-वर्ग के कर्त्तव्य-च्युत होते ही समाज का ज्ञान द्वार बन्द हो जाता है। इसी प्रकार यदि क्षत्रिय-वर्ण कर्त्तव्य-च्युत हो जाय तो फिर समाज की रक्षा करने वाला भी कोई न रहे। चाहे बाहर का आततायी थोड़े से सैनिकों को लेकर समाज को लूट ले जाय, मगर दूसरे वर्ण के लोग चाहे वे हजारों और लाखों की संख्या में भी क्यों न हो उस से अपनी रक्षा न कर सकेंगे कहा जाता है कि जिस समय सोमनाथ का मन्दिर लूटा गया था, उस समय उस अतुल धन-सम्पत्ति के साथ मुहम्मद गजनवी एक लाख मनुष्यों को भी पकड़ कर ले गया था। यदि केवल क्षत्रियों पर ही देश की रक्षा का भार न होता तो क्या एक लाख मनुष्य उस थोड़ी सी सेना के वश में हो सकते थे ? मनुष्य तो क्या एक लाख पशु भी इतने मनुष्यों के साथ आसानी से नहीं जा सकते। यदि रक्षा का भार केवल क्षत्रियों पर ही न होता तो क्या इतने लोगों के देखते सोमनाथ का मन्दिर अनायास लूटा जा सकता था ? तात्पर्य्य यह कि इस पद्धति के अनुसार एक एक बात के लिए समाज एक एक वर्ण के पराधीन रहता है। एक दृष्टि से विचार करने पर इस पद्धति से कुछ लाभ भी दृष्टि-गोचर होता है। इस से सामाजिक सहयोग की वृद्धि होती है जो कि

समाज-रक्षा के लिए एक आवश्यक बात है। मगर यह लाभ तभी तक सम्पन्न हो सकता है जब तक सब वर्ण अपने अपने कर्तव्य पर दृढ़ हों। मगर यह विश्वास कर लेना कि प्रत्येक समय में प्रत्येक वर्ण अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ ही रहेगा, बहुत बड़ा भ्रम है। इस के लिए समाज के पास हमेंशा इतनी शक्ति सञ्चित होना चाहिये कि यदि कोई वर्ण कर्त्तव्य-च्युत हो जाय तो उसे दबाने के लिये, या उस के अभाव में बाहरी आततायियों से अपनी रक्षा करने में यह पूर्ण समर्थ रहे।

ऊपर हम ने वर्ण व्यवस्था के गुण दोषों पर संक्षिप्त में विवेचन किया है। मानव मनोरचना इतनी विषम रहस्य-मयी, चञ्चल और उत्थान, पतन से युक्त है कि अभी तक मनुष्य उसकी पूरी २ थाह पाने में असमर्थ रहा है। इस के सम्बन्ध में अभी तक जितने नियम निश्चित हुए हैं उन सब में कुछ न कुछ अपूर्णता रह गई है। ऐसी स्थिति में किसी भी पद्धति के दोष दिखा देना उतना मुश्किल नहीं है, जितना किसी निर्दोष पद्धपि को बतला देना है। बल्कि यह तो असम्भव ही है। यही बात वर्ण-व्यवस्था के लिए भी कही जा सकती है। तत्वतः इतनी कमजोरियों के दृष्टिगोचर होने पर भी, मनुष्य जाति के द्वारा अविष्कृत की हुई दूसरी पद्धतियों के साथ जब हम इस की तुलना करते हैं तो हमें उन सब में यही पद्धति श्रेष्ठ दिखलाई देती है। ऊपर जिन त्रुटियों का दिग्दर्शन करवाया गया है उन में से कुछ तो ऐसी है जिन के निराकरण का उपाय शायद अभी तक प्राप्त ही नहीं हुआ। फिर भी यदि इस पद्धति में निम्नाङ्कित सुधार कर दिये जांय तो इस का स्वरूप और भी अधिक सुन्दर हो सकता है।

(१) चुनाव की पद्धति जन्म और कर्म दोनो के संयोग से रक्खी जाय। यह बात स्वीकार करने में किसी को बाधा नहीं हो सकती कि मनुष्य पर उसके गर्भज और जन्मज संस्कारों का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। बल्कि यह कहा जाय तो भी अतिशयोक्ति न होगी कि उसे साठ प्रतिशत संस्कार जन्म से दाय रूप में मिलते हैं और चालीस प्रतिशत वह अपनी योग्यता से बढ़ाता है। इस प्रकार की पद्धति से लाभ यह होगा कि गुण और कर्मानुसार चुनाव करने में जो कठिनाई होती है वह कई अंशों में हल हो जायगी। और जन्म गत चुनाव होने से मनुष्य में जिस मिथ्याभिमान का सञ्चार हो जाता है वह भी न होगा।

(२) कुछ नियमों के साथ समाज में वर्ण-परिवर्तन की भी व्यवस्था रक्खी जाय, जिस से यदि कभी किसी के चुनाव में भूल प्रतीत हो तो वह सुधारी जा सके।

(३) शान्ति के समय में प्रत्येक वर्ण अपने वर्ण धर्म का पालन करे, लेकिन अपने वर्ण धर्म की शिक्षा के साथ सहायक रूप से दूसरे वर्ण की शिक्षा भी ग्रहण करता रहे। इस में यह लाभ है कि यदि कोई वर्ग कर्त्तव्य-च्युत हो जाय, तो उस को दबाने की शक्ति समाज के हाथों में रहे। ऐसा न हो कि यदि ब्राह्मण वर्ग कर्त्तव्य च्युत हो जाय तो समाज ज्ञान शून्य दिखलाई देने लगे, क्षत्रिय वर्ण कर्त्तव्य-च्युत हो जाय तो उस की वीरता लुप्त हो हो जाय, और वह बाहरी आततायी का मुकाबिला करके अपनी राजनैतिक स्वाधीनता की रक्षा करने में भी असमर्थ हो जाय। वैश्य वर्ण कर्त्तव्य च्युत हो जाय तो समाज को फाकेकशी करने का और आर्थिक गुलामी में फसने का मौका आ जाय अथवा

शूद्र वर्ण कर्त्तव्य-च्युत हो जाय तो अपने स्वास्थ्य की रक्षा करना भी समाज के लिए कठिन हो जाय। वह इस प्रकार की स्थिति किसी भी समाज के लिए इष्ट नहीं हो सकती। समाज का संगठन ऐसा होना चाहिये जिस में विपत्ति के साथ जिस गुण की आवश्यकता हो, प्रत्येक व्यक्ति उसी वर्ण का दृष्टि गोचर होने लगे। युद्ध के समय यदि देश पर किसी प्रकार की विपत्ति हो तो समाज के सभी लोग योद्धा के समान दिखलाई देने लगें। आर्थिक आपत्ति के समय प्रत्येक मनुष्य वैश्य के रूप में दिखलाई दे, और महामारी, भूकम्प, प्रकृति-कोप इत्यादि सङ्कट के समय में प्रत्येक मष्नुय शूद्र की तरह सेवा करता हुआ दिखलाई दे।

हाँ, और शान्ति होने पर तो फिर सब आनन्द पूर्वक अपने अपने वर्णाश्रम का पालन करने लग जाय। इस के विपरीत युद्ध के समय सब लोग यह कहकर उदासीनहो जांय कि यह क्षत्रियों का कार्य्य है, हम क्यों इस में दिलचस्पी लें, या और और समय में भी आसन्न-विभाग का भार एक वर्ग पर छोड़ कर शेष तीन वर्ग निश्चित होकर बैठ जाय तो समाज की रक्षा होना अधिक समय के लिए कठिन हो जाय।

उपर्युक्त विवेचना से यह बात निश्चित हो जाती है कि समाज में ऊँच-नीच की भावनाएं किसी न किसी तत्व के आधार पर किसी न किसी रूप में रहती है। प्रत्येक मनुष्य भिन्न भिन्न गुणों का समुदाय रहता है मगर उसमें प्रधानता एक गुण की ही रहती है। समाज को ऐसे व्यक्तियों को अपने गुणों का विकास करने के लिए पर्याप्त क्षेत्र देना चाहिये। पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उसके दूसरे गुणों की उपेक्षा न हो। मतलब यह

कि समाजिक प्रतिबन्ध ऐसे होना चाहिए जो किसी भी व्यक्ति की स्वाभाविक उन्नति में बाधक न हो। जिन समाज में उत्साही और कर्म शील व्यक्ति सामाजिक पद्धति के कारण अपनी उन्नति नहीं कर सकते, वह पद्धति निर्दोष नहीं कही जा सकती। इसी प्रकार जिस समाज में गुण और कर्म की बिलकुल प्रतिष्ठा नहीं होती, जिस में समानता के नाम पर "टके सेर भाजी और टके सेर खाजा" वाली कहावत चरितार्थ होती है, वह समाज भी समाज शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त दोष पूर्ण माना जाता है। इन दोनों से भी निकृष्ट समाज पद्धति वह है जो उच्च नीच भी भावना मनुष्य की वृत्ति पर न मान कर उसके जन्म या कुल पर मानती है। इस प्रकार के समाज दुनिया की प्रगति के लिए बहुत घातक होते हैं। आदर्श समाज वही कहलाता है जिस की पद्धति सामाजिक शान्ति की पूरी पूरी रक्षा करते हुए व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वाधीनता देता है। इस दृष्टि से अभी तक संसार में जितनी पद्धतियाँ प्रचलित हैं उनमें वर्णाश्रम-पद्धति सब से श्रेष्ठ है। इस पद्धति में सामाजिक जीवन की रक्षा करते हुए व्यक्ति को अपना विकास करने का बहुत अवकाश दिया गया है। यदि इस पद्धति में से उपर्युक्त दोष निकल जांय तो यह पद्धति और भी अधिक सुन्दर हो सकती है।

चौथा अध्याय

समाज में पुरुष और स्त्री का स्थान

वर्ण-व्यवस्था ही की तरह समाज में स्त्री और पुरुष के अधिकारों का प्रश्न भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। हज़ारों वर्षों से संसार भर में इस विषय पर लगातार विचार होता चला आ रहा है। मगर अभी तक इस विषय में समाज-शास्त्र को सुसङ्गतता प्राप्त नहीं हुई है। इस आवश्यक प्रश्न का जब तक सन्तोष जनक निर्णय न होगा तब तक समाज में स्थिरता उत्पन्न नहीं हो सकती। अभी तक तो यह प्रश्न बड़ा ही विवाद-ग्रस्त रहा है।

भारतीय समाज-तत्त्ववेत्ता मनु का मत है कि स्त्री शारीरिक और मानसिक दृष्टि से स्वभावतः कोमल होती है; इसके अतिरिक्त सन्तानोत्पत्ति, सन्तान-पालन, गृह-व्यवस्था आदि कार्य्य भी उन्हें स्वाभाविक रूप से करने पड़ते हैं,इन सब कारणों से समाज में रहकर वह अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती। इधर पुरुष शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ और बलवान् तथा मानसिक दृष्टि से भी प्रबल मनोविकारों वाला, साहसी, कर्म्मक्षेत्र में धीरता पूर्वक बढ़ने वाला तथा दूरदर्शी होता है। वह न केवल अपनी प्रत्युत अपने आश्रितों की रक्षा करने में भी समर्थ है। ऐसी स्थिति में सन्तान-पालन और गृह-व्यवस्था की तमाम जिम्मेदारियाँ वह स्त्री-समाज के सिपुर्द करके उनकी रक्षा की जिम्मेदारी अपने पर

ले ले, तो समाज की एक कठिन समस्या सहज ही हल हो सकती है। मनु यह भी कहते हैं कि पुरुष स्त्रियों को आश्रित समझकर उनसे घृणा न करे, प्रत्युत उसका सम्मान करे। इस सम्बन्ध में हम मनुस्मृति के ही कुछ वचन उद्धृत करते हैं:—

"जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं। जहाँ उनकी पूजा नहीं होती वहाँ सब शुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।

"जिस कुल में स्त्रियाँ शोकाकुल रहती हैं, वह कुल विनष्ट हो जाता है जहाँ वे शोकाकुल नहीं रहतीं उस कुल की सतत वृद्धि होती है।"

"जहाँ तिरस्कृत होकर स्त्रियाँ शाप देती हैं वहाँ मारण किये हुए के समान सब मर जाते हैं। जहाँ भर्ता भार्या से और भार्य्या भर्ता से सन्तुष्ट रहते हैं, वहाँ सदा कल्याण होता है।"

महात्मा मनु के इन वाक्यों में प्रत्यक्ष रूप से तो उदारता की असीम भावनाएँ दृष्टि गोचर होती हैं पर इसके भीतर एक दूसरा ही रहस्य है। जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्था में प्रत्यक्ष में समानता की पूरी रक्षा करते हुए भी शूद्र-जाति के अप्रत्यक्ष रूप में एक अपमान-पूर्ण व्यवस्था रख दी गई थी, उसी प्रकार पुरुष और स्त्री के अधिकारों की मीमांसा करते हुए भी उन्होंने स्त्रियों के लिए अप्रत्यक्ष रूप से घोर अन्याय किया है। उन्होंने स्त्रियों की पूजा और उनको प्रसन्न रखने के निम्नांकित तरीके बतलाये हैं:—

"इस कारण ऐश्वर्य्य की इच्छा वाले मनुष्य को उचित है कि वह नित्य और उत्सवों पर वस्त्र, भूषण और उत्तम भोजन से स्त्री को प्रसन्न करे।"

"क्योंकि यदि स्त्री वस्त्राभूषणों से अलंकृत और उत्तमभोजन

से तृप्त न होगी तो वह अपने पति को आकर्षित न कर सकेगी और पति को आकर्षण किये बिना उसके सन्तान न होगी।"

स्त्री को प्रसन्न किस लिए की जाय? इस लिए नहीं कि उससे वह संतुष्ट हो, इसलिए नहीं कि उससे उसकी वृत्तियाँ बढ़ें। प्रत्युत इस लिए कि, वह पुरुष को आकर्षण कर सके, उसकी काम-वासना को जागृत कर सके। इसके पश्चात् वह प्रसन्न भी किन वस्तुओं से की जाय? प्रेम से नहीं, आदर से नहीं, अनुराग से नहीं, त्याग से नहीं, शील से नहीं, प्रत्युत वस्त्रों से आभूषणों से और उत्तम भोजन से। प्रेम और विश्वास की महिमा मय देवियों को भगवान् मनु दो-चार गहने, दो-चार कपड़े और पाव, आध पाव मिठाई देकर प्रसन्न करना चाहते हैं। इससे सहज ही मालूम हो जाता है कि उनके हृदय में स्त्रियों के प्रति क्या भाव थे। आगे चलकर उनकी ये भावनाएँ और भी स्पष्ट हो जाती हैं।

"स्त्रियों का यह स्वभाव है कि वे पुरुषों को भ्रष्ट कर देतीहैं इस लिए बुद्धिमान् पुरुष स्त्रियों में प्रमत्त नहीं होते हैं।"

"स्त्रियाँ न तो रूप का विचार करती हैं न आयु का। सुरूप अथवा कुरूप, कैसा भी पुरुष हो, उसी को वे भोगती हैं।"

स्वभाव ही से स्नेह शून्य होने के कारण यत्नपूर्वक रक्षा की जाने पर भी "पुंश्चली, चित्तचंचला स्त्रियाँ पति के साथ विश्वास-घात करती हैं।"

"ब्रह्मा ने सृष्टिकाल ही से इनका स्वभाव ऐसा बनाया है यह जानकर पुरुष इनकी रक्षा करे।"

इत्यादि, इसी प्रकार और भी कई भयंकर शब्दों के द्वारा मनु ने स्त्री-जाति की निन्दा की है। मनु के वचनों में हमें बिल-

कुल विरोधाभास मालूम होता है। इससे स्पष्ट जाहिर होता है कि स्मृतिकार ने केवल बाहरी निष्पक्षता प्रकट करने के लिए ऊपर के वाक्य कहने का कष्ट किया है, पर कोशिश करके भी वे अपने को निष्पक्ष नहीं रख सके हैं। विचारक आँखों के आगे यह बात छिपाये नहीं छिप सकती कि उपर्युक्त श्लोकों के रचयिता मनु स्त्री-जाति के प्रति एकांत निर्दय हैं और उन्होंने भारतीय स्त्री-समाज के प्रति घोर अन्याय किया है। उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला है कि एक मिनट के लिए भी स्त्री का स्वाधीन होना महा पाप है।

पर इसमें मनु का अधिक दोष नहीं है। उस समय में भारतीय जनता के मनोविकार ही ऐसे हो रहें थे। सच बात तो यह है कि भारतीय समाज प्रारम्भ ही से स्त्री-जाति के प्रति बहुत अनुदार रहा है। प्रारम्भ ही से इस समाज में पुरुषों के बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित रही है। प्रारम्भ ही से इसने पुरुषों के भयंकर से भयंकर अपराधों को क्षम्य और स्त्री के छोटे से छोटे अपराध को अक्षम्य समझा है। स्त्री का पति चाहे कैसा ही कुत्सित, असभ्य, व्यभिचारी और दुष्ट, कामी हो; पत्नी को तो उसी को परमेश्वर मानना चाहिये, उसी की पूजा करना चाहिए। यदि वह क्षण भर के लिए भी उस के प्रति किसी प्रकार का वैराग्य बतलायगी तो उसे नरक की भीषण अग्नि में जलना पड़ेगा। इस के विरुद्ध, पत्नी चाहे कितनी ही गुणवती, सुन्दरी और सुशीला क्यों न हो, पति यदि चाहे तो उसे पूछ कर अथवा बिना पूछे उस के रहते भी अनेकों बिवाह कर सकता है। उस में पुरुष को कोई पाप नहीं छू सकता, और मजा यह कि सभी स्त्रियाँ उसे

परमेश्वर की तरह मानेगी। कैसी भीषण व्यवस्था है! भारतीय ऋषियों की न्याय-बुद्धि दलित स्त्री-समाज के सामने क्या सफाई पेश कर सकता है। उसके इसी कठोर नियम ने हमारे यहाँ के सारे स्त्री-समाज को एक दम निर्जीव और निर्माल्य बना डाला। फिर भी जब हम अन्य देशों के प्राचीन इतिहास की नारी के मुकाबिले में भारत की प्राचीन नारी की तुलना करते हैं तो हमें बड़ा सन्तोष होता है पर इसका श्रेय आर्य महिलाओं के शील को है। यहाँ के प्राचीन समाज में नारी की कितनी ही पतित स्थिति क्यों न रही हो पर अन्य देशों के मुकाबिले में वे उन्नत ही थीं।

यूरोपीय समाज में स्त्री का स्थान

भारत वर्ष ही की तरह प्राचीन यूरोप में भी स्त्रियाँ बहुत हीन दृष्टि से देखी जाती थीं। बल्कि भारत में तो फिर भी स्थान स्थान पर उनके प्रति सत्कार के भाव और उदाहरण पाये जाते हैं, पर प्रचीन यूरोप में तो यह बात भी नहीं पाई जाती थी। वहां तो स्त्रियां पुरुषों की गुलाम और जङ्गम सम्पत्ति समझी जाती थीं। पाठकों के मनोरञ्जनार्थ उनके जीवन की एक झलक यहाँ पर दिखलाई जाती है।

यूरोप का इतिहास साधारणतः तीन कालों में बंटा हुआ है। (१) यूनानी सभ्यता का काल (२) रोमन सभ्यता का काल और (३) अर्वाचीन सभ्यता का काल। इन तीनों ही कालों में स्त्रियों की स्थिति का आदर्श भिन्न भिन्न रहा है।

यूनान में पहले नवयुवक युवतियों को उन के पिताओं से

धन देकर खरीद लिया करते थे। जिस प्रकार आज कल धन देकर खरीद लेने पर गाय भैंसों पर लोगों का पूर्ण अधिकार हो जाता है, उसी प्रकार उन कन्याओं पर भी उन युवकों का पूर्ण अधिकार हो जाता था। महाकवि होमर से लेकर महात्मा ईसा के कुछ पहले तक यह प्रथा प्रचलित थी। इसके पश्चात् सभ्यता के विकास के साथ साथ वहाँ पर एक पत्नी प्रथा का प्रचार हुआ। इस प्रथा में स्त्रियों की कीमत का स्थान दहेज ने ले लिया। पिता अपनी पुत्री के विवाह के साथ उस के खर्च के लिए दहेज देने लगे। इस धन पर हमेशा स्त्री ही का अधिकार रहता था। दैवयोग से यदि कभी उन के बीच में तलाक होता तो उस समय यह धन उसे वापिस मिल जाया करता था। इस प्रथा से स्त्रियों की गुलामी की जंजीर कुछ ढीली हो गई थी। फिर भी साधारणतया यूनानी स्त्रियों की स्थिति बहुत हीन थी। भारतवर्ष ही की तरह वहाँ पर भी स्त्री उम्र भर स्वाधीनता की हकदार न समझी जाती थी। सार्वजनिक कार्यों में तथा मेलों इत्यादि में भाग लेने की उन्हें इजाजत न थी। विदेश पर्य्यटन भी उन के लिए कलङ्क-रूप समझा जाता था। तत्त्वज्ञानी प्लेटो ने स्त्रियों की इस हीन अवस्था के विरुद्ध आवाज उठाई। लेकिन लोकमत पर उस का विशेष प्रभाव न पड़ा था। विवाह केवल एक राजनैतिक कर्तव्य समझा जाता था। स्पार्ट में तो दुर्बल और वृद्धपतियों की युवती पत्नियां कानूनन उनसे छीन कर बलवान् युवकों को दे दी जाती थीं जिस से वे बलवान् सन्तानें उत्पन्न कर सकें। और इस में सन्देह नहीं कि इस प्रथा के कारण उस समय के समाज में जबर्दस्त पुरुषार्थ और देश-भक्ति उत्पन्न हो गई थी।

उस समय के इतिहास में यूरोपीय माताओं की वीरता के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं।

इसी समय कई विचित्र परिस्थितियों के संसर्ग से यूनानी समाज में एक विचित्र परिवर्तन हुआ जिस के कारण वहाँ का वेश्या-समुदाय यूनानी-समाज का सर्वश्रेष्ठ अङ्ग बन गया। दुनिया के परदे पर कभी और किसी समाज में स्त्रियों को इतना सम्मान नसीब नही हुआ जितना यूनान में वैश्या-समाज को प्राप्त हुआ। कुछ समय के लिए तो वैश्या-गमन वहां का एक धार्मिक संस्कार बन गया था। इन वैश्याओं का आदर्श एफ्रोदिते देवी जूपिटर की कन्या, प्रेम की देवी (Goddess of Lvoe) मानी जाती थीं। कामदेव (Cupid) उस का लड़का समझा जाता था। यूनान की वेश्याएं अनुपम सुन्दरी होती थीं। इस कारण लोग इन्हें एफ्रोदिते देवी का रूप समझ कर इन का आदर करते थे। यूनान में फ्राइन नामक वेश्या एफ्रोदिते की पहली प्रतिनिधि समझी जाती है। इस पर एथेन्स नगर के युवकों को चरित्र भ्रष्ट करने का इलजाम लगा कर मुकदमा चलावा गया था। जब न्यायाधीशों की अदालत के सामने इस का मुकदमा चलने लगा उस समय इसके वकील ने इसके मुख पर का घूँघट हटा दिया। घूँघट के हटते ही उस की सुन्दरता अदालत में छिटक गई। न्यायाधीश भी उस के अभूत पूर्व सौन्दर्य्य को देख कर चकित हो गये। उन्हों ने उसे बिना किसी प्रमाण के ही छोड़ दी।

उस काल में बड़े बड़े राजनीतिज्ञ, कवि, लेखक और तत्त्व वेत्ता इन वैश्याओं से मिलने जाया करते थे। समाज की इस अवस्था को देख कर यूनान की कई प्रवीण और ऐश्वर्य-कांक्षिणी

स्त्रियों ने इस मार्ग को ग्रहण किया था। इन वैश्याओं के कारण विवाह एक तुच्छ और जलील चीज समझी जाने लगी थी। लोगों ने अपनी विवाहिता पत्नियों का बहिष्कार सा कर रक्खा था। इस स्वाधीन वायुमण्डल के मिलने पर वहाँ की वैश्याओं ने अपनी सौन्दर्य्य के साथ साथ ज्ञान-प्रतिमा बढ़ाना भी प्रारम्भ किया। ये वैश्याएं उस समय के तमाम प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवि, चित्रकार, तत्त्ववेत्ता और इतिहासज्ञों से घिरी हुई रहती थीं। इन लोगों के अद्भुत सत्संग से उस समय की वैश्याएं असीम विद्वत्ता की केन्द्र बन गई थीं। एसपेसिस नामक प्रसिद्ध वैश्या उन दिनों सौन्दर्य्य और विद्वत्ता में अपूर्व समझी जाती थी। यूनान के वक्ता और लेखक "पैरीक्लीज" से उसका उत्कट प्रेम था। पैरीक्लीज की कई रचनाओं में भी उसका हाथ बतलाया जाता है। महात्मा सुकरात भी अन्य तत्त्व वेत्ताओं की तरह इसकी तथा अन्य विदुषी वैश्याओं की महफ़िलों में जाया करते थे। उन्हों ने अपने ग्रन्थों में दिओतिमा नामक वैश्या के प्रति कृतज्ञता भी प्रकट की है। शारीरिक और मानसिक सौन्दर्य्य के इस सात्विक विकास से बहुत सी वैश्याएं अपनी काम-वृत्ति तक को भूल गई थीं। स्वाधीन वायुमण्डल का कितना सात्विक प्रभाव है।

किन्तु दुर्भाग्य वश इन्हीं दिनों रोमन लोगों के आक्रमण ने यूनानी सभ्यता का नाश कर दिया। इस सभ्यता के साथ २ वैश्याओं के प्राधान्य का भी अन्त हो गया। और यूरोप के इतिहास ने भी एक काल से निकल कर दूसरे कालमें पदार्पण किया।

रोमन सभ्यता का युग शुरू होने के पहले वहाँ स्त्रियों की दशा भी बहुत दयनीय थी। रोमन पति का अपनी पत्नी पर

प्रसार का श्रेय महात्मा ईसा के उपदेशों को है। उन के आते ही यूरोप में एक नवीन प्रणाली का, एक नवीन क्रान्ति का जन्म हुआ। इसके साथ ही वहाँ के स्त्री-समाज के प्रति भी लोगों के अन्दर एक नवीन भाव का उदय हुआ। ईसामसीह महात्मा थे, समदर्शी थे, विचारक थे, उन्होंने स्त्री-समाज के प्रति जो भाव-पूर्ण उद्गार निकाले हैं वे संसार के साहित्य में एक अमर वस्तु हैं। उनके ये उद्गार ईसाई मत के प्रसिद्ध ग्रन्थ इंञ्जील में स्थान स्थान पर अङ्कित हैं। पाठकों के मनोरञ्जनार्थ हम इंञ्जील के कुछ उद्धरण नीचे देते हैं।

इंजील में स्त्री का स्थान

"पत्नियो! तुम अपने को अपने पतियों पर इस प्रकार अर्पण करो, जिस प्रकार स्वयं ईश्वर पर अर्पण करती हो। क्योंकि पति, पत्नी का उसी प्रकार नायक है जिस प्रकार मसीह धर्म का प्रधान है। पति उस के शरीर का त्राता है।

"पतियो! जिस तरह मसीह अपने गिरजों से अर्थात् धर्म से प्रेम करते थे उसी प्रकार तुम अपनी पत्नियों पर प्रेम करो; और जिस प्रकार वे अपने को गिरजों पर उत्सर्ग करते थे उसी प्रकार तुम अपने को अपनी पत्नियों पर उत्सर्ग कर दो।"

पत्नी को अपने शरीर पर कोई अधिकार नहीं है। क्योंकि उस शरीर का मालिक उसका पति है। इसी प्रकार पति को भी अपने शरीर पर कोई अधिकार नहीं है क्योंकि उस शरीर की मालिक उस की पत्नी है।

इसी विषय को स्पष्ट करने के लिए इञ्जील में एक कहानी है। एक बार कुछ पुराने विचारों के लोग ईसामसीह के पास एक

नङ्गी स्त्री को पकड़ कर लाये और कहा इस स्त्री ने व्यभिचार किया है। ऐसी स्त्री को हम लोग पत्थरों से मार दिया करते हैं। आप की क्या आज्ञा है ?

इस पर प्रभु मसीह ने कहा–आप लोगों का कहना ठीक है। पर मेरा इतना कहना है कि इस स्त्री को पहला पत्थर वही मारे जिसने जीवन भर में कभी व्यभिचार न किया हो।

मसीह के इस कथन को सुनकर सब लोग अपने अपने घर चले गये।

इन सब उदाहरणों से मालूम होता है कि ईसामसीह का का हृदय नारी जाति के प्रति कितना उदार था।

पर दैव-दुर्वियोग से इस का परिणाम बिलकुल उल्टा हुआ। ईसामसीह के इस कथन का कि—व्यभिचार न करना चाहिये। लोगों ने यह परिणाम निकाला कि विवाह ही निकृष्ट और पाप-मय वस्तु है। इस विचार-प्रणाली के प्रचार का परिणाम यह हुआ कि ईसाई पादरियों को जबर्दस्ती ब्रह्मचर्य्य का पालन करना पड़ा। इनके लिए ऐसे मठ बनाये गये जिनमें वे वर्षों तक स्त्रियों का मुख ही नहीं देख सकते थे। इसी प्रकार स्त्रियों के ऐसे मठ बनाये गये, जहाँ वे पुरुषों का मुख न देख सकें।

इस प्राकृतिक नियम को जबर्दस्ती, अप्राकृतिक रूप से रोकने का परिणाम कुछ दिनों तक तो ठीक नजर आया, पर जिस समय इसका बांध टूटा उस समय यूरोप में महा भयंकर और बीभत्स दृश्य का अभिनय हुआ। चारों ओर व्यभिचार का सोता उमड़ पड़ा। मठ के मठ व्यभिचार के केन्द्र बन गये। पादरी लोग एक प्रकार का नियमित कर देकर मनमानी वैश्यायें रखने के अधि-

कारी हो गये। यह समय आठवीं शताब्दि से बारहवीं शताब्दि के बीच का था। एक लेखक ने लिखा है कि ये मठ वैश्याओं के अड्डों की तरह थे,। जिनकी जमीन का एक एक कण भ्रूण-हत्या के खून से रँगा हुआ है।

इस काल में स्त्री-समाज की अवस्था फिर से गिर गई। उस समय के ईसाई लोग स्त्रियों को सब पापों की खान, नरक का द्वार और तमाम मानवी मुसीबतों की जड़ समझते थे। उन की धारणा थी कि प्रत्येक स्त्री को इसी विचार से कि "वह स्त्री है" लज्जित होना चाहिये। उसे जीवन भर पश्चात्ताप की अग्नि में जलना चाहिए। क्योंकि उसका पैदा होना ही संसार के लिए अमङ्गल सूचक है। उसे अपनी पोशाक पर ही लज्जित होना चाहिए।

यह काल यूरोपियन स्त्री-समाज के लिए बड़ा ही भयङ्कर और कष्टकर था। सत्रहवीं शताब्दि तक यह हाल रहा। इस शताब्दि में फ्रान्स में एक भीषण क्रान्ति हुई, जिसके परिणाम स्वरूप यूरोप के सामाजिक और राजनैतिक जीवन में भारी परिवर्तन हुआ। क्रान्तिकारियों ने सामाजिक और आर्थिक जगत् में पुरुषों और स्त्रियों को बहुत से अधिकारों में समानता दे दी। स्त्रियों में भी अपने अधिकारों के लिए प्रेम उत्पन्न होने लगा। अब वे अपने को पुरुषों के अधीन समझने में भी शर्म महसूस करने लगीं।

इसके पश्चात् प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता जौन स्टुअर्ट मिल ने स्त्रियों की स्वाधीनता के पक्ष में बड़ी जोरदार आवाज़ उठाई। उसने स्त्री-स्वातंत्र्य के विरोधियों की तमाम दलीलों को चुन चुन कर तर्क-

शास्त्र की पद्धति से उनका अखण्डनीय खण्डन किया । उसके ये सब विचार उसकी प्रसिद्ध पुस्तक स्त्रियों की पराधीनता (Subgecton of women) में संगृहीत हैं । इस ग्रन्थ में शरीर-शास्त्र, मानस-शास्त्र आदि तमाम शास्त्रों से स्त्रियों की स्वाधीनता का प्रतिपादन किया है ।

इन सब घटनाओं का परिणाम यह हुआ कि यूरोप के सभी उन्नति-शील राष्ट्रों में स्त्रियों को बहुत कुछ समानता मिल गई, और जो शेष रही उस के लिए वे जोरों से आन्दोलन कर रही हैं । वहां की स्त्रियाँ सामाजिक मानसिक और नैतिक योग्यता में किसी क़दर पीछे रहना नहीं चाहतीं ।

पर इस स्वाधीनता के युद्ध के अन्तरङ्ग में एक भीषण ग़लत-फहमी हो रही है । इससे यूरोप का जीवन अशान्त और अस्वा-भाविक हो रहा है । बात यह है कि वहाँ की स्त्रियाँ अपने स्त्रियो-चित गुणों को भूल कर पुरुषोचित गुणों में हस्तक्षेप कर रही हैं । जिसकी वजह से वहां पर मातृत्व और पत्नीत्व का भयङ्कर अधःपात हो रहा है । और पुरुषों से प्रेम-मय सहयोग के बदले स्पर्द्धामूलक संघर्ष चल रहा है । दूरदर्शी विचारक समुदाय का ख़याल है कि यूरोप की यह स्थिति अभिनन्दनीय नहीं कही जा सकती । यूरोप की स्त्रियों को इस आन्दोलन से सन्तप्त होकर अपनी राह बदलनी पड़ेगी ।

इस विषय में प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता लेकी की राय बड़ी ही महत्त्व-पूर्ण है । उनका कथन है कि यूरोप की स्त्रियों ने अपनी सभ्यता में चाहे जितनी उन्नति की हो, पर उन की वह उन्नति हमेशा पुरुषोचित रही है । स्त्रियोचित गुणों का-जैसे प्रेम, विश्वास, लज्जा,

दया, सहानुभूति, आदि—पूर्ण-विकास यहां की किसी सभ्यता के अन्तर्गत नहीं हुआ है। अतः हमारे लिए वही समय सब से ज्यादा अभिनन्दनीय होगा जब यहाँ की स्त्रियाँ स्त्रियोचित गुणों में पूर्ण विकास कर स्वाधीनता लाभ करेंगी।........ .... यूरोप को अब पौरुषीय सभ्यता की बिलकुल आवश्यकता नहीं है। वह युद्ध, राजनैतिक घात-प्रतिघात और सङ्कीर्ण जातीयता से बहुत घबरा गया है। अब वह पूर्ण शान्ति को प्राप्त करना चाहता है। वह शान्ति केवल स्त्रियोचित गुणों के विकास से ही प्राप्त हो सकती है। भविष्य में मानव-समाज का विकास पौरुषीय सभ्यता से नहीं किन्तु स्त्रियोचित सभ्यता की उन्नति ही से होगा।

यह यूरोप के स्त्री समाज का इतिहास है। अब हम अरब के स्त्री समाज के इतिहास पर भी एक दृष्टिपात करते हैं।

अरबी समाज में स्त्रियों का स्थान

इस्लाम के पूर्व अरब में स्त्रियों की हालत बहुत गिरी हुई थी। पशुओं की तरह वहाँ स्त्रियों की खरीदी-बिक्री होती थी। उनके स्वामी उन्हें दूसरों को किराये पर भी देते थे। बहु-विवाह की प्रथा का भी वहाँ पर खूब प्रचार था। युद्ध के पश्चात् विजेता पुरुषों का पराजित पुरुषों की तमाम स्त्रियों पर अधिकार हो जाता था। इन स्त्रियों को नृत्य और सङ्गीत सिखाया जाता था। वेश्यावृत्ति के लिए भी वे विवश की जाती थीं। उनसे होने वाली तमाम आमदनी पर उनके स्वामियों का अधिकार होता था।

इससे भी भयंकर और अमानुषिक प्रथा वहाँ पर यह थी कि लोग अपनी लड़कियों को जिन्दा गाड़ देते थे। लड़कियों का उत्पन्न होना वहाँ बड़ी लज्जा का विषय समझा जाता था। कुछ लोग तो लड़कियों को पैदा होते ही जच्चा घर में गाड़ देते थे, और कुछ उसे नौ साल की होने के बाद वस्त्राभूषणों से सज्जित करके; भुलावा देकर, गाड़ आते थे।

ईसा की दूसरी शताब्दि तक अरब में कोई नियमित विवाह पद्धति न थी। इस सम्बन्ध में उस समय उनमें बड़ी घृणित प्रथाएँ प्रचलित थीं। उनमें से "मूता" नामक प्रथा का सबसे अधिक जोर था। इसके अनुसार स्त्री-पुरुष बिना किसी बन्धन के एक दूसरे के साथ रह सकते थे। इस प्रथा में पुरुष भी इस बातके लिए स्वाधीन रहता था कि वह चाहे जितनी स्त्रियों से एक-साथ सम्बन्ध रक्खे। इसी प्रकार स्त्री भी मन चाहे पुरुषों के साथ सम्बन्ध रखने में स्वाधीन रहती थी। फिर भी उनकी सन्तानें जायज़ समझी जाती थीं, और समाज उन्हें आदर की दृष्टि से देखता था।

इस्लाम के उदय के पूर्व अरब में पुत्र पिता के मरने पर अपनी सौतेली माताओं का भी स्वामी हो जाता था। यदि किसी पिता के दो लड़के होते तो वे चादर लेकर अपनी सौतेली माताओं पर डाल देते थे। जिसकी चादर जितनी माताओं पर पड़तीं वे सब उसकी बीबियाँ हो जातीं थीं; और वह उनका स्वामी समझा जाता था।

अरबी समाज में बहुपत्नी-प्रथा की तरह बहु पति-प्रथा का रिवाज भी प्रचलित था। इसका एक कारण तो यह था कि लड़कियों को जीवित गाड़ देने की प्रथा होने से वहाँ पर स्त्रियों की संख्या एकदम कम हो गई थी, दूसरा कारण यह था कि

लड़ाई में हारे हुए कबीले की सारी स्त्रियाँ जीते हुए कबीले को मिल जाती थीं; जिससे पराजित कबीले के सब मनुष्य स्त्री-विहीन हो जाते थे। तीसरा कारण यह था कि अमीर तो सैंकड़ों स्त्रियों से विवाह कर लेते थे और गरीब कोरे रह जाते थे। इन्हीं कारणों से अरब में बहु-पति-प्रथा प्रचलित हो गई थी। उस प्रथा के अनुसार दस-दस पुरुष एक ही स्त्री से समागम करते रहते थे, और उनसे उस स्त्री से जो सन्तान पैदा होती थी वह, जिस पुरुष से उसका चेहरा मिलता उसी की समझी जाती थी।

स्ट्रेबो नामक अंग्रेज़ लेखक ने इस प्रथा का वर्णन करते हुए लिखा है कि "कुटुम्ब के सब भाई शामिल ही रहते थे और उन सब के बीच में एक ही स्त्री होती थी। जो भाई दिन में सब से पहले उसके पास पहुँच जाता था वही उसके साथ विलास करने का अधिकारी हो जाता था। पत्नी के कमरे में प्रवेश करते समय वह कमरे के बाहर एक डण्डा रख देता था; जिससे यदि कोई दूसरा भाई आता तो जान लेता कि कमरे के अन्दर और कोई है। यह डण्डा रखने की प्रथा वहाँ अनिवार्य्य थी। रात के समय उस स्त्री पर केवल बड़े भाई का ही अधिकार रहता था। किसी किसी उप-जातियों में तो लड़कों को अपनी माता के साथ भी रति-क्रिया करने का अधिकार होता था। व्यभिचार करने वाला वहाँ मृत्यु-दण्ड का भागी होता था, किन्तु कुटुम्ब के बाहरके आदमी को ही वे व्यभिचारी समझते थे।"

ये सब प्रथाएँ इस्लाम के उदय के पहले प्रचलित थीं। हज़रत मुहम्मद ने इन प्रथाओं का बड़े जोरों के साथ विरोध किया। उन्होंने स्त्रियों का आदर करने के लिए बहुत जोर दिया। कुरान

के मतानुसार स्त्री "संसार की अपूर्व वस्तु, संसार को उत्पन्न करने वाली खुदा की अद्भुत कारीगरी है। "हज़रत मुहम्मद ने लड़कियों को जीवित गाड़ देने की, तथा मूता प्रथा का कुरान में बड़ा विरोध किया है। उन्होंने लिखा है कि "जो अपनी लड़की को जीवित नहीं गाड़ता, उससे नफ़रत नहीं करता, उसका उचित रीति से पालन करता है, खुदा उसे बहिश्त देता है।"

इस्लाम ने भी बहु-पत्नी-प्रथा का समर्थन किया है, मगर एक नियम उसमें ऐसा रक्खा हैं जिससे यह प्रथा बुद्धि परिमार्जित हो गई है। कुरान में लिखा है कि "तुम अपनी सुविधा के अनुसार दो, तीन या चार स्त्रियों से विवाह कर सकते हो। किन्तु, यदि तुम्हें यह मालूम हो कि, तुम उनके साथ समान रूप से प्यार अथवा व्यवहार न कर सकोगे तो फिर एक ही विवाह करो या जो तुम्हारी अर्द्धाङ्गिनी मौजूद है उसी से सन्तुष्ट रहो। लेकिन मुख्य बात यह है कि उनमें किसी के साथ भी पक्षपात-पूर्ण व्यवहार न करो।"

आगे चलकर उसमें लिखा है कि—"जो मनुष्य दो पत्नियाँ रखकर उनके साथ समान व्यवहार नहीं करता; क़यामत के दिन उसका आधा शरीर कटकर गिर जाता है।"

कुरान के विधायक स्वयं मुहम्मद साहब के कई पत्नियाँ थीं। उनमें आयेशा सारे अरब के रमणी मण्डल में सबसे सुन्दर थी, एक बार आयेशा ने उनकी प्रथम-पत्नी खादिजा के प्रति उपेक्षा पूर्ण व्यवहार बतलाते हुए मोहम्मद साहब से कहा—"क्या खादिजा अब यौवन से बिदा नहीं हो चुकी ? क्या परमेश्वर ने मुझे उसका स्थान ग्रहण करने के लिए नहीं भेजा।" मुहम्मद

ने कहा—"तुम्हारी और उसकी तुलना ही कैसे हो सकती है ! उसने उस समय मुझे आश्रय दिया था जब सारा संसार मुझे सता रहा था।"

इस्लाम में कन्या को इच्छानुसार विवाह करने के लिए स्वतन्त्रता दी गई है। इस्लाम कन्या को यह अधिकार देता है कि वह माता पिता या पालक के द्वारा तलाश किये हुए वर से विवाह करने से इन्कार करदे। इस्लाम का आदेश है कि "पालक को इस बात का बिलकुल मजाज़ नहीं है कि वह अपनी बालिग़ लड़की को उसकी इच्छा के विरुद्ध विवाह के बन्धन में बाँध दे।"

हज़रत आयशा लिखती है कि "एक एक बार युवा स्त्री ने पैगम्बर से शिकायत की कि पिता ने मेरी इच्छा के विरुद्ध मेरा विवाह मेरे चचेरे भाई से कर दिया है।" यह सुनकर पैगम्बर ने उसके पिता को बुलाकर उसके सामने उस लड़की को कहा—

"यदि तू चाहे तो अब भी तेरा विवाह-बन्धन टूट सकता है। लड़की ने उत्तर दिया कि-अय खुदा के पैगम्बर! अब तो जो कुछ हो गया वही रहने दिया जावे, मगर मैं स्त्रियों को यह बतला देना चाहती हूँ कि एक युवती स्त्री के विवाह में पिता को जबर्दस्ती करने का कोई अधिकार नहीं है।" (कुरान सूराचार-२२)

इसी प्रकार विधवाओं के विषय में भी कुरान में बड़ी उदार व्यवस्था दी गई है। इस व्यवस्था के अनुसार पत्नी सन्तान न रहने की अवस्था में अपने पति की चौथाई सम्पत्ति की, और सन्तान होने की हालत में उसकी अष्टमांश सम्पत्ति की मालिक होती है। एक अंग्रेज़ के मतानुसार इस सम्बन्ध में इसलाम की व्यवस्था दुनिया के सब समाजों से अधिक उदार है।

इस सब विवेचन से यह पता लगता है कि स्त्रियों के अधिकारों के सम्बन्ध में मुहम्मद पैगम्बर ने बड़ी ही उदारता के साथ काम लिया। कई लोगों का यह खयाल है कि जिस विचार-पद्धति से परदे के समान नाशकारी प्रथा का उदय हुआ हो, वह स्त्रियों के प्रति उदार कैसे कही जा सकती है। पर इतिहास के प्रमाणों से यह बात बिलकुल ग़लत साबित हो चुकी है। जहाँ तक इस्लाम का सम्बन्ध है सम्पूर्ण कुरान में कहीं भी इस बात का विवेचन नहीं है कि स्त्रियाँ सामाजिक वातावरण से हटा कर परदे की चहार-दीवारी में बन्द करदी जायँ।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ बुखारी का कथन है कि पैग़म्बर के समय में अरब में परदे की प्रथा नहीं थी। युवती स्त्रियां बराबर हज़रत से संसार के विविध विषयों पर बातें करती थीं। तथा उनसे उपदेश ग्रहण करती थीं। हजरत के समय स्त्रियां लड़ाइयों में भी शामिल होती थीं, घायलों की सेवा-शुश्रूषा का भार उनके ज़िम्मे रहता था। कई बार तो पुरुषों के कायरता दिखाने पर स्त्रियाँ तलवार तक लेकर युद्ध के मैदान में उतरीं, और विजयी हुईं,"

इससे मालूम होता है कि असली इस्लाम-धर्म में परदे की प्रथा का अस्तित्व न था। पर यह निश्चय है कि यह प्रथा इस समाज में पैगम्बर साहब के बाद मध्यकाल में रूढ़ हो गई थी। किन्तु अब तो कई मध्ययुगीन-प्रथाओं के साथ साथ मुस्लिम संसार परदे का भी अन्त कर देना चाहता है। कमाल-पाशा जैसे साहसी और बहादुर नेता ने तुर्की में परदे का अन्त कर दिया है। अफगानिस्तान के नीति-कुशल शासक अमीर अमानुल्लाखां ने भी अपने यूरोपीय प्रवास से लौटने पर इस प्रथा का

अन्त कर देने की ठान ली है। मिश्र, अरब, ईरान आदि देशों में भी इस कुप्रथा का अन्त करने के लिए आन्दोलन शुरू हो गया है, और स्त्री-स्वातंत्र्य विषयक कई हलचलें शुरू हो गई हैं।

इस प्रकार संसार के इतिहास को देखने से पता चलता है कि जिस प्रकार उच्च-नीच की भावनाएँ मनुष्य-जाति के आदिम-काल ही से किसी न किसी तत्त्व पर, किसी न किसी रूप में सब जगह रही हैं, उसी प्रकार स्त्री और पुरुष के भेद-भाव की भावनाएँ भी इतिहास के प्रारम्भ ही से किसी न किसी रूप में सब जगह रही हैं। सभी स्थानों में स्त्रियों पर किसी न किसी रूप में पुरुषों की सत्ता हो ही जाती है।

अब देखना यह है कि इतिहास के इस सत्य को कोई तात्त्विक आधार है या यह केवल किसी रूढी की दीवार पर खड़ा किया गया है। यदि इसको कोई तात्विक आधार होगा, तब तो यह नष्ट हो ही नहीं सकता, पर यदि इस की नींव केवल रूढ़ी पर ही खड़ी की गई हो, तो उस नींव को गिरा देना ही मनुष्य जाति के लिए कल्याणकर होगा।

(१) शरीर शास्त्र की दृष्टि से पुरुष के और स्त्री के शरीर में बहुत थोड़ा अन्तर है। स्त्री के प्रायः सभी अङ्ग ठीक पुरुष ही की तरह होते हैं। इनकी कार्य्य-कारिणी शक्ति भी वैसी ही होती है। किन्तु सन्तानोत्पत्ति, गर्भ-रक्षा आदि के कारण स्त्री-शरीर में कुछ ऐसी कमज़ोरी अवश्य आ जाती है जो स्त्रियों को कठिन तथा साहस के काम करने के अयोग्य बना देती है। इन कठिनाइयों के कारण पुरुष की प्रति-स्पर्धा में स्त्री खड़ी नहीं रह सकती। गर्भ-रक्षा और सन्तति-पालन में उसकी सारी शक्तियाँ

लग जाती हैं। अतः जीवन के अन्य क्षेत्रों में, यदि स्त्रियां पिछड़ जावे तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

(२) अब मानस-शास्त्र की दृष्टि से स्त्री और पुरुष के अन्तर पर विचार कीजिए। यहां पर आपको शरीर-शास्त्र की अपेक्षा यह भेद अधिक महत्वपूर्ण मालूम होगा। स्त्रियों की मनोरचना पुरुषों की मनोरचना से भिन्न है। पुरुष के दिल में जहां, शौर्य्य, तेज, वीरता, दृढ़ प्रतिज्ञा और संकल्प-शक्ति के प्रबल मनोभाव उठते हैं तहां स्त्री के दिल में दया, सहानुभूति, प्रेम, वात्सल्य और विश्वास के कोमल मनोभाव खिलते हैं। मातृप्रेम का मधुर सोता स्त्री-हृदय से ही जन्म लेता है। पुरुष और स्त्री का यह मानसिक भेद बड़ा ही महत्वपूर्ण है। प्रकृति ने इस भेद को पैदा करने में बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया है। बात यह है कि सन्तानोत्पत्ति और सन्तान-पालन का काम उसने स्त्री-जाति के ही ज़िम्मे रक्खा है। यदि इस काम के साथ वह इन कोमल भावनाओं की उत्पत्ति न करती तो मानव-समाज की बड़ी दुर्दशा होती। लंकाशायर और बम्बई-अहमदाबाद की हृदय-हीन मिलों की तरह स्त्री-पुरुष बच्चों को लापरवाही के साथ पैदा करते चले जाते, उन्हें इसकी चिन्ता न होती कि माल मिल की गोदाम में सड़ रहा है या दिल्ली और कलकत्ता के बाजारों में विकरहा है। पर यदि ऐसा ही होता तो मानव-रचना और ईश्वरी-रचना में क्या अन्तर रह जाता ?

परमात्मा ने तो मानव-हृदय को अनेक अमूल्य और भिन्न-भिन्न भावों से ऐसा समृद्ध बना दिया है कि प्रसंगानुसार पुरुष-हृदय स्त्रियोचित कोमल भावों का खजाना बन जाता है और

कोमल स्त्री-हृदय अवसर पड़ने पर कुलिश-कठोर भी हो जाता है।

शरीर-शास्त्र और मानस-शास्त्र के इन तात्विक भेदों को समझ लेने के पश्चात् स्त्री और पुरुष के अधिकारों का निर्णय करने में अधिक कठिनाई न पड़ेगी। इन भेदों को देखने से पता चलता है प्रकृति ने मनुष्य-समाज के इन दोनों अङ्गों को दो भिन्न-भिन्न, पर आवश्यक कार्य्यों के लिए उत्पन्न किया है। यद्यपि इनका कार्य्य-क्षेत्र अलग अलग है, तथापि इन दोनों की प्रकृति में कुछ ऐसी अपूर्णता रख दी गई है कि जिस की वजह से ये दोनों एक दूसरे के सहयोग बिना कार्य नहीं कर सकते। पुरुष स्त्री के बिना अधूरा रह जाता है, स्त्री पुरुष के बिना अधूरी रहती है। इस विभिन्नता को मिटा कर इनका आपस में सहयोग कर देने के लिए ही विवाह-पद्धति का आविष्कार हुआ है। विवाह-संस्कार के द्वारा पुरुष और स्त्री एक हो जाते हैं। उसके पश्चात् पुरुष स्त्री के गुणों का विकास करने में सहायता देता है, और स्त्री पुरुष के गुणों का विकास करने में सहायक होती है। इस प्रकार दोनों ही व्यक्ति मिल कर अपने-अपने आचारण के द्वारा दैवी-सम्पद् की वृद्धि करते हैं।

इस विश्लेषण से मालूम होता है कि स्त्री और पुरुष दोनों का कार्य्य-क्षेत्र अलग अलग है। दोनों अपने-अपने कार्य्य-क्षेत्र में पूर्ण स्वाधीन हैं, स्त्री और पुरुष का सम्बध प्रेम का सम्बन्ध है; अधिकार का नहीं। स्त्री के कार्य्यक्षेत्र में जो बाधाएँ उपस्थित होती हैं, पुरुष उनको दूर करने में सहायक हो सकता है, इसी प्रकार स्त्री भी पुरुष के मार्ग की बाधाओं को हटाने मे सहायता दे सकती है। विवाह के विषय में जैसे पुरुष स्वाधीन है, वैसे ही

स्त्री भी स्वाधीन है। समाज में जितना सदाचार पुरुष के लिए आवश्यक है उतना ही स्त्री के लिए भी आवश्यक है। शारीरिक बल की जहां आवश्यकता होगी वहां स्त्री पुरुष से सहायता लै सकती है, कोमल भावनाओं की जहां आवश्यकता होगी वहां पुरुष स्त्री से सहायता ले सकता है। अपने शारीरिक बल से वीरता से, शौर्य्य से पुरुष स्त्री की रक्षा करेगा। इसी प्रकार अपने प्रेम से विश्वास से और अपनी सेवा-शुश्रूषा द्वारा स्त्री पुरुष की रक्षा करेगी।

पर शरीर-शास्त्र, मानस-शास्त्र या समाज-शास्त्र की दृष्टि से पुरुष और स्त्री के बीच ऐसा कोई भेद नहीं है जिसका वजह से समाज के इन दो अङ्गों में से एक को मालिक और दूसरे को गुलाम तथा एक को स्वाधीन और दूसरे को पराधीन करार दिया जाय! जिस प्रकार दो विभागों के अफ़सर पद और दर्जे में समकक्ष होने पर भी अलग-अलग विभागों में काम करते हैं और एक दूसरे से सहयोग रखते हैं; उसी प्रकार स्त्री और पुरुष भी समाज के दो अलग विभागों के अफ़सर हैं। हरएक के जिम्मे अपना-अपना विभाग है। युद्ध, जीवन-संग्राम, राज्य आदि मानव-जाति की रक्षा संबन्धी कार्यों का-जिनमें वीरता, शौर्य्य, तेज आदि गुणों की आवश्यकता होती है, भार पुरुष पर है। और सन्तान-पालन, सन्तान-शिक्षा, गृह-व्यवस्था, चिकित्सा-विभाग, सेवा-विभाग आदि मानव-जाति के पालन-पोषण—एवं संवर्धन सम्बन्धी कार्यों की—जिनमें कोमल भावों की आवश्यकता है—जिम्मेदारी स्त्री पर है। यदि कोई समाज-शास्त्र प्रेम के आभाव में पुरुष को दूसरा विवाह करने की आज्ञा दे सकता है तो उस

समाज-शास्त्र को प्रेम के अभाव में स्त्री को भी दूसरा विवाह करने की आज्ञा देना ही होगी। इसके बिना न्याय की रक्षा नहीं हो सकती।

इतनी समानता के होते हुए भी पुरुष और स्त्री का जो शारीरिक तथा मानसिक भेद है, उसकी उपेक्षा कदापि न होनी चाहिए। तत्त्ववेत्ता मिल इस भेद को बिलकुल नहीं मानते। तर्क-शास्त्र की दृष्टिसे उनकी दलीलें भी बड़ी सुदृढ़ हैं। पर अनुभव हमें दूसरी ही बात बतलाता है। हमारे ख़याल से स्त्री और पुरुष की शिक्षा उनके मनोभावों के अनुसार भिन्न प्रकार की होनी चाहिए। जिस प्रकार दो महकमों के अफ़सरों को, समान दर्जा होने पर भी, भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है वही हालत पुरुष और स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में भी है। पुरुषों की शिक्षा ऐसी होना चाहिए जो उनके बलवान् मनोभावों को और भी बलवान् और विकसित करे। इसके विपरीत स्त्रियों की शिक्षा उनके कोमल मनोभावों को, उनके मातृत्व को, पत्नीत्व को, और नारीत्व को विकसित करने वाली हो। वह मिटाने से नहीं मिट सकता। यदि समानता के फेर में पड कर पुरुष और स्त्री को एक ही प्रकार की शिक्षा दी जायगी, दोनों के लिए एक ही कार्य्य-क्षेत्र चुना जायगा तो समाज में महान् अव्यवस्था का सूत्र-पात हो जायगा। इस शिक्षा के फेर में पड़ कर स्त्री-समाज अपनी तमाम स्वाभाविक मनोवृत्तियों को भूल कर बिलकुल अस्वाभाविक अवस्था में जा गिरेगा। यही दशा आज कल यूरोप में हो रही है। वहां का स्त्री-समाज चाहे कितना ही शिक्षित हो गया हो, पर स्त्री-समाज की जो स्वभावतः शान्त

और आनन्द मय अवस्था होना चाहिए उस की वहां झलक भी नहीं दिखलाई देती। पुरुषों की प्रतिस्पर्धा के पीछे स्त्री समाज पागल हो रहा है।

इस के यह अभिप्राय नहीं है कि किसी के स्वाधीन मनोविकारों का घात किया जाय। कई स्त्रियां ऐसी भी होती हैं जो स्त्री-सुलभ कोमल भावनाओं को बिलकुल पसन्द नहीं करतीं। उन्हें स्वभावतः युद्ध, राजनीति, साहित्य औरइसी प्रकार के अन्य विषयों से रुचि होती है। ऐसी स्त्रियों को भले ही उन की मन चाही शिक्षा दी जाय पर उन की प्रबल मनोभावनाओं से समाज की रक्षा करने के लिए यह नियम होना चाहिए कि वे अविवाहित रह कर समाज की और राष्ट्र की सेवा करें। ऐसी स्त्रियों के लिए या ऐसे पुरुषों के लिए समाज में विस्तीर्ण क्षेत्र खुला होना चाहिए। उन के सत्कार का पूरा प्रबन्ध होना चाहिए। जिस से वे पूर्ण सन्तोष के साथ अपना विकास कर सकें।

पांचवां अध्याय

जीवन-विभाग

आश्रम-पद्धति

वर्ण-व्यवस्था का विवेचन करते हुए हम ऊपर लिख आये हैं कि शरीर-शास्त्र तथा मानस-शास्त्र की दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य में जो प्राकृतिक भेद रहता है वह मिटाये मिट नहीं सकता, तथा इस व्यक्तिगतभेद का प्रभाव समाज-रचना पर भी पड़ता है, जिससे समाज में भी गुण-कर्मानुसार कुछ भेदोपभेद उत्पन्न हो जाते हैं पर मनुष्य के इन गुण-कर्मों की परीक्षा किस प्रकार की जाय ? प्रत्येक मनुष्य में कई ऐसी सुप्त-प्रवृत्तियां होती हैं, जिन्हें वह स्वयं भी, जब तक वह समप्रदाय और सुसंस्कृत नहीं हो जाता, नहीं पहचान पाता। ऐसी स्थिति में केवल उस की चंचल मनः-प्रवृत्तियों को लक्ष्य में रख कर या उस के ऊपरी गुणों को देख कर उसको किसी विशिष्ट वर्ग में रख दिया जाय, तो बड़ी गम्भीर भूल होने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार के लोग, बिना अन्तः प्रवृति की परीक्षा किये, यदि बुद्धि-प्रधान या ब्राह्मण वर्ग में रख दिये जायँगे तो उनसे ब्राह्मण विभाग भ्रष्ट हो जायगा और समाज निरे मूर्खों का या पठित मूर्खों का केन्द्र स्थल हो जायगा। यदि भ्रम वश कहीं वे क्षत्रिय-वर्ण में भेज दिये गये तो समाज में शान्ति-रक्षा के स्थान पर या तो

मारकाट और लूटखोस के दृश्य अभिनीत होने लगेंगे। या शौर्य के स्थान पर वह वर्ण कायरता का अड्डा हो जायगा। यदि वे वैश्य-समाज में गये तो समाज में विलास और आलस्य फैलेगा। मतलब यह कि यदि किसी मनुष्य का चुनाव उनकी मनः स्थिति का अध्ययन किये बिना हो जायगा तो समाज में वर्ण-व्यवस्था सफल न हो सकेगी। इस कठिनाई को दूर करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य जब से उत्पन्न हो तभी से उस की सूक्ष्म मनोभावनाओं की परीक्षा उसके माता-पिता प्रारम्भ कर दें। उस के पश्चात् उसके शिक्षक लोग जिस प्रकार की उस की मनोभावनाएं देखें उसी प्रकार की शिक्षा उसे दें। यदि वह शिक्षा उस के अनुकूल होगी तो अवश्य वह उसमें उन्नति कर दिखायगा। इस प्रकार उसमें जिस प्रकार के गुणों की विशेपता देखें उसी वर्ण में दर्ज करने के लिए उसे प्रमाण-पत्र दे दें।

इस सम्बन्ध में प्राचीन भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था के साथ ही आश्रम-व्यवस्था भी रक्खी गई थी। यह पद्धति बड़ी ही सुन्दर थी। जब तक यह चली होगी तब तक समाज में अवश्य चुनाव सम्बन्धी कोई गड़बड़ न हुई होगी। पर हम नहीं कह सकते कि यह आश्रम-व्यवस्था समाज में समष्टि रूप से कभी थी या नहीं। क्योंकि हम केवल इतना जानते हैं कि सिद्धान्त रूप में तो यह व्यवस्था यहां के साहित्य में अवश्य रही है, और इसका रूप बड़ा ही परिमार्जित और सुन्दर है। भूत में चाहे यह व्यवस्था व्यवहार न भी आई हो तो भी इतना निश्चय है कि यदि भविष्य में इस को व्यावहारिक रूप मिला तो समाज का एक बड़ा भारी कल्याण होगा।

हमें संक्षिप्त में इस व्यवस्था का विवेचन कर देना आव-

श्यक समझते हैं। भारतीय तत्वज्ञानियों ने इस सम्बन्ध में एक बड़े ही मार्के का श्लोक कहा है:—

जन्मानाजायते शूद्रः संस्कारा द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्त्वं ब्रह्मवेत्तैव ब्राह्मणः॥

मनुष्य जन्मतः तो शूद्र ही होता है, पर शुभ संस्कारों से उस में काया-पलट हो जाता है। तब वह द्विजत्व को प्राप्त करता है। विद्या फिर उसे विप्र बनाती है मनुष्य ब्राह्मण तो तभी कहा जा सकता है जब इन सब सीढ़ियों को पार कर वह ब्रह्म को जान ले।

कितनी सुन्दर व्यवस्था है! इसमें साम्यवाद का कितना सुंदर तत्व प्रतिपादित्ता किया गया है? जन्म होते ही सब मनुष्य समान रूप से पैदा होते हैं उन में कोई भेद नहीं रहता। इसके बाद तरक्की के लिए सब का रास्ता समान रूप से खुला हुआ है। जो चाहे तरक्की करके अपने मंजिले मकसूद पर पहुँच सकता है। जो जितना परिश्रम करेगा उसे उतना ही पुरस्कार मिलेगा। मार्ग किसी के लिए रुका हुआ नहीं है। पुरुषार्थ की परीक्षा का सब को समान अवसर है।

इस पुरुषार्थ की परीक्षा के लिए भारतीय तत्त्वज्ञानियों ने मनुष्य-जीवन के चार विभाग कर दिये हैं। (१) ब्रह्मचर्याश्रम (२) गृहस्थाश्रम (३) वानप्रस्थाश्रम (४) और सन्यासाश्रम।

ब्रह्मचर्य्याश्रम

इस आश्रम में आठ से बारह वर्ष के भीतर बालक को घर से अलग करके-गुरुकुलों में, जो नगर से दूरवर्ती स्थानों में विशाल

मैदानों में या पहाड़ों पर बने हुए होने चाहिये, आदर्श गुरुओं की देख-भाल में शिक्षा ग्रहण करने के लिए भेज देना चाहिए। आश्रम में साम्यतत्व का पूरा पूरा निर्वाह होना चाहिए। राजा से लेकर रंक तक सब के लिए समान व्यवहार और तथा समान व्यवस्था और शिक्षा परिमार्जित अध्यापन शास्त्र के अनुसार हो। सदाचार का यह गृह ऊँचा तत्त्वः—

> मातृवत् पर दारेषु, पर द्रव्येषु लोष्ठवत्।
> आत्मवत् सर्व भूतेषु, यः पश्यति स पण्डितः॥

यहां के प्रत्येक विद्यार्थी के जीवन में ओत-प्रोत हो जाना चाहिए। प्रत्येक विद्यार्थी की मनोवृत्ति का सूक्ष्म अध्ययन करके; जिस वर्ण के उपयुक्त गुरु उसे समझे, उस वर्ण के अनुसार उसे विशेष शिक्षा देने का प्रबन्ध भी हो। ब्राह्मण-वृत्ति बालकों को धर्म, नीति, आदि ब्राह्मणोपयोगी, क्षत्रिय-वृत्ति वाले विद्यार्थियों को राजनीति और युद्धनीति और वैश्य-वृत्तिशील बालकों को व्यापार-नीति और अर्थ-नीति की तथा शूद्र-वर्ण के बालकों को उत्कृष्ट सेवा-धर्म की शिक्षायें देने का प्रबन्ध किया जाय। यह शिक्षा पचीस वर्ष की उम्र तक समाप्त कर दी जाय। इस के पश्चात्, जो जिस वर्ण में सम्मिलित करने योग्य हो उसे उस वर्ण का प्रमाण-पत्र देकर अपने आशीर्वाद देकर गुरु ग्राहस्थ्य के रंगमंच पर भेजे।

यही व्यवस्था कन्याओं के लिए भी हो। अध्यापिकायें कन्याओं को भी उनकी मनोवृत्ति के अनुकूल चारों वर्णों में से किसी एक वर्ण की उपयुक्त शिक्षा दे। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि कन्याओं का कार्य्य-क्षेत्र बालको के कार्य्य-क्षेत्र से

बिलकुल भिन्न है। अतः उस भिन्नत्व को समझ कर ही उनकी शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए।

गृहस्थाश्रम

इस प्रकार ब्रह्मचर्य्याश्रम के पच्चीस वर्षों में उत्तम स्वास्थ्य, उत्तम शिक्षा और उत्तम मनोभावों का विकास कर, सात्विक तेज से सम्पन्न हो युवक गृहस्थाश्रम की रंगभूमि में, जीवन के कार्य्य-क्षेत्र में पदार्पण करे। यहां पर आकर उसे जिस वर्ण का प्रमाण-पत्र मिला हो, उसी वर्ण के प्रमाण-पत्र वाली, अपने अनुकूल तरुणी से वह विवाह करे। इसके पश्चात् जिस वर्ण में वह सम्मिलित हुआ हो उसी वर्ण के अनुसार वह पूर्ण निस्वार्थ भाव से देश और समाज की सेवा करे। अपनी जीविका साधन के लिए वह धर्म-पूर्ण नीति से द्रव्योपार्जन करे। जो भाव ब्रह्मचर्य्याश्रम में गुरु के प्रति रक्खा जाता था वही गृहस्थाश्रम में देश और समाज के प्रति रक्खे। तथा अपने निर्मल और सात्विक तेज से समाज में सतोगुण को समष्टिगत करे।

इस प्रकार बीस पच्चीस वर्ष गृहस्थाश्रम की रंग-भूमि पर अपने सुन्दर अभिनय करके, वे दम्पति अधिजनन शास्त्र के अनुसार एक सुन्दर पुत्र और कन्या को अपने स्थान पर छोड़ कर, संसार से पराङ्मुख हो, भगवद्भक्ति के लिए वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करे।

वानप्रस्थाश्रम

ब्रह्मचर्य्याश्रम में जो भाव गुरु के प्रति, तथा गृहस्थाश्रम में जो भाव देश और जाति के प्रति रक्खा जाता था, वानप्रस्थाश्रम में वह भाव ईश चरणों में लीन हो जाता है। इस आश्रम

में दो कार्य्य प्रधान रहते हैं। एक तो ईश भक्ति के द्वारा अपना व्यक्तिगत कल्याण और दूसरा अपने दीर्घ अनुभवों और परिमार्जित ज्ञान के द्वारा देश अथवा समाज की निष्काम सेवा। गृहस्थाश्रम में मनुष्य देश और जाति की सेवा करता है। मगर एक तो उसके अनुभव कुछ कच्चे रहते हैं, दूसरे जीविका के लिए भी उसे कुछ न कुछ प्रयत्न करना ही पड़ता है, तीसरे स्त्री पुरुषों का मोह भी उस में किसी न किसी रूप में रहता ही है। ऐसी स्थिति में उस से कभी कभी कुछ गलतियां होने की सम्भावना रहती है। ऐसे अवसरों पर यदि ये संसार त्यागी महानुभाव उन्हें सचेत करते रहें और अपने अनुभवों का लाभ उन्हें देते रहें तो समाज की बहुत बड़ी सेवा हो सकती है।

सन्यास

वानप्रस्थाश्रम से विकास करते करते कुछ भाग्यवान् इस अवस्था में भी पहुँच जाते हैं। इस अवस्था में देश, जाति और अपने पराये का कुछ भान नहीं रहता। सारा जगत् ब्रह्ममय हो जाता है। इस अवस्था का विवेचन दर्शन शास्त्र का कार्य है। यहां पर इस सम्बन्ध में कुछ लिखना अनधिकार चेष्टा होगी।

इस पद्धति के साथ में रहने से वर्ण-व्यवस्था के बहुत से तात्विक दोष नष्ट हो जाते हैं। प्रथम तो एक एक वर्ण का चुनाव करने के सम्बन्ध में जो कठिनाई पड़ती है, वह स्वभावतः दूर हो जाती है। दूसरे, इस व्यवस्था के अनुसार २५ वर्ष तक नवयुवकों को पूर्ण ब्रह्मचारी रह कर ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। उस के पश्चात् परिपक्व वीर्य्य होने पर ही वे विवाह करके गृहस्था-

श्रम में प्रविष्ट होते हैं। कहना न होगा कि इस प्रकार के दम्पतियों से जो सन्तानें उत्पन्न होंगी वे पूर्ण स्वस्थ, दीर्घायु, मेधावी और दैवी सम्पद् युक्त होंगी। इस के पश्चात शरीर का कुछ उतार आते ही, पैंतालीस, पचास वर्ष की आयु होते ही वे गृहस्थाश्रम को त्याग कर वानप्रस्थ हो जाते हैं, इस उम्र के पश्चात् जैसी चाहिए वैसी बलिष्ट सन्तानें नहीं हो सकतीं। अतः ऐसे लोगों को सन्तानोत्पत्ति करने से रोक दिया जाता है।

तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने भी इसी ढङ्ग की एक व्यवस्था का उल्लेख "रिपब्लिक" में किया है। उनका कथन है कि राष्ट्र के अन्तर्गत पैदा हुए तमाम बालक राष्ट्र की सम्पत्ति समझी जाय, उन के माता पिताओं की नहीं। ज्यों ही बच्चा पांच वर्ष का हो त्यों ही उसे उसके माता पिता से छीन कर राष्ट्र के शिक्षणालयों में भेज दिया जाय। वहां पर आदर्श रूप से उस की शिक्षा हो। राष्ट्र-भक्ति और समाज-भक्ति की तमाम कल्पनाएं उसमें कूट कूट कर भरी जायँ। इन बालकों में से विद्वान् शिक्षकों को जो बालक बुद्धि-प्रधान प्रतीत हों उन्हें राष्ट्र के शासन की शिक्षा देनी चाहिये, जो तेज-प्रधान प्रतीत हो उन्हें युद्ध और अस्त्र-विद्या की शिक्षा देनी चाहिए और जो वासना-प्रधान हों उन्हें कृषि और वाणिज्य की शिक्षा देनी चाहिये। शिक्षा समाप्त होने पर ये लोग कर्मक्षेत्र में आवें। इसी प्रकार कन्याएं भी शिक्षा द्वारा राष्ट्र-सेवा के लिये तैयार की जायँ। इनमें से जो युवक या युवतियां कमजोर हों, उन्हें प्रेम करने की इजाजत न दी जाय। बलिष्ट युवक, बलिष्ट युवतियों से प्रेम करें जिस से राष्ट्र में बलिष्ट सन्तानें उप्पन्न हों। इत्यादि।

इन दोनों व्यवस्थाओं की तुलना करने पर प्रतीत होता है

कि प्लोटो की व्यवस्था की अपेक्षा भारतीय तत्त्वज्ञानियों की व्यवस्था अधिक परिमार्जित है। वल्कि सैद्धान्तिक रूप से तो इस व्यवस्था को सर्वथा निर्दोष कहा जाय तो भी अतिरेक न होगा। यदि इस प्रकार की व्यवस्था का समाज में समष्टिगत प्रचार हो जाय तो इस में सन्देह नहीं कि समाज-रचना का सर्वांग सुन्दर रूप इस से तैय्यार हो सकता है। पर व्यावहारिक दृष्टि से जब हम इस व्यवस्था को देखते हैं तो इसमें दो चार अपवाद ऐसे दृष्टि गोचर होते हैं, जिनकी वजह से इस व्यवस्था की सफलता में सन्देह हो जाता है। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि ये अपवाद अपवाद ही हैं, किसी प्रकार की कमजोरी या भूलें नहीं हैं।

१—पहली बात तो यह है कि समाज में इतने मानस-शास्त्र के विद्वान् गुरुओं का मिलना कठिन है, जो निःस्वार्थ भाव से समाज के सब वालकों के लिए गुरुकुल में शिक्षा की व्यवस्था कर सकें। तथा उन की मनः प्रवृत्ति का सूक्ष्म अध्ययन करके उन के गुण-कर्मानुसार विशिष्ट वर्ण की व्यवस्था दे सकें।

२—कभी कभी यह भी देखा जाता है कि मनुष्य प्रकृति का स्वरूप बाल्यावस्था में कुछ और ही रहता है, किशोर अवस्था में उस का स्वरूप दूसरा ही हो जाता है, युवावस्था में उस का तीसरा ही रूप हो जाता है और प्रौढ़ावस्था में उस का रङ्ग कुछ और हो जाता है। मनुष्य-प्रकृति-गत वह विषमता इस पद्धति की सफलता में सब से बड़ी बाधक है।

३—जब वर्ण-व्यवस्था गुण और कर्म्म के अनुसार रहेगी तब ब्रह्मचर्य्याश्रमों के प्रायः सभी युवक स्वभावतः ही यह चाहेंगे कि हम भी उच्च वर्णों में चुने जांय। खास कर शूद्र वर्ण में तो

अपने को कोई चुनवाना पसन्द न करेगा। पर इधर उनकी स्वाभाविक प्रकृति के वशीभूत होकर गुरु को मजबूरन उन्हें उस वर्ण में चुनना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में जो युवक त्याग प्रवृत्ति वाले होंगे वे शायद असन्तुष्ट न भी हों, पर सभी युवकों का ऐसा हो जाना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में बहुत से नवयुवक इस से असन्तुष्ट होकर निकलेंगे और समाज में विद्रोह का बीज बोएँगे।

४—बहुत से मनुष्य तो ऐसे होते हैं जो बीस पच्चीस वर्ष में विषय-वासनाओं से तृप्त होकर स्वयमेव वानप्रस्थ हो जायंगे। पर कई मनुष्य ऐसे भी होते हैं जो उम्र भर विषय-वासनाओं से तृप्त नहीं होते और समाज पर कमजोर और दुर्बल सन्तानों का बोझा लादते ही जाते हैं। ऐसे मनुष्य भी इस पद्धति की सफलता के लिये बड़े बाधक होते हैं।

इन अपवादों में से कुछ तो ऐसे हैं जो कानून की सहायता से मिटा दिये जा सकते हैं। और कुछ ऐसे हैं जो हर समय जीवित रहते हैं। इस प्रकार के अपवाद उत्कृष्ट से उत्कृष्ट नियमों में भी रहते हैं। ऐसी स्थिति में इन की वजह से इस पद्धति को सदोष कहना उचित नहीं। हमारा तो ख़याल है कि इन अपवादों के रहते भी यह पद्धति अपने असली रूप में समाज के अन्तर्गत समष्टिगत हो जाय तो समाज-रचना की एक महा भीषण कठिनाई जो कई शताब्दियों से संसार में चली आ रही है कई अंशों में हल हो जाय।

छठा अध्याय

विवाह

गृहस्थ-धर्म के अन्तर्गत विवाह सब से प्रधान वस्तु है। समाज की जीवन-रक्षा के लिए इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। समाजोत्पत्ति का सब से प्रधान कार्य्य इसी पद्धति के द्वारा होता है। इस पद्धति की उन्नति और अवनति पर ही समाज की उन्नति और अवनति निर्भर है। अतः इस पद्धति पर विचार करना समाज-विज्ञान का प्रधान कार्य्य है। नीचे हम यह बतलाने की चेष्टा करेंगे कि विवाह का व्यक्तिगत और सामाजिक उद्देश्य क्या है, अभी तक संसार में विवाह-प्रणाली को कौन कौन से रूप प्राप्त हुए, उन में क्या क्या गुण-दोष हैं, तथा विवाह का आदर्श स्वरूप क्या होना चाहिए।

विवाह कर व्यक्तिगत उद्देश्य

प्रकृति बड़ी ही प्रमोद-प्रिय है। उसकी लीला बड़ी विचित्र है। जगत् उसका एक खिलौना है। इन खिलौनों से वह नाना प्रकार के खेल खेलती रहती है। जिन घटनाओं को देख कर जगत् हंसता है, रोता है, जिन घटनाओं से संसार में प्रलय मच जाता है अथवा आनन्द के फौवारे छूटने लगते हैं वे सब घटनाएँ प्रकृति के खेल मात्र हैं।

जीवधारी की रचना भी उस ने बड़े अजब ढंग से की है। प्राणि जगत् को उसने दो विभागों में विभक्त करके उत्पन्न किया

है। नर और मादा। इन भागों की वजह से कोई भी प्राणी पूर्ण होकर पैदा नहीं। हो सकता। यदि वह नर-विभाग में पैदा होता है तो मादा-विभाग के गुणों से वञ्जित रहता है और यदि मादा-विभाग में उत्पन्न होता है तो नर-विभाग के गुणों से वांञ्चित रहता है।

प्रकृति-गत यह अपूर्णता साधारण अपूर्णता नहीं है। उसने इन दोनों विभागों की शारीरिक रचना इस प्रकार की है, उन में ऐसा आकर्षण रक्खा है, कि दोनों के अन्दर एक दूसरे को देखते ही एक प्रकार का रागात्मक भाव पैदा हो जाता है, और जब तक एक दूसरे से सहयोग सम्बन्ध स्थापित नहीं कर लेता, तब तक बड़ा व्याकुल रहता है। दोनों विभागों के बीच का यह आकर्षण इतना प्रबल और सहज रहता है कि एक विभाग का प्राणी दूसरे विभाग के प्राणी को देखते ही उस से मिलने के लिए पूर्ण उत्कंठित हो जाता है। इस आकर्षण की वजह से दोनों विभागों का शारीरिक सम्बन्ध होता है।

दो भिन्न जातीय-प्राणियों में यह जो पारस्परिक आकर्षण या उत्कण्ठा होती है इसे काम वासना कहते हैं। यह कामवासना जगत् के छोटे छोटे अविकसित प्राणियों से लेकर बड़े से बड़े और उत्क्रान्त प्राणियों तक में पाई जाती है। यह वासना इतनी प्रबल और मोहमयी होती है कि जब प्राणी इसके फेर में पड़ जाता है तब वह अपने आपको बिलकुल भूल जाता है। इस मद के समय वह प्राणों की भी परवाह नहीं करता। प्रकृति ने इस वासना को उत्पन्न करके जगत् में एक भारी हल चल मचा दी। इस के कारण प्राणी-जगत् में नित्यप्रति हजारों लाखों

हत्याएं और अनेक दुर्घटनाएं होती रहती हैं। पर उस के इस खेल में एक महान्-उद्देश्य भी सन्निहित है। नर और मादा के इस सम्बन्ध से उसने सन्तानोत्पत्ति का सिलसिला जारी करके सृष्टि रचना का एक अद्भुत उपाय निकाल दिया है जिससे प्रकृति का एक महान् कार्य्य सम्पन्न हो जाता है।

प्रकृति की यह लीलामयी क्रीड़ा ही विवाह के सूक्ष्म बीज का जन्म स्थान है। पर यहां यह खयाल रखना चाहिए कि केवल शारीरिक सम्बन्ध को या कामवासना की तृप्ति कर लेने ही को विवाह नहीं कहते। शारीरिक सम्बन्ध जगत् के बहुत से प्राणियों में होता है पर यह होते हुए भी उन सब में विवाह नहीं होता। शारीरिक सम्बन्ध के साथ साथ जब मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक सम्बन्धों का संम्मिश्रण होता है तब वह विवाह कहलाता है। यह विवाह केवल मनुष्य समाज ही में होता है अन्य प्राणियों में नहीं। अन्य प्राणियों में नर मादा का सम्बन्ध केवल कामतृप्ति तक ही होता है। यह तृप्ति होते ही उनका फिर कोई सम्बम्ध नहीं रहता। पर मनुष्य-समाज में यह सम्बन्ध स्थायी रहता है। यहां तक कि काम-वासना के समूल नष्ट हो जाने पर भी वह ज्यों का त्यों स्थिर रहता है।

पुरुष और स्त्री के अन्दर शारीरिक विभिन्नताओं के साथ साथ कई प्रकार की मानसिक विभिन्नताएं भी रहती हैं। कई प्रकार के विशिष्ट गुण केवल पुरुष में होते हैं; इसी प्रकार कई विशिष्ट गुण केवल स्त्री में ही रहते हैं। इन विशिष्ट गुणों की पूर्ति के लिए दोनों एक दूसरे के लिए लालायित रहते हैं। बल, पुरुषार्थ, धीरज, साहस, आदि गुणों के लिए स्त्री-पुरुष भी और स्नेह,

ममता, सहानुभूति दया, दायित्व आदि गुणों के लिए पुरुष स्त्री का इच्छुक रहता है। इन गुणों की वजह से दोनों के बीच में एक स्वाभाविक मानसिक आकर्षण होता है। यह आकर्षण शारीरिक आकर्षण की तरह उत्तेजक और मादक नहीं होता। बल्कि उस की अपेक्षा अधिक स्थिर और दृढ़ होता है। शारी-रिस सम्बन्ध एक नशे की तरह होता है जो जवानी के उतरते उतरते मन्द पड़ जाता है। और जिस का अन्तिम परिणाम उदासीनता, तामसिक वैराग्य और गृहकलह होता है। मगर मानसिक सम्बन्ध एक गम्भीर सम्बन्ध होता है, जो जीवन के वसन्त काल से लेकर उसके पतझड़ तक एकसा स्थायी, सुन्दर और स्थिर रहता है। इस सम्बन्ध में न उत्तेजना होती है, न कलह। शारीरिक सम्बन्ध का देवता "काम" है और मानसिक सम्बन्ध का प्रेम। शारीरिक सम्बन्ध के साधन, सौन्दर्य्य, लावण्य नजाकत और तारुण्य हैं और मानसिक सम्बन्ध के साधना विचार, प्रवृत्ति और प्रेम।

यह विवाह के व्यक्तिगत उद्देश्यों का विवेचन है। अब हम यह देखना चाहते हैं कि सामाजिक जीवन के साथ इस का कितना गहन सम्बन्ध है।

विवाह का सामाजिक उद्देश्य

इस पुस्तक का प्रारम्भ करते हुए हम लिख आये हैं कि मनुष्य प्राणी में स्वभावतः दो विरोधी प्रवृत्तियों का अस्तित्व रहता है। एक तो उस की सामाजिक प्रवृत्ति और दूसरी उसकी व्यक्तिगत-अहङ्कार-प्रवृत्ति। इन दोनों प्रवृत्तियों के संघर्षण से समाज

में एक प्रकार की अशान्ति मच जाती है। इसी अशान्ति से समाज की रक्षा करने के लिए समाज-शास्त्र की योजना होती है। विवाह-पद्धति भी इस समाज-शास्त्र का एक प्रधान अध्याय है। इस पद्धति के द्वारा मनुष्य की काम-प्रवृत्ति से उत्पन्न होने वाली तमाम अव्यवस्थाओं पर एक प्रकार का बन्धन डाल दिया जाता है।

मनुष्य की तमाम दुष्प्रवृत्तियों में काम-प्रवृत्ति बहुत प्रबल है। संसार के तमाम धर्म्मशास्त्रों ने इस प्रवृत्ति की प्रबलता का वर्णन किया है। इस प्रवृत्ति की वजह से समाज में भारी अव्य-वस्था उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य इस वृत्ति से उत्तेजित होकर नाना प्रकार के अनाचार, व्यभिचार और बलात्कार करने पर उतारू हो जाता है। जहां भी कहीं यह सौन्दर्य्य, लावण्य और तारुण्य की धारा देखता है वहीं पतङ्ग की तरह उस में कूदने को तैय्यार हो जाता है। संयम, ब्रह्मचर्य्य, विचार और स्वास्थ्य का उसे बिलकुल खयाल नहीं रहता। इस दुष्प्रवृत्ति की वजह से न तो समाज में बलवान् और प्रतिभाशाली शन्तानें उत्पन्न हो सकती हैं और न समाज का जीवन ही शान्त रह जाता है।

इसी अव्यवस्था को दूर करके समाज में सात्विक प्रेम और स्वस्थ सन्तानें उत्पन्न करने के लिए तथा ब्रह्मचर्य्य, सामाजिक स्वास्थ्य और दैवी सम्पद् को समष्टिगत करने के लिए विवाह-संस्था की उत्पत्ति हुई है। विवाह-संस्था मनुष्य की इसी पशु प्रवृत्ति पर एक प्रकार का संयम कायम कर देती है। इस के द्वारा मनुष्य की स्वाभाविक काम-वासना की तृप्ति का प्रबन्ध तो हो ही जाता है, पर इस के अतिरिक्त इस संस्था के कारण काम-

वासना जैसी भयङ्कर प्रवृत्ति में से भी कई ऐसे सुन्दर फलों का जन्म होता है, जिससे समाज-शरीर का पालन और उसके जीवन का पोषण होता है। इन्हीं सब कारणों से समाज में विवाह पद्धति आवश्यक समझी गई है। संसार की कुल सभ्यताओं में किसी न किसी रूप में इसका अस्तित्व पाया जाता है।

इस प्रकार मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और सामाजिक आवश्यकता के स्थान से भी विवाह संस्था मानव-समाज के लिए बड़ी उपयोगी चीज है। पर विवाह-संस्था एक और ख्याल से भी उपयोगी है। यह है मनुष्य की अध्यात्मिक आवश्यकता। उपर्युक्त तीन कारणों को तो प्रायः सारा सभ्य और विचारक संसार स्वीकार करता है। पर हिन्दू विचारक, विवाह के कारणों में इस चौथे कारण को भी सम्मिलित करते हैं। वे विवाह को केवल शारीरिक, मानसिक सामाजिक-व्यवस्था के ख्याल से ही उपयोगी नहीं समझते प्रत्युत वे धर्म से भी उस का गहरा सम्बन्ध मानते हैं। उन का विश्वास है कि संसार यात्रा को पार करने में अकेला पुरुष या अकेली स्त्री ही समर्थ नहीं हो सकते। जिस प्रकार रथ एक पहिये से नहीं चल सकता उसी प्रकार इस जीवन-रथ को भी संसार यात्रा से पार करने के लिए पुरुष और स्त्री रूप दोनों पहियों की आवश्यकता होती है। यहां के तत्त्वज्ञानी विवाह के सम्बन्ध को केवल इहलौकिक ही नहीं मानते, किन्तु उनके ख्याल से विवाह मनुष्य के लिए पारलौकिक महत्व भी रखता है। उनके विचारानुसार स्त्री और पुरुष का पवित्र सम्बन्ध इहलोक का तो सुख मय करता ही है पर वह परलोक को भी प्रकाशमय कर देता है। इसी विश्वास के फल स्वरूप इस

देश में इस प्रथा पर कई धार्मिक बन्धन लगा दिये गये । खास कर स्त्री-जाति को तो इस देश में धार्मिक बन्धनों के पाश में बहुत ही जकड़ दिया । इसका नैतिक परिणाम क्या हुआ इसका विवेचन हम आगे चल कर करेंगे ।

अब हमें देखना यह है कि विवाह-प्रणालियों के कौन कौन से स्वरूप मनुष्य-समाज के अन्तर्गत अस्तित्व में आये और उनसे समाज की अवस्थाओं में क्या क्या परिवर्तन घटित हुए ।

भारतीय विवाह-पद्धतियां

वैसे तो मनुष्य-समाज के जन्म काल ही से किसी न किसी रूप में उसमें विवाह संस्था चली आई है । नर और नारी का सम्बन्ध अनादि है, मनुष्य-समाज से भी शायद इसका इतिहास पुराना हो। पर विवाह-पद्धति के तात्विक स्वरूप का जितना विकास भारतीय सभ्यता के अन्तर्गत हुआ, उतना शायद संसार की किसी भी दूसरी सभ्यता में न हुआ होगा । इस देश में इस विषय के बारीक से बारीक तत्त्वों पर विचार करके इस पद्धति के अनेकों भेदोपभेद किये गये हैं । केवल मनुस्मृति में हो आठ प्रकार की विवाह-पद्धतियों (ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच) का वर्णन है । इसके अतिरिक्त स्वयम्वर आदि प्रथाएं और अलग हैं । यूरोप अमेरिका आदि देशों में भी विवाह-पद्धतियां प्रचलित हैं । पर वहां पर इस प्रथा को केवल सामाजिक और व्यक्तिगत महत्त्व ही है। उसका आधार धर्म पर नहीं । फलतः वहां पर वही विवाह सफल समझा जाता है जो इन दो उद्देश्यों को पूर्ति करता रहे । इन उद्देश्यों के भङ्ग होते ही वह

मर्यादा भी टूट जाती है। पर भारतवर्ष में यह पद्धति धर्म-मूलक समझी जाती है। जिसकी वजह से वहाँ विवाह-संस्कार की दृढ़ता अखण्डनीय और अमर हो गई है।

भारतीय विवाह पद्धतियाँ—केवल तीन प्रधान हैं—(१) ब्राह्म विवाह, (२) स्वयम्वर और (५) गान्धर्व। दैव, प्राजापत्य आदि विवाह-पद्धतियों का समावेश भी ब्राह्म विवाह में हो जाता है। अतः इनका विवेचन हम ब्राह्म-विवाह के अन्तर्गत ही करेंगे।

ब्राह्म-विवाह की प्रथा सारे भारत वर्ष में प्रचलित थी। इसमें वर और कन्या का सम्बन्ध गोत्र और पिंड को छोड़ कर स्थिर किया जाता था। वर और कन्या के रूप, गुण, वय और वंश को देख कर माता, पिता और पुरोहित सम्बन्ध स्थिर कर देते और सम्बन्ध स्थापित होते ही उसे धार्मिक रूप दे दिया जाता जिससे वह सम्बन्ध पत्थर की लीक हो जाता था।

स्वयम्वर की प्रथा क्षत्रिय समाज में अधिक प्रचलित थी। इस प्रथा में वर चुनने का भार कन्या के ऊपर ही छोड़ दिया जाता। कन्या के इच्छुक तमाम नवयुवक स्वयम्वर सभा में आ कर बैठ जाते थे। कन्या उनके बीच में वरमाला लेकर निकलती थी। पुरोहित या कोई होशियार सखी प्रत्येक नवयुवक का विस्तृत परिचय देती जाती थी। सब परिचयों को सुन कर कन्या जिसको पसन्द करती, उसके गले में वरमाला डाल देती थी। एक तरीका और भी था। कन्या का पिता कोई ऐसी परीक्षा स्वयम्बर में आये हुऐ लोगों के सम्मुख रख देता, जो बहुत ही कठिन होती थी। जो नवयुवक उस परीक्षा में पास हो जाता वही उस कन्या का अधिकारी होता था।

गन्धर्व विवाह की पद्धति गुप्त होती थी। यह पद्धति आज कल की कोर्टशिप पद्धति से कुछ मिलती जुलती थी। किसी भी युवक और युवती के बीच में, संयोगवश एक स्थान पर रहने से, या कहीं एकान्त स्थान पर मिलने से, या पत्र-व्यवहार से, अथवा दूर ही से एक दूसरे के रूप और गुण की प्रशंसा सुनने पर, स्वाभाविक प्रेम हो जाता था। विरोध की आशंका, भय, लज्जा या माता-पिता से दूर होने के कारण जब वे युवक युवती उन्हें इस सम्बन्ध की खबर न दे सकते थे, तब वे दोनों ही पंचभूत, सूर्य्य, चन्द्र आदि को साक्षी करके आपस में विवाह कर लेते थे। यही गधर्व-विवाह है।

पर इन सब प्रणालियों में यहां पर ब्राह्म विवाह की प्रथा सर्वोत्कृष्ट मानी गई है। इस प्रथा से विवाह के चारों उद्देश्व सफल हो सकते हैं। स्वस्थ्य उचित 'वयवाले' और समान गुण वाले दम्पती अत्यन्त आनन्द पूर्वक अपनी वासनाओं की तृप्ति कर सकते हैं, संयम और प्रेम के साथ जीवन व्यतीत कर सकते हैं। उत्तम स्वास्थ्य और संयम पूर्ण जीवन होने से वे समाज को स्थायी शांति और स्वस्थ्य सन्तानें भी प्रदान कर सकते हैं और धार्मिक दृष्टि से भी उनका जीवन बड़ा उच्च हो सकता है। तथापि चुनाव का भार वर और वधू पर नहीं प्रत्युत माता, पिता और पुरोहित पर रहने के कारण वर वधू के चुनाव में गलती हो सकती है क्योंकि सभी माता-पिता और पुरोहित चुनाव में इतने दक्ष तो नहीं हो सकते। मनुष्य प्रकृति की रचना ही कुछ ऐसी जटिल है कि उसको पूरा पूरा पहचाननां अत्यन्त कठिन हो जाता है। विकासोन्मुख युवक युवतियों की स्वभाव परीक्षा दो चार दिन में कैसे हो सकती है? हम समाज में

ऐसे कितने ही अनमेल विवाहों को देखते हैं जिनमें भिन्न-भिन्न प्रकृति और शील स्वभाव वाले स्त्री-पुरुष माता-पिता द्वारा विवाह के बन्धन में जकड़ दिये गये हैं। फिर ये भूलें उस समाज में और भी भयंकर रूप में दृष्टिगोचर होती हैं जिनमें परदे की कुप्रथा है। यहाँ तो प्रायः विवाह-सम्बन्ध आंखें मूंद कर ही होते हैं।

पर स्वयम्वर प्रथा हमारी समझ से और भी अधिक सदोष है। एक अपरिपक्व बुद्धिवाली बाला अथवा युवती को, जो शिक्षित होते हुए भी प्रेम और विवाह के महत्व को नहीं समझ पातीं, तथा जो मनुष्य की बाहरी सजधज और रूपरंग को ही सब कुछ समझती है, जिसे मानव-स्वभाव का परिज्ञान नहीं—इस प्रकार अपने जीवन का साथी चुनने के लिए छोड़ देना सचमुच बड़ा ही खतरनाक है। स्वयंवर में तो पुरोहित सभी लोगों की प्रशंसा करता है। वहाँ भले बुरे की पहचान कैसे हो ? उस स्थान पर सर्वोत्कृष्ट मनुष्य को ढूँढ निकालना अत्यन्त बुद्धिमान् मनुष्य के लिए भी कठिन हो जाता है, ऐसी स्थिति में एक साधारण शिक्षित बालिका तो चुन ही कैसे सकती है। यह भी कहा जाता है कि वह अपने वर को पहले ही निश्चित करके आती है। यदि यह बात ठीक हो तब तो स्वयंवर का यह ढकोसला ही व्यर्थ ठहरता है।

इस प्रथा का दूसरा अंग तो और भी अधिक भयंकर है। कन्या का पिता स्वयंवर में एकाध कठिन प्रतिज्ञा रख देता है। उस प्रतिज्ञा को जो पूरा कर देता है उसी के साथ उस कन्या का भाग्य बेच दिया जाता है फिर चाहे वह व्यक्ति बुड्ढा, रूखा; क्रोधी और प्रेमहीन ही क्यों न हो। हमारे ख़याल से इस प्रथा का मूल उद्देश्य यही समझा गया था कि पृथ्वी और कन्या के अधिकारी

वीर लोग ही हुआ करते हैं। इसलिए वीरों की परीक्षा के लिए इस प्रकार की प्रतिज्ञाएँ रख दी जाती थीं। पर वीरता और शरीर बल सदा एक साथ नहीं होते। और इन स्वयंवरों में शूर वीरता की अपेक्षा शरीर बल या शस्त्र कौशल की परीक्षा ही अधिक होती थी। दूसरे, इनको स्वयंवर कहना ही गलत है। क्योंकि स्वयंवर इच्छा विवाह है—अपनी इच्छानुकूल वर ढूँढ लेना है। और उन स्वयंवरों में तो निश्चित शर्तों को पूरी करने वाले युवक वृद्ध, राजा, रंक, सुशील दुःशील पुरुषों से कन्या को विवाह करना पड़ता था। कैसी हृदयहीन प्रथा थी? श्रीराम पर अनुरक्त सीता उनके कोमल शरीर को देख कर कहती है 'अहह तात पण-स्तव दारुणः' इन शब्दों में स्वयंवर प्रथा की अत्यन्त मनोहर शब्दों में किन्तु कड़ी से कड़ी टीका एक कन्या-हृदय ने कर डाली है।

तीसरी प्रणाली गन्धर्व-विवाह की है। इस विवाह प्रणाली की नींव धर्म की अपेक्षा प्रेम और वासना पर अधिक रहती है। यूरोप की कोर्टशिप प्रणाली की तरह इस प्रथा में भी वर को वधू का और वधू को वर का अध्ययन करने के लिए कुछ समय मिल जाता है, जिससे वे एक दूसरे के स्वभाव से कुछ अंशों में परि-चित हो जाते हैं, एक दूसरे के प्रति रागात्मक भावों की उत्पत्ति होती है, जिसके परिणाम स्वरूप वे एक दूसरे के समीप आत्म-समर्पण करने के लिए तैय्यार हो जाते हैं। इस प्रकार के विवाहों में यह कहना कठिन है कि इन वर-वधू के चुनाव में वासना और प्रेम का परिमाण कितना होता है। पर इसमें स्वतं-त्रता का सुख तो अवश्य होता है। अनेक स्त्री-पुरुष वासना को प्रेम समझ कर उसके चरणों में अपने हृदय अर्पित कर देते हैं

और बाद में पछताते हैं। पर कई बार इस तरह के वासना मूलक विवाहों का परिपाक प्रेम में भी होता है। पर यह निश्चित है कि इस पद्धति के अनुसार जितने विवाह भारत में होते थे उनमें से प्रायः सभी सुखमय ही होते थे।

फिर भी इन भारतीय पद्धतियों पर गम्भीरता पूर्वक मनन करने से हमें मालूम होता है कि अत्यन्त गम्भीर खोज के पश्चात् आविष्कृत की जाने पर भी ये सब प्रणालियाँ किसी न किसी रूप में सदोष हैं। चाहे संसार की सब प्रणालियों से ये अपेक्षाकृत श्रेष्ठ हों और चाहे संसार में अभी तक इनसे उन्नत विवाह-प्रणाली का आविष्कार न हुआ हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि विवाह-प्रणाली का जो सुन्दर रूप है, और जिन उद्देश्यों को लेकर विवाह की सृष्टि हुई है उनसे ये पद्धतियाँ दूर हैं। अभी वे सब अपूर्ण हैं।

यूरोपीय विवाह-पद्धतियां

भारतीय विवाह-पद्धतियों पर इतना विचार कर लेने के पश्चात् अब यूरोप की विवाह प्रणालियों पर एक निगाह डाल देना उचित होगा। यूरोप में भी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टि से कई प्रकार की विवाह-पद्धतियाँ प्रचलित रही है। उनमें से कुछ मुख्य मुख्य पद्धतियों का ही हम यहाँ पर विवेचन करेंगे।

प्लेटो की योजना

विवाह-पद्धति के सम्बन्ध में ग्रीस के तत्ववेत्ता प्लेटो की योजना बड़ी ही विचित्र है। उसका कथन है कि पुरुष और स्त्री दोनों राष्ट्र के अङ्ग हैं। राष्ट्रीय दृष्टि से इनका अस्तित्व जितना

महत्व पूर्ण है उतना व्यक्तिगत दृष्टि से नहीं। जब तक राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्रीय स्वार्थ को ही अपना निजी स्वार्थ समझता है, तब तक राष्ट्र, स्वस्थ, बलशाली और शान्ति पूर्ण रहता है। पर जब उसके व्यक्तिगत स्वार्थ का उदय हो जाता है, जब लोगों की व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत कुटुम्ब अलग अलग हो जाते हैं, तब लोग व्यक्तिगत स्वार्थ के आगे राष्ट्रीय स्वार्थ की उपेक्षा करने लग जाते हैं, और राष्ट्र का अधःपतन हो जाता है। अतः राष्ट्र की उन्नति के लिए आवश्यक है कि लोगों में व्यक्तिगत स्वार्थ और व्यक्तिगत संपत्ति की भावनाएँ उत्पन्न ही न होने दी जाँय। प्लेटो का खयाल था कि विवाह पद्धति से—किसी विशिष्ट स्त्री के साथ किसी विशिष्ट पुरुष का, पति के नाते अधिकार हो जाने से निज की जायदाद का प्रलोभन उनमें उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता। एक विषय की ममता से दूसरे विषय की ममता उत्पन्न हो जाती है। अपनी पत्नी को दूसरों से अच्छी दशा में रखने, तथा बाल-बच्चों के लिए कुछ रख छोड़ने की इच्छा का होना बिलकुल स्वाभाविक है। इससे अनेक प्रकार के प्रलोभन उत्पन्न होते हैं और व्यक्तिगत सम्पत्ति की इच्छा न रहने पर भी वह अस्तित्व में आ जाती है जिसको कि रोकने का अब तक प्रयत्न किया गया है।

इन सब कारणों से प्लेटो ने व्यक्तिगत विवाह—दाम्पत्य पद्धति—को ही नष्ट कर देने की आवश्यकता बतलाई है। उसके सिद्धान्तानुसार सभी पुरुष और सभी स्त्रियाँ राष्ट्र की सम्पत्ति है। उनमें से किसी एक पर किसी एक का अधिकार होना हानिकर है। नियमित रीति से चाहे जिस स्त्री से चाहे जो पुरुष

सम्बन्ध रख सकता है। बलवान् और स्वस्थ पुरुष उसी प्रकार की स्त्रियों से सम्बन्ध करके बलवान सन्तति उत्पन्न कर सकते हैं।

पर क्या स्त्रियों का कार्य्य केवल सन्तानोत्पत्ति ही है ? क्या वे समाज-सेवा का कुछ भी कार्य्य नहीं कर सकतीं। प्लेटो का कहना है कि समाज-सेवा के लिए स्त्रियों की भी अत्यन्त आवश्यकता है। वे भी राज्य-रक्षा का भार पुरुषों के कन्धे से कन्धे लगाकर अपने ऊपर ले सकती हैं। ये दोनों कार्य्य—सन्तानोत्पत्ति और समाज-सेवा—साथ-साथ किस प्रकार हो सकते हैं ? इसका उत्तर देते हुए प्लेटो कहते हैं कि राज्य के रक्षकों के निजी घर हैं ही नहीं। उन्हें सरकारी घरों में ही रहना पड़ेगा, स्त्रियाँ भी सरकारी घरों में ही रहेंगी। ऐसी स्थिति में उन स्त्री-पुरुषों में परस्पर सम्बन्ध हुए बिना न रहेगा। इस सम्बन्ध को नियमित कर देने से दोनों बातें सिद्ध हो जायंगी। अच्छे माता-पिताओं के बच्चे सशक्त होते हैं। इसलिए रक्षकों में से जो अच्छे सशक्त पुरुष हों उनका सम्बन्ध कुछ नियत समय के लिए विशिष्ट स्त्रियों से कर दिया जाय। ऐसे सम्बन्ध से जो बच्चे होंगे वे भी राष्ट्र की सम्पत्ति समझे जायँगे। उनके पालन पोषण का भार राज्य पर रहेगा। उत्पत्ति के पश्चात् कोई यह जान ही न सकेगा कि कौन किसका पुत्र है और कौन किसका पिता। इसलिए बच्चों के कारण समाज में उठने वाले झगड़े एक दम बन्द हो जायंगे। कोई विशिष्ट बच्चा किसी खास स्त्री या पुरुष का न रहेगा।

सभी बच्चे सभी स्त्री-पुरुषों के समझे जायंगे। जिससे बन्धुत्व की कल्पना समष्टिगत हो जायगी। सभी पुरुषों और स्त्रियों के हृदयों में यही भावना रहेगी कि इन्हीं बच्चों में मेरा

बच्चा भी है, चाहे यह हो-चाहे वह, इस प्रकार वे अपने को सभी बच्चों के माता और पिता समझेंगे। जिससे समाज में मातृत्व और पितृत्व की भावना व्यापक हो जायगी। राज्य वास्तविक मातृ भूमि और पितृ भूमि बन जायगा। इस योजना से कामिनी और कांचन के नाम पर समाज में जितने कलह होते हैं, वे सब शान्त हो जायंगे।

यह प्लेटो की, एक कुटुम्ब पद्धति, का संक्षिप्त चित्र है। इतना लिखने के पश्चात् अब यह कहना बिलकुल व्यर्थ है कि वह व्यक्तिगत विवाह के विरुद्ध था।

प्लेटो की इस पद्धति का बाहरी स्वरूप तो देखने पर बड़ा ही सुन्दर मालूम होता है। इस पद्धति में समाज के रोगों की जड़ को पकड़ कर उसकी चिकित्सा की गई है। मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति का या उसकी समाज-रचना का घात करने वाला सब से भयंकर शत्रु व्यक्तिगत स्वार्थ या अहंकार है। इसी प्रवृत्ति के कारण पति-पत्नी, व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत सन्तति की मनोभावनाएं उठती हैं और इन्हीं भावनाओं से समाज में नित्यप्रति हत्या, रक्तपात, जीवन-कलह और अव्यवस्था की घटनाएं होती रहती हैं। यदि मनुष्य इस स्वार्थवृत्ति का जिसमें काम वासना का भी समावेश होता है, संपूर्ण नियम, कर सके तो मानव-जाति का उद्धार हो जाय।

पर क्या यह व्यवस्था सफल हो सकती है? खेद है कि मनुष्य-प्रकति और इतिहास इस विषय में प्लेटो का साथ नहीं दे सकते। मनुष्य की आदिम अवस्था में अवश्य इस प्रकार की एक-कुटुम्ब-पद्धति प्रचलित थी। पर जब से मनुष्य समाज ने

विकास किया है, उसमें व्यक्ति, गत सम्पत्ति, पति, पत्नी और पुत्र की भावनाएं अबाधित रूप से चली आ रही है ये भावनायें चाहे भली हों या बुरी, पर अनिवार्य्य हैं। प्लेटो की इस पद्धति की जड़ में निम्नलिखित तत्त्वों की उपेक्षा की गई है। जिनकी वजह से उस की पद्धति अव्यवहार्य्य हो गई है।

१—यह पद्धति मनुष्य-स्वभाव की उपेक्षा करती है। प्लेटो इस बात को भूल गया है कि हमारी बनाई राष्ट्रीय भावना की अपेक्षा स्त्री-पुरुषों का आकर्षण अधिक स्वाभाविक और प्रबल होता है। उसका दमन राष्ट्रीयता की भावनायें नहीं कर सकतीं। पुरुष और स्त्री का संबन्ध यदि केवल शारीरिक अर्थात् वासना-मूलक ही होता अथवा इंट पत्थर और चूने की भांति केवल सामाजिक संगठन से ही संबन्ध रखता, तो प्लेटो की यह स्कीम शायद सफल हो जाती। पर शारीरिक और सामाजिक उद्देश्य के अतिरिक्त सानवता के इन दो अंगों के मिलन का हेतु अधिक उच्च और भिन्न है। शारीरिक सम्बन्ध से वासना-मूलक राग की उत्पत्ति होती है, सामाजिक सम्बन्ध द्वारा हम एक खास किस्म का समाज उत्पन्न कर सकते हैं। वह शारीरिक और संगठन की दृष्टि से अच्छा हो सकता है। पर वह हमारा आदर्श समाज कदापि न होगा। उसमें आध्यात्मिकता का दर्शन हमें कदापि न होगा, जो हमारा ध्येय है। प्लेटो की राष्ट्र-चिन्ता सर्वग्रासी है। वहां मातृत्व, पितृत्व तथा निर्मल पति-पत्नीत्व के लिए भी स्थान नहीं है। जब राष्ट्र की आज्ञा होगी स्त्री-पुरुष साथ-साथ रहेंगे, जब उसकी आज्ञा होगी वे अलग कर दिये जाएंगे। प्लेटो ने मनुष्य के केवल उच्च भावों को ही नहीं कुचला बल्कि उसके शारीरिक

धर्मों को भी राष्ट्रीयता का गुलाम बना दिया है—सो भी आपत्काल के लिए नहीं सदा के लिए।

२—दूसरी भूल इस पद्धति में यह है कि इसमें मनुष्य के व्यक्तिगत अस्तित्व को बिलकुल नष्ट कर दिया है। इस पद्धति के अनुसार मनुष्य का न तो कोई स्वतन्त्र क्षेत्र रह जाता है, न उसके लिए कोई कार्य्य रह जाता है। समाज के जीवन के साथ ही उसका जीवन है और समाज की मृत्यु के साथ ही उसकी मृत्यु समाज की भलाई (पता नहीं यह भलाई क्या है?) के लिए यह कल्पना शायद अच्छी हो। पर भिन्न-भिन्न संकल्प-विकल्प वाले मनुष्य का स्वतन्त्र अस्तित्व नष्ट कर देना कहां तक सम्भव है?

३—तीसरी भूल इस पद्धति में यह हुई है कि रक्षक और सहायक वर्ग के लिए तो प्लेटो ने यह व्यवस्था रक्खी है, मगर जन-साधारण के लिए वह इस पद्धति को पेश नहीं करता। प्लेटो का कहना है कि यह तीसरा वर्ग वासना-प्रधान है। अतः उसे धन-दारा में लिप्त रहने देना ही ठीक है। यह भी कैसी विचित्र भूल है कि एक ही समाज में कुछ लोग तो एक कुटुम्ब-पद्धति से रहें और कुछ घर द्वार बना कर रहें। यदि कामिनी और काञ्चन बुरे हैं, तो फिर तीसरे दल को उसमें निमग्न रखना कहां तक ठीक है? प्लेटो का कथन है कि जो लोग समाज के लिए कृषि और व्यवसाय करेंगे उनके हृदय में उस धन के प्रति कुछ मोह होना स्वाभाविक है। इसलिए उनको व्यक्तिगत रूप से रहने देना ही ठीक है। लेकिन इस पर तो सहज ही यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार तीसरे दल का कृषि और वाणिज्य से सम्बन्ध रहने के कारण धन पर मोह हो जाता है उसी प्रकार उपर्युक्त दो वर्गों

में विशिष्टस्त्रियों के साथ विशिष्ट समय तक सम्बन्ध रहने पर क्या मोह की भावना उत्पन्न न होगी ? क्या उनके अन्दर से वासना का बीज बिलकुल ही नष्ट हो गया है ? यह दलील तो कोई महत्त्व ही नहीं रखती। इस योजना के अन्दर प्लेटो की कमजोरी साफ साफ झलकती है।

इस प्रकार की कमजोरियों की वजह से यह योजना केवल कल्पना तक ही परिमित रह जाती है, इसका व्यावहारिक उपयोग नहीं हो सकता। बात यह है कि मनुष्य के लिए व्यक्तिगत अस्तित्व बड़ी महत्व पूर्ण वस्तु है। हम जानते हैं कि उसमें से पचासों बुराइयाँ भी पैदा होती हैं। फिर भी समाज की रक्षा के लिए उसकी आवश्यकता है। संसार में तीव्र उत्साह के उत्कृष्ट प्रेम के, दिव्य स्वार्थ त्याग के और आदर्श मनुष्यत्व के जो उत्साह वर्धक दृश्य घटित होते रहते हैं, वे सब व्यक्तिगत अस्तित्व से उत्पन्न होते हैं। जिस दिन मनुष्य का व्यक्तिगत अस्तित्व नष्ट हो जायगा, उस दिन मनुष्य के द्वारा होने वाले देवोपम और पैशाचिक दोनों ही प्रकार के दृश्यों का अन्त हो जायगा। मनुष्य-समाज मशीन की तरह, अपनी तमाम विशिष्टताओं को खोकर चलता रहेगा। उसकी जीवन-शक्ति क्षीण हो जायगी। क्या संसार के लिए वह दृश्य अभिनन्दनीय होगा ?

नि-सन्देह मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से ऐसी पचासों बुराइयां पैदा होती हैं, जो समाज में अशान्ति मचा देती हैं, और जिनको मिटाये बिना समाज-रचना में स्थिरता उत्पन्न नहीं हो सकती। पर इन बुराइयों से डर कर मूल वस्तु को ही नष्ट कर डालना क्या बुद्धिमानी है ?

मतलब यह कि प्लेटो की विवाह सम्बन्धी योजना भी सदोष और अव्यवहार्य है।

रोमन विवाह पद्धतियां

यूनानी सभ्यता के अन्त के साथ ही यूरोप में रोमन सभ्यता का उदय हुआ। रोमन समाज में दो प्रकार की विचार पद्धतियां प्रचलित थीं पहली अधिक नियम बद्ध, और कानून की दृष्टि में सम्माननीय समझी जाती थी। इसके अनुसार स्त्री बिलकुल पति के अधीन हो जाती थी। पति उसके सर्वस्व का एक मात्र स्वामी बन जाता था। दूसरी पद्धति के नियम बहुत उदार थे। इस प्रणाली से विवाह करने पर भी स्त्री की स्वाधीनता में अधिक अन्तर न आता था। उसके अधिकारों की इस विवाह-पद्धति में काफी रक्षा होती थी।

पहली पद्धति के तीन उपभेद थे। रोमन प्रजातंत्र के समय में इन तीनों पद्धतियों का खूब प्रचार था। इन तीनों पद्धतियों के नाम क्रमशः इस प्रकार है—(१) कॉनफेरियोशियो (Connfarre-atio) (२) कोएम्पशियो (Coemptio) और (३) युसुस (Usus)। पहली-कॉनफेरिएशियो केवल उच्च कुल के लोगों में ही होती थी। भारतीय पद्धतियों की तरह इस पद्धति में भी अनेक प्रकार के गम्भीर धार्मिक कर्म्मकाण्ड करना पड़ते थे! इस पद्धति के अनुसार विवाहित दम्पत्तियों में आपसी मतभेद होने पर तलाक भी हो सकता था। पर तलाक के वक्त भी उतने ही धार्मिक कर्मकाण्ड होते थे।

कोएम्पशियो में पति-पत्नी एक प्रकार का इकरार कर लेते

थे। जब तक वह इक़रार ठीक तरह से निभ जाता था तब तक उन स्त्री-पुरुषों का सम्बन्ध भी रहता था। ज्योंही इस इक़रार में किसी प्रकार की बाधा आती त्योंही उनके बीच तलाक़ हो जाता था।

तीसरी-"युसुस"-पद्धति विचित्र थी। जो स्त्री-पुरुष एक वर्ष तक अविवाहित अवस्था में शारीरिक सम्वन्ध कर चुकते थे, वे ही इसके अनुसार विवाह योग्य समझे जाते थे। इस पद्धति के द्वारा इन लोगों को विवाह के स्थायी सूत्र में बांध दिया जाता था।

इन सब में न्यूनाधिक प्रमाण में पुरुषों ही की प्रधानता रहती थी। पर कुछ समय पश्चात् रोमन लोगों में एक विचित्र प्रकार की पद्धति और चली। इसका बर्णन हम पहले भी कर आये हैं। इस पद्धति के अनुसार विवाह करने वाले पुरुष का स्त्री पर कुछ भी अधिकार नहीं रहता था। यही नहीं, बल्कि पत्नियाँ ही पति पर स्वामित्व करती थीं। वे अपने पिता ही के घर रहतीं। पति के साथ उनका केवल शारीरिक सम्बन्ध हो जाता था। अपने पिता के धन की वे ही स्वामिनी होती थीं। कई पत्नियां तो अपने पतियों पर अत्याचार भी करती थीं। वे उन्हें भारी सूद पर ऋण देकर बड़ी सख़्ती से वसूल करती थीं।

इन पद्धतियों पर विचार करने पर मालूम होता है कि जिस समाज में ये पद्धतियाँ प्रचलित थीं वह समाज स्त्री और पुरुष के अधिकारों के सम्बन्ध में कोई विशेष निर्णय न कर सका था। जब हम भारतीय पद्धतियों के साथ इन पद्धतियों की तुलना करते हैं, तो उनके मुक़ाबिले में ये बहुत ही क्षुद्र, अपूर्ण, और बच्चों के खेलसी प्रतीत होती हैं। विवाह के असली तत्त्व का इन

पद्धतियों में कुछ भी विश्लेषण नहीं किया गया है। भारतीय पद्धतियाँ अपूर्ण होते हुए भी इनसे बहुत अधिक विचार पूर्ण हैं। इस कमी को दूर करने के लिए ईसाइयों में एक नवीन पद्धति का आविष्कार और हुआ, उसका वर्णन नीचे किया जाता है।

ईसाई विवाह पद्धति

हम पहले एक अध्याय में लिख आये हैं कि महात्मा ईसा ने स्त्री-जाति के सम्बन्ध में उदार विचार प्रकट किये थे। पर आगे चलकर उनके अनुयायियों ने स्त्री-जाति को नरक का द्वार और विवाह-पद्धति को पाप का भण्डार कहकर विवाह के विरुद्ध ही आन्दोलन मचाया था। जिसके परिणाम स्वरूप स्त्री-जाति और विवाह-पद्धति पर एक महान् संकट आ पड़ा था। पर अठारहवीं शताब्दि से स्त्रियों ने अपने अधिकारों के लिए बुलन्द आवाज उठाना प्रारंभ किया, जिसके परिणाम स्वरूप स्त्रियों के अधिकारों में और विवाह-पद्धति में कई प्रकार के महत्त्व पूर्ण परिवर्तन हुए। इसी शताब्दि में इंग्लैण्ड, फ्रांस, और अमेरिका में विवाह के सम्बन्ध में एक यह भी विचित्र रिवाज प्रचलित हुआ कि फांसी की सजा पाये हुए व्यक्ति से कोई स्त्री विवाह करना स्वीकार करती तो वह व्यक्ति फांसी के तख्ते से उतार दिया जाता था।

नई विवाह-पद्धति के अनुसार पहले युवक और युवती कुछ समय तक साथ रह लेते। यह साथ कभी स्कूलों में, कभी कॉलेजों में, कभी बाग-बगीचों में और कभी मकानों पर ही हो जाता है। इस समय में युवक और युवती अपने मनोभावों की जांच करते हैं, आपस में प्रेम बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। जब

उनके मन में यह विश्वास हो जाता है कि हम लोग जीवन भर आनन्द पूर्वक साथ रह सकेंगे तब वे जिला कोर्ट से विवाह करने की इजाजत ले लेते हैं। वहां से इजाजत मिल जाने पर प्रेमी और प्रेमिका अपना विवाह-संस्कार किसी पादरी के द्वारा करवा लेते हैं। इन लोगों के विवाह-संस्कारों में लम्बे चौड़े आडम्बर और झमेले नहीं होते। पांच ही मिनिट में वह सम्पन्न हो जाता है।

विवाह करते समय पुरुष प्रतिज्ञा करता है:—"मैं .... तुम्हें........अपनी विवाहिता पत्नी स्वीकार करता हूँ। आज से लेकर सदा के लिए जब तक कि ईश्वर की पवित्र इच्छानुसार मृत्यु हमें एक दूसरे से जुदा न कर दे भलाई में और बुराई में, गरीबी में और अमीरी में, सुख में और दुःख में सभी समय में मैं तुम से हार्दिक प्रेम रक्खूँगा और तुम्हारे साथ बहुत उत्तम बर्ताव रक्खूँगा इसके लिए मैं तुम्हें वचन देता हूँ।"

इसके पश्चात् स्त्री प्रतिज्ञा करती है:—"मैं......तुम्हें अपना विवाहित पति स्वीकार करती हूँ। आज से लेकर सदा के लिए, जब तक मृत्यु हमें जुदा न कर दे, सुख और दुःख में, भलाई और बुराई में, गरीबी और अमीरी में मैं तुमसे प्रेम करूँगी, तुम्हें अच्छी तरह रक्खूँगी, और तुहारी आज्ञा मानूंगी (इस वाक्य के विरोध में वहां की स्त्रियों ने बड़ा आन्दोलन मचाया था) इसका मैं तुम्हें वचन देती हूँ।"

इन प्रतिज्ञाओं के समाप्त होने पर वधू के बाएं हाथ की तर्जनी में वर अंगूठी पहना कर कहता है "इस अंगूठी और अपनी सारी सांसारिक सम्पत्ति समेत मैं तुमसे विवाह करता हूं।"

इस संस्कार के समाप्त होने पर जब वे दम्पती आनन्द मास

(Honey moon) मनाने जाते हैं तव दर्शक लोग चांवल, पीतल की नालें और पुराने जूते उन पर फेंकते हैं।

भारतीय और यूरोपीय विवाह-पद्धतियों को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर हमें दोनों में एक एक तत्व दृष्टिगोचर होता है। भारतीय विवाह प्रणाली में हम देखते हैं कि धर्म की ही सब से अधिक प्रधानता रहती है तहाँ यूरोपीय विवाह प्रणाली में वासना की अधिक प्रधानता है। हमारे विचार से दोनों ही पद्धतियाँ सदोष हैं। दोनों ही प्रकार की पद्धतियों से व्यक्ति और समाज की एक गम्भीर हानि होती है।

हमारा विश्वास है कि धर्म, राजनीति, तथा समाजनीति भिन्न भिन्न वस्तुएं हैं। धर्म अवश्य उन दोनों से श्रेष्ठ वस्तु है। फिर भी ये दोनों धर्म से बिलकुल स्वतन्त्र हैं। धर्म, राजनीति और समाज-नीति का मार्ग दर्शक भले ही हो, पर वह कभी शासक न बने। हमारा ख्याल है कि जो जाति इन दोनों इहलौकिक नीतियों पर धर्म जैसी प्रधानतः पारलौकिक वस्तु का बन्धन डाल देती है वह कभी उन्नत नहीं हो सकती। यूरोप और भारत का इतिहास हमारे इस कथन की पूष्टी करेगा।

विवाह-प्रणाली का सम्बन्ध प्रधानतः समाजनीति से है। पर भारतवर्ष में इस पर धर्म का एक अनुचित बन्धन डाल दिया गया। पति और पत्नी को धर्म के उस मजबूत धागे में पिरो दिया गया जो कभी टूट ही नहीं सकता। इसमें सामाजिक अनिष्ट का एक छिपा हुआ बीज स्पष्ट नजर आता है। हम भारतीय विवाह-प्रणालियों की मीमांसा करते हुए ऊपर लिख आये हैं कि अत्यन्त छान-बीन के साथ बिवाह करने पर भी

कई जोड़े ऐसे मिल जाते हैं जिनका स्वभाव आपस में नहीं मिलता। उन लोगों के बीच हमेशा कलह जारी रहता है। इससे समाज में एक की प्रकार की अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। धर्म-बन्धन के भय से वे प्रत्यक्ष रूप से तो उस सम्बन्ध को छोड़ ही नहीं सकते। परिणाम यह होता है कि गुप्त व्यभिचार बढ़ता है और भविष्य में कमजोर, दुराचारी और हतबुद्धी सन्तानें उत्पन्न होती हैं।

समाज की अच्छी अवस्था में तो ये बातें अपवाद स्वरूप रहती हैं, पर धीरे धीरे यही बातें नियम का रूप धारण करके समाज को पतन की ओर खींच ले जाती हैं। जब समाज पतनशील हो जाता है, तब और भी दुर्गति होती है। न वर-वधू का चुनाव होता है, न उनके गुण अवगुण की परीक्षा की जाती है और न उनकी अवस्था का ख्याल रक्खा जाता है। फलतः समाज में अन्धेर मच जाता है। प्रेम और सामाजिक कल्याण का कहीं नामोनिशान भी नहीं रहता। युवक युवतियां वासना की तृप्ति के निमित्त और माता-पिता अपने सिर की जिम्मेदारी का बोझा हटाने के लिए लड़के-लड़कियों के गुण-शीलों को बिना जाने बूझे विवाह बन्धन में जकड़ देते हैं, और धर्म उस पर बज्र की मुहर लगा देता है। फलतः जब तक दोनों की बासना तृप्त होती रहती रहती है अथवा दूसरे उदाहरण में वे अंजान रहते हैं तब तक तो शान्ति रहती है, पर उस सीमा को पार करते ही दोनों एक दूसरे को भार स्वरूप मालूम होने लगते हैं। असन्तोष, दुख और व्यभिचार बढ़ता है, और समाज विनाश का पथिक बनता है।

इस अन्ध पद्धति के वश होकर हजारों, लाखों बालक-बालिकाओं को एक ऐसे काल्पनिक बन्धन पर अपना जीवन उत्सर्ग

करना पड़ता है कि जिसका न तो तर्क ही समर्थन कर सकता और न कोई सात्विक विश्वास ही अनुमोदन कर सकता है।

यूरोप की विवाह-पद्धति जिसका आधार प्रेम बताया जाता है वास्तव में वासना-प्रधान हो जाती है। अतएव वह भी सफल नहीं कही जा सकती। ज्यों ही एक दूसरे के स्वाभाविक भेद प्रकट होने लगते हैं, बेचारी वासना छिन्न भिन्न हो जाती है और पति-पत्नी धड़ाधड़ तलाक देने लग जाते हैं। इस्लामी विवाह-पद्धति भी विशेष परिष्कृत नहीं कही जा सकती। मतलब यह कि अभी संसार ऐसी विवाह-पद्धति का आविष्कार नहीं कर पाया है जो सब तरह से अच्छी और निर्दोष हो।

हमारा तो ख्याल है कि विवाह-प्रणाली वही सफल होगी जिसमें शारीरिक स्वास्थ्य और अवस्था के साथ साथ बधू-वरों के गुणशीलों का भी मिलान कर लिया गया हो। इस पद्धति द्वारा विवाह के कुल उद्देश्य अपने आप सिद्ध हो जायंगे। वासनामूलक उद्देश्य तो पूरा हो ही जाता है, दूसरा, समान गुण शील के कारण उनमें प्रेम भी अवश्य ही होगा। प्रेम, सुख और शान्ति के सम्मिलन से जो सम्बन्ध होता है उससे बड़ी ही स्वस्थ और तेजस्वी सन्तानें उत्पन्न होती हैं। फलतः समाज को भी अवश्य ही लाभ होगा। गुप्त व्यभिचार, भ्रूण-हत्या आदि भयंकर बुराइयों का तो उस हालत में कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। क्योंकि ये सब बुराइयां अस्वाभाविक और अनुचित बन्धनों से पैदा होती हैं। और इस प्रणाली में गुण शीलों में समानता होने के कारण पति-पत्नी अपनी आध्यात्मिक उन्नति भी अवश्य कर सकेंगे। यह धर्म-साधना हुई। संक्षेप में अच्छे विवाह से होने

वाले सभी लाभ इस प्रणाली के अनुसार किये गये विवाह में मिल जाते हैं।

अब सवाल यह है कि इस पद्धति को क्रियात्मक रूप किस प्रकार दिया जाय ? इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर तो कोई महान विचारक और दार्शनिक ही दे सकते हैं। तथापि यहां पर हमारे अपने खयाल भी इस विषय में जाहिर कर देना आवश्यक होगा।

(१) विवाह पर्य्याप्त अवस्था में हो अर्थात् साधारणतः वर की उमर २५ वर्ष की और कन्या की १६ वर्ष की हो।

(२) दोनों ही अङ्गों (स्त्री और पुरुष) के लिए बस्ती से दूर जङ्गलों में अलग अलन गुरुकुल बने हुए होने चाहिए, । बालक और बालिका को सात वर्ष की आयु होते ही अनिवार्य्य रूप से वहां पर भेज दिया जाय। इन विद्यालयों में अक्षर-ज्ञान की अपेक्षा बालकों का नैतिक-संगठन करने की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

(३) दोनों ही विभागों की शिक्षा के समय इस बात पर पूरी तरह ध्यान दिया जाय कि उन्हें और शिक्षाओं के साथ २ मनोविज्ञान, सामुद्रिक शास्त्र, शरीर-शास्त्र और समाज-शास्त्र की साधारण शिक्षा दी जाय। ये सब शिक्षाएं विवाह का तत्त्व समझाने में बड़ी सहायक होंगी। इतना ज्ञान हर एक को हो जाना चाहिए कि वह अपने मनाभावों के साथ दूसरे के मनो-भावों की तुलना कर सके।

(४) अधिकांश युवक और युवतियां वासना के फेर में पड़ कर अपने जीवन को बरवाद कर देते हैं। इसलिए उन्हें प्रेम और वासना का सूक्ष्म भेद, प्रेम की अमरता और वासना की नश्व-

रता, खूब अच्छी तरह समझा दी जाय। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य्य और विवाह की महत्ता समझा दी जाय।

(५) वासनाओं को उत्तेजित करने वाली किसी प्रकार की शिक्षा न दी जाय।

(६) इतना सब होने के पश्चात् वर कन्या को विवाह योग्य अवस्था में एक दक्ष अभिभावक के पास एक वर्ष तक साथ-साथ रखा जाय। इस काल में दोनों गम्भीरता के साथ एक दूसरे के मनोभावों का अध्ययन करें। जब दोनों इसमें पूरे उतर जाय और अभिभावक को भी इसका विश्वास हो जाय तब उनके बीच विवाह-सम्बन्ध कर दिया जाय।

इतनी व्यवस्था हो जाने के पश्चात् हमारे खयाल से विवाह सम्बन्धी बहुत से अपवाद दूर हो जायंगे।

तलाक प्रथा

यद्यपि उपर्युक्त पद्धति के प्रचारित होने पर विवाह सम्बन्धी बहुतसी कठिनाइयां दूर हो जायंगी, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें कोई अपवाद ही न रहेगा। हम ऊपर लिख आये हैं कि मनुष्य—स्वभाव बड़ा विचित्र और रहस्यमय है। मनुष्यों के स्वभावों में कुछ न कुछ भेद होता ही है। यह निश्चय नहीं कि यह भेद कब प्रकट हो जाय। यही एक ऐसी बात है, जो इस पद्धति में भी अपवाद रूप में रह सकती है। इसका उपाय जब तक निर्माण न होगा तब तक यह पद्धति भी पूर्ण रूप से निर्दोष नहीं हो सकती। भारत के ब्राह्म-विवाह और यूरोप के प्रेम विवाह का यह सामञ्जस्य कहा जा सकता है।

फिर भी इसमें जो दोष रह गया है उसे दूर करने के लिए अगर एक बात इसमें और जोड़ दी जाय तो यह हमारे खयाल से संपूर्ण हो सकती है। भारतवर्ष के कुछ अंश को छोड़ कर तमाम संसार में तलाक प्रथा प्रचलित है। पर उसका वर्तमान स्वरूप इतना भयङ्कर है कि जिसे देखकर अच्छे अच्छे विचारकों को भी भय मालूम होता है। कई देशों में तो विवाह की संख्या से भी तलाकों की संख्या बढ़ जाती है। इस भयङ्कर स्थिति को देखकर विचारक समुदाय इस पद्धति से बिलकुल निराश हो रहा है। पर हमारे खयाल से यह भयङ्कर स्थिति तलाक प्रथा का परिणाम नहीं है। प्रत्युत इसका कारण वह प्रकृति-विरुद्ध आन्दोलन है, जो यूरोप क स्त्रियों में छिड़ा हुआ है, और जिसके परिणाम स्वरूप स्त्रियां अपने स्वाभाविक नारी-गुणों को छोड़कर अस्वाभाविक पुरुषोचित अधिकारों को प्राप्त करने के लिए पागल हो रही हैं। हमारे मतानुसार यदि स्त्री-समाज अपनी पूर्ण स्वाधीनता को ग्रहण कर समाज में सच्चे नारी-गुणों का योगक्षेम करने लग जाय, यदि वह अस्वाभाविक पुरुषोचित अधिकारों को प्राप्त करने के लिए हाय हाय करना छोड़ दे, तो तलाक प्रथा के रहते हुए भी समाज अपना कल्याण साधन कर सकता है। बल्कि हम तो यहां तक कहने के लिए भी तय्यार हैं कि पति-पत्नी के चुनाव में होने वाली भूलों को दुरुस्त करने के लिए तलाक की छूट होना परम आवश्यक है। अनिष्ट सम्बन्ध के कारण पति-पत्नी को जो असीम कष्ट होता है, उससे मुक्त होने के लिए जब तक आप कोई रास्ता नहीं बता देंगे, तब तक समाज में दैवी गुणों का संचार नहीं हो सकता। और हमारा खयाल है कि आपद्धर्म के रूप में

तलाक प्रथा यह काम कर सकती है। आज अपने विकृत रूप में यह प्रथा भयङ्कर नजर आ रही है। पर वही अपने सूक्ष्म रूप में अत्यन्त आवश्यक और सुन्दर दृष्टि गोचर होने लगेगी। उपर्युक्त छः नियमों के प्रचलित हो जाने पर हमें विश्वास है कि असंतुष्ट पति-पत्नी कहीं दृष्टिगोचर ही न होंगे। पर यदि कोई भूले भटके ऐसे दम्पत्ति मिल भी जायें, जिनका स्वभाव आपस में न मिलता हो, तो उनके लिए समाज की ओर से इस बात की स्वाधीनता होनी चाहिए कि वे समाज की आज्ञा लेकर प्रतिष्ठा पूर्वक अपना सम्बन्ध छोड़ दें। इस प्रकार सम्बन्ध छोड़ने वाले लोगों को समाज किसी प्रकार की हेय दृष्टि से न देखे।

इस पद्धति से विवाह के निम्नाङ्कित उद्देश्य सिद्ध हो जायंगे।

१—उत्तम, बलिष्ठ, स्वस्थ और मेधावी सन्तान।

२—पति और पत्नी के बीच स्वाभाविक प्रेम।

३—समाज में दैवी सम्पद् का योगक्षेम।

४—कुत्सित शारीरिक वासना का मधुर सुपरिणाम।

५—समाज में विवाह के नाम पर जलने वाले अग्निकुण्ड का अन्त।

हमारे खयाल से विवाह पद्धति का इससे सुमधुर परिणाम दूसरा नहीं हो सकता। सम्भव है पातिव्रत के ऊँचे कल्पनाकाश में विचरण करने वाले सज्जनों को यह सूचना जरा अटपटी मालूम हो। पर विचारान्त में वे देखेंगे कि समाज की प्रगति का रास्ता इससे बहुत कुछ खुल जायगा। यहां पर एक दो बातों को स्मरण रखना बहुत जरूरी है।

तलाक के मानी होते हैं सिर्फ पति-पत्नी का सम्बन्ध

त्याग। तलाक प्रथा स्त्री-पुरुषों को दूसरे व्यक्तियों से पुनः वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ने पर मजबूर नहीं करती। वह इस विषय में उदासीन है। पातिव्रत या एक-पत्नीव्रत का आदर्श जिन्हें प्रिय हो वे शौक से वाद में ब्रह्मचारी जीवन भी व्यतीत कर सकते हैं। तलाक तो स्त्री-पुरुषों को मानसिक कष्टों से बचाकर उनके ऐहिक और पारलौकिक कल्याण के मार्ग को सुखकर बनाने का एक साधन है। फिर जहां पति-पत्नी के वीच वह आध्यात्मिक स्नेह होगा जिसका नाम हमारे ग्रन्थों में पातिव्रत या एक-पत्नीव्रत है, उन्हें इसकी जरूरत भी क्यों होगी ? तलाक तो उन पक्षियों के लिए पिंजड़े का दर्वाजा खोलता है जो या तो उसमें जबर्दस्ती बन्द कर दिये गये हैं, या संयोग वश, इच्छा न होने पर उसमें बन्द हो गये हैं और जिनमें कोई पारस्परिक आकर्षण नहीं। आप उन्हें जबर्दस्ती कैद करके रक्खेंगे और वे चोंचों से अपना और आपका भी आराम-हराम कर देंगे। वे लड़ेंगे, झगड़ेंगे, गुप्त व्यभिचार करेंगे खुला व्यभिचार भी करेंगे और समाज में बेहद गंदगी फैलावेंगे। उनके लिए सबसे अच्छा मार्ग यही है कि उन्हें अपनी जाति स्वभाव और रुचि वाले पक्षियों में शामिल होने दिया जाय; उन्हें इस अस्वाभाविक बन्धन और कैद से मुक्त कर दिया जाय। उन्हें इस अस्वाभाविक बन्धन और कैद से मुक्त कर दिया जाय तब आप देखेंगे कि वे किसी सुहावनी, फूलों से लदी हुई डालपर बैठकर विश्व के संगीत में अपनी मधुर तानें मिलाकर उसकी रमणीयता को और भी बढ़ा ही रहे हैं।

अध्याय सातवां

सन्तान

समाज को उत्तरोत्तर उन्नत करने के लिए श्रेष्ठ पुरुष-रत्नों की आवश्यकता है। यह कार्य्य दिन रात आहार, निद्रा, और मैथुन की चिन्ता में तल्लीन रहने वाले पामरों से नहीं हो सकता। श्रेष्ठ कार्य्य श्रेष्ठ पुरुषों ही से होते हैं। यह श्रेष्ठता केवल बड़े बड़े ग्रन्थों का अध्ययन करने से या विश्वविद्यालय की बड़ी बड़ी डिग्रियों को हासिल करने से उत्पन्न नहीं हो सकती। ये बातें श्रेष्ठता का विकाश कर सकती हैं, पर उसको उत्पन्न नहीं कर सकतीं। श्रेष्ठता को उत्पन्न करने के लिए उत्तम संस्कारों की आवश्यकता होती है। इनमें से कई संस्कार गर्भ में, कई जन्म होने पर और कई समाज के वायुमण्डल में प्राप्त और विकसित होते हैं। जिनके गर्भज और जन्म सहज संस्कार भ्रष्ट-हो जाते हैं, वे आगे जाकर लाख कोशिश करने पर भी मार्ग पर नहीं आ सकते। अतः यदि यह आवश्यक है कि समाज बहुत भारी संख्या में नर-रत्नों को पैदा करे तो उसे चाहिये कि वह सन्तानोंत्पत्ति के समय से ही उत्तम संस्कारों वाले बालकों को उत्पन्न करने की ओर ध्यान दे।

विवाह-पद्धति की उत्तमता

युवावस्था में उत्तम संस्कारों वाले स्त्री-पुरुषों का विवाह उत्तम और शुद्ध संस्कारों से युक्त सन्तान उन्पन्न करने का एक सर्वोत्कृष्ट साधन है। पर केवल इतने ही के लिए

से काम नहीं चल सकता । सन्तान के संस्कारों को बनाने और भी कई बातों पर ध्यान रखने की आवश्यकता होती है। इस ज्ञान के लिए एक स्वतन्त्र शास्त्र का—अधिजनन-शास्त्र (Eugenic) का निर्माण भी हुआ है। इस शास्त्र का प्रत्येक विवाहित दम्पत्ति को जो उत्तम सन्तान करने के इच्छुक हैं, अनिवार्य्य रूप से अध्ययन करना चाहिए।

भारतीय अधिजनन शास्त्र के अनुसार मनुष्य के संस्कार चार प्रकार के होते हैं । (१) जन्मान्तर संस्कार (२) सहज संस्कार (३) कृत्रिम संस्कार और (४) परम्परा गत संस्कार।

१—पूर्व जन्म के संस्कारों को जन्मान्तर संस्कार कहते हैं। ये संस्कार बहुत प्रबल होते हैं। बिना निर्विकल्प समाधि के इनका अन्त नहीं हो सकता। पाश्चात्य लोग इन संस्कारों को नहीं मानते।

२—गर्भ के अन्तर्गत प्राप्त होने वाले, और जन्म के समय मिलने वाले संस्कारों को सहज संस्कार कहते हैं। ये संस्कार तीन प्रकार के होते हैं । जिन संस्कारों में योनि की विशेषता रहती है उन्हें योनि-संस्कार कहते हैं । जिनमें जाति की विशेषता रहती है उन्हें जाति-संस्कार कहते है जिनमें वर्ण की विशेषता रहती है उन्हे वर्ण-संस्कार कहते हैं। जिस प्रकार खरबूजे और ककड़ी के बीज देखने में समान मालूम होते हैं, पर वृक्ष रूप में होने पर भिन्न संस्कारों की वजह से उनमें रूपान्तर होने लगता है, और फलने पर वे बिलकुल जुदा जुदा हो जाते हैं, उसी प्रकार एक समान दिखलाई देने वाले दो बालक भी भिन्न संस्कारों की वजह से बिलकुल जुदी जुदी प्रवृत्तियों वाले निकलते

हैं। ये सब सहज संस्कारों के परिणाम हैं। ये संस्कार भी बदल नहीं सकते।

३—शिक्षा और संगति-आसपास के वायुमण्डल से जो संस्कार बनते हैं वे कृत्रिम संस्कार कहलाते हैं। जिस प्रकार रेशेदार आम का फल मसाला देने से और कलम करने से कलमी आम हो जाता है उसी प्रकार इन कृत्रिम संस्कारों से मनुष्य में भी कई परिवर्तन हो जाते हैं। अच्छी संगति में बैठने वाला मनुष्य बुरी संगति में बैठने वाले मनुष्य से अवश्य ही अच्छा साबित होगा।

४—जो संस्कार माता-पिताओं से दाय रूप में मिलते हैं, उन्हे परम्परागत संस्कार कहते हैं। इन संस्कारों में कभी पिता या पितृवंश के किसी पूर्वज के, और कभी माता या मातृवंश के किसी पूर्वज के संस्कारों का प्राधान्य रहता है।

पाश्चात्य अधिजनन शास्त्र के विद्वानों में जर्मन विद्वान् "वीजमान" का आसन बहुत ऊँचा है। उसके तथा अन्य विद्वानों के मतानुसार मनुष्य में दो प्रकार के संस्कार प्रधान होते हैं। पहले व्हेरियेशन (Variation) और दूसरे मोडीफिकेशन (Modification) मनुष्य स्वभाव की रचना इन्हीं दो प्रकार के संस्कारों से होती है।

१—जर्म-प्लाजम (Germ plasm) अर्थात् वीर्यविन्दु में जो संस्कार होते हैं, उन्हें व्हेरीएशन कहते हैं। इन संस्कारों का प्रभाव उस समय मालूम होता है जब दो समान प्राणियों के सन्निकर्ष और निमित्त समान होने पर भी उनमें भिन्न प्रकार के गुण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के संस्कार प्राणी को गर्भ में ही मिल जाते हैं। ये संस्कार माता-पिता से दायरूप में मिलते हैं।

२—मोडिफिकेशन संस्कार प्राणी को जन्म धारण करने के पश्चात् भिन्न भिन्न प्रकार के सन्निकर्षों से प्राप्त होते हैं। इनका प्रभाव तब मालूम होता है, जब सन्निकर्ष भेद के अनुसार प्राणियों की प्रवृत्ति में भी भेद होता है।

उपर्युक्त दो संस्कारों के अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वान् तीन प्रकार के संस्कार और मानते हैं। १—म्यूटेशन इनकी वजह से प्राणी के सहज गुणों में कुछ भिन्नता आ जाती हैं। २—रिवर्शव-इन की वजह से प्राणी में किसी ऐसे पूर्वज के संस्कार प्रकट हो जाते हैं, जो उसके माता-पिता में प्रकट न थे। और ३—रिकॉम्बिनेशन-इनकी वजह से प्राणी में अनेक पूर्वजों के संस्कार एक साथ ही प्रकट हो जाते हैं। इन तीनों संस्कारों की वजह से एक ही दम्पत्ति की सन्तानों में सब का स्वभाव भिन्न भिन्न प्रकार का हो सकता है।

उपर्युक्त संस्कारों में जो कृत्रिम संस्कार शिक्षा से, संगति से तथा और कारणों से प्राप्त होते हैं, वे तो जन्म के पश्चात् बनाये जा सकते हैं। पर हम ऊपर देख आये हैं कि गर्भ और जन्म के संस्कार ही मनुष्य में प्रधान रूप से रहते हैं। कई विद्वानों का तो यहां तक कहना है कि मनुष्य का तमाम स्वभाव उसके गर्भज संस्कारों का विकास मात्र है। ऐसी स्थिति में उत्तम संतति उत्पन्न करने के लिए विवाहित दम्पत्तियों को बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। उनकी थोड़ी सी भूल से भी समाज का भारी अनिष्ट सम्पन्न हो सकता है। उत्तम सन्तति उत्पन्न करने के लिए निम्नांकित बातों पर ध्यान रखना परम आवश्यक है।

१—सन्तानोत्पत्ति पूर्ण यौवन में हो।

२—दम्पत्ति में परस्पर अनन्य प्रेम हो।

३—विचार उच्च और जीवन संयमशील एवं पवित्र हो।

४—दम्पत्तियों में जाति वर्ण का (गुण कर्मानुसार) एक होना और गोत्र पिण्ड का भिन्न भिन्न होना।

५—गर्भाधान संस्कार

६—दोहद पूर्त्ति

७—जात कर्म्म

इनमें से पहले की चार बातें तो आदर्श विवाह प्रणाली में सम्पन्न हो ही जाती हैं। शेष तीन बातों पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है।

१—गर्भाधान संस्कार-काम शास्त्र के विशेषज्ञों का मत है कि मासिक धर्म से शुद्ध होने के पश्चात् सोलह रात्रियों में ही स्त्री को गर्भ रहता है। पश्चात् स्त्री के गर्भाशय का मुख बंद हो जाता है। इन सोलह रात्रियों के अन्तर्गत स्त्री के चित्त में जैसे संस्कार होते हैं, जैसे उसके आचार-विचार और आहार विहार रहते हैं, जैसी उसके मन की स्थिति होती है, उसी के अनुसार गर्भस्थ बालक के संस्कार भी बनते हैं। अतः इस काल में स्त्री का आहार विहार और आचार विचार बिलकुल शुद्ध, पवित्र और सात्विक (वैद्यक शास्त्रानुसार) होने चाहिए। इसके पश्चात् गर्भ-धारण से लेकर प्रसव तक उसे बहुत पवित्र वातावरण में रहना चाहिए। उसका कमरा बिलकुल साफ सुथरा और तरह तरह के आदर्श पुरुषों और रमणीय दृश्यों के चित्रों से युक्त होना चाहिए। घर के लोगों की चेष्टायें उसके प्रति इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे वह हमेशा प्रसन्न चित्त रहे। उसके पढ़ने के ग्रन्थ अत्यन्त

उपदेश पूर्ण और मनोरंजक होने चाहिए। जिस श्रेणी का बच्चा उत्पन्न करना हो उसी श्रेणी के आदर्श पुरुषों की जीवनियों से स्त्री के मनोभावों को व्याप्त कर देना चाहिए। इन बातों का प्रभाव गर्भस्थ बालक के शरीर और मन पर बहुत अधिक पड़ता है। इसके प्रत्यक्ष प्रमाण जहाँ तहाँ मिलते हैं। एक दो घटनाओं को स्वर्ग लेखक ने भी अपनी आँखों से देखा है। उसके एक मित्र की स्त्री गर्भावस्था में एक सुन्दर, पुष्ट और स्वस्थ अंग्रेज़ लड़की के चित्र को बड़े चाव से देखा करती थीं। उसे वह चित्र और उसमें बैठी हुई बालिका बहुत ही पसन्द थी। दैवयोग से उस के लड़की हुई और ठीक वैसी ही जैसी उस चित्र में बैठी हुई थी। आँखें, नाक और मुख मण्डल सब ज्यों का त्यों। जब उस का फोटो लिया गया और उस चित्र के साथ लोगों को दिखलाया गया तो उन चित्रों का साम्य देखकर लोग आश्चर्य चकित हो गये। इस प्रकार की बहुत सी घटनाएं देखने को मिलती हैं।

२—दोहदपूर्ति-गर्भ के चौथे मास में जब गर्भस्थ जीव का हृदय बनने लगता है तब उसके हृदय में कुछ इच्छा उत्पन्न होती है। उस इच्छा का प्रतिबिम्ब गर्भवती के हृदय पर पड़ता है और वह गर्भवती के द्वारा दोहद के रूप में प्रकट होती है। इन इच्छाओं की पूर्ति अवश्य हो जानी चाहिए। इसके अपूर्ण रहने से गर्भस्थ प्राणी के स्वभाव में या किसी शारीरिक अङ्ग में जरूर विकृति उत्पन्न हो जाती है। इस लिए इस बात के लिए पूरी २ सावधानी रखना चाहिए।

३—जात कर्म्म-बालक के उत्पन्न होते ही तीन चार दिन तक

उसकी हृदय की धमनियां नहीं खुलती हैं। तब तक वह नाल के द्वारा जीवनोपयोगी सामग्री ग्रहण करता रहता है। अतः जब तक उसकी नाल न काटी जाय तब तक उसे वैद्यक शास्त्रानुसार विशेष प्रकार की औषधियां चटाई जानी चाहिए। उसके पश्चात् संस्कार विधि से उसका नालच्छेद करना चाहिए। इन औषधियों के रासामनिक परिणाम से बालक तेजस्वी और स्वस्थ रहता है।

संन्तान पालन

उत्तम संस्कारोंयुक्त सन्तान उत्पन्न होने पर भी यदि उनका योग्य रीति से पालन न किया जाय, तो उनका स्वास्थ्य गिर जाता है। बालक कमजोर और दुर्बल हो जाते हैं। फलतः उनके बीज रूप संस्कार विकसित नहीं होने पाते। या तो इस प्रकार के बच्चे अकाल ही में काल कवलित हो जाते हैं, या जीवन भर कमजोर, दुर्बल और रुग्ण में रहकर समाज पर भार-स्वरूप हो जीवन यापन करते हैं। इसलिए समाज और व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए माताओं को बच्चों के पालन की शिक्षा देना अत्यन्त आवश्यक है।

चार पांच दिन का बच्चा होने के पश्चात् उसे माता का दूध देना प्रारम्भ करना चाहिए। यह हमेशा स्मरण रखना चाहिए कि बच्चे की जीवन-रक्षा के लिए जिन जिन तत्त्वों की आवश्यकता होती है वे सब माता के दूध में विद्यमान रहते हैं। माता के दूध सिवा अन्य किसी वस्तु में वे तत्त्व उस तादाद में नहीं रहते। ऐसी स्थिति में माता के दूध के सिवाय कोई भी दूसरी वस्तु देना बच्चे के लिए हानिकर है। पर कई माताओं के स्तनों में बच्चों की जीवन-रक्षा के योग्य दूध उत्पन्न नहीं होता। ऐसी माताओं को

चाहिए कि वे अपने दूध के स्थान पर गाय के दूध का इस्तेमाल करें। पर स्मरण रहे कि गाय के दूध में माता के दूध की अपेक्षा धातुक्षार का अंश अधिक होता है और शक्कर का कम। इसलिए धातुक्षार का अंश कम करने के लिए उसमें दही के ऊपर का पानी मिलाना चाहिए। और शक्कर का अंश बढ़ाने के लिए उसमें दूध की शक्कर मिलानी चाहिए।

बहुतसी माताएं बच्चे को सात आठ महिने का होते ही अन्न देना प्रारम्भ कर देती हैं। यह एक ऐसी भयङ्कर भूल है जिसके लिए प्रकृति की ओर से क्षमा का कोई विधान नहीं। भोजन की रस-क्रिया न होने की वजह से ऐसे बच्चों की पाचनशक्ति बिगड़ जाती है। उनका पेट फूल जाता है,और हाथ पैर गल जाते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि भोजन को रसरूप बनाने के मूल साधन दांत है। अतः दांत निकलने के पहले उन्हें अन्न अथवा ऐसी ही गरिष्ट वस्तु देना महा पाप है।

बच्चा जब दो तीन महीने का हो जाय तभी से उसे शाम सुबह मैदान अथवा बाग-बगीचे की शुद्ध वायु में टहलाना चाहिए। उसको शुद्ध जल से स्नान करने का अभ्यास कराना चाहिए इससे बचों की तन्दुरुस्ती और उनकी पाचन-क्रिया पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

सन्तान-शिक्षा

जब से बच्चा माता की गोद में आता है, तभी से उसकी शिक्षा का प्रारम्भ होता है। माताओं को चाहिए कि तभी से वे उस बच्चे पर शुद्ध और पवित्र संस्कार डालना प्रारम्भ करें।

उसे हमेशा प्रसन्न और साफ रखने का प्रयत्न करें। किसी प्रकार का निषेधात्मक संस्कार Negetive sujestions उस पर भूलकर भी न डालें। इसके पश्चात् जब बच्चा चलने फिरने लग जाय तब उसको आज़ादी से खेलने का अवसर देना चाहिये। उसकी उठती हुई मनोवृत्तियों को विकसित होने के लिए विशाल-क्षेत्र देना चाहिए। हमेशा विधेयात्मक संस्कारों (Positive sujestions) के द्वारा उसकी आत्मा को उल्लसित करते रहना चाहिए।

कई नासमझ माताएं बच्चों को छोटी छोटी शरारतों को देखकर नाराज़ होती हैं, उन्हें मारती हैं, नाना प्रकार के भयोंसे भयभीत करती हैं। यह ठीक नहीं। इससे तो वे अपने बच्चों का जीवन नष्ट कर डालती हैं, उनकी उठती हुई मनोवृत्तियों को निर्दयता के साथ कुचल देती हैं। उन्हें बहुत ढीठ और निर्लज्ज बना देती हैं।

स्त्री-पुरुषों के दिलसे ऐसी बेहूदी बातों को हटाने के लिए उन्हें शिक्षा देना बहुत ज़रूरी है। बालकों के पालन और शिक्षा सम्बन्धी ज्ञान का समाज में प्रचार करने की भारी जरूरत है।

माता-पिता को इस बात का भली प्रकार ज्ञान हो जाना चाहिए कि मारने-पीटने से, और डराने धमकाने से बच्चों की मनोवृत्तियां नहीं सुधरतीं। बल्कि इनको सुधारने के तरीके दूसरे ही हैं।

इस विषय में प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता स्पेन्सर का कथन है कि 'बच्चे' नकल उतारने में बड़े तेज होते हैं। आप उन्हें डराएंगे, धमकाएंगे, मारेंगे तो वे भी ठीक उसी की नकल करेंगे और वैसे ही ढीठ बन जायंगे। इसलिए बच्चों के साथ यह तरीका अमल में

लाना बिलकुल ग़लत है। उनको दण्ड देना चाहिए। मगर उस दण्ड का स्वरूप दूसरे प्रकार का हो। ऐसी स्थिति आ-पड़ने पर माता-पिताओं को चाहिए कि वे पूरी सहनशीलता दिखाते हुए उनके साथ सत्याग्रह करें। इसका एक उदाहरण देते हैं, कि एक बच्चा किसी की आज्ञा न मानता था उसको ज्यों ज्यों पीटा जाता था त्यों त्यों वह ज्यादा शैतान और ढीठ होता जाता था। यहाँ तक नौबत आई कि उसे जो आज्ञा दी जाती वह ठीक उसके विरुद्ध काम करता था। आखिर लाचार होकर घर के सब लोगों ने उससे लाड़ प्यार करना छोड़ दिया और उससे असहयोग कर दिया। यह देखकर वह बच्चा अपने आप राह पर आने लगा। और बिना ही कहे नम्रतापूर्वक सब काम करने लग गया।

शिक्षा शैली

अब हम उस महत्त्वपूर्ण विषय पर आते हैं, जहाँ से बच्चों के जीवन का प्रत्यक्ष संगठन आरम्भ होता है, उनमें कुछ भला बुरा समझने की शक्तियों का विकास होने लगता है। यह अवस्था बच्चा जब पांच छः वर्ष का होता है तभी से प्रारम्भ होती है। यहीं से शिक्षा के आदर्श की सृष्टि होती है। आजकल बालकों की शिक्षा के सम्बन्ध में बड़े बड़े शिक्षित लोगों के अन्दर ऐसा भ्रम फैला हुआ है कि जिसे देख कर बड़ा भय मालूम होता है। इस भ्रम से सभ्यता की प्रगति में बड़ा धक्का पहुँच रहा है। अतः आइए हम इस महत्वपूर्ण विषय पर कुछ विचार करें।

(१) सबसे पहली बात, जिस पर ध्यान देने की आवश्यकता है, यह है कि अध्ययन के काल में बालकों को बस्ती से बहुत दूर जङ्गलों में पूर्ण ब्रह्मचर्य्य के साथ रखना चाहिए। आज कल के स्कूल और कॉलेज प्रायः बड़े बड़े शहरों में घनी बस्ती के समीप होते हैं। उनमें पढ़ने वाले बालकों का उन स्कूलों से केवल ग्यारह बजे से चार बजे तक सम्बन्ध रहता है। उनका शेष समय शहरों के विलास-मय वायुमण्डल में व्यतीत होता है। दशों दिशाओं से विलास और कृत्रिम सभ्यता की लहरें आकर उन्हें जब तब चञ्चल करती रहती हैं। उस नाजुक समय में जब कि उनके छोटे छोटे हृदय बिलकुल कोमल अवस्था में रहते हैं, ये कुसंस्कार उनके अन्दर नाना प्रकार की अस्वाभाविक प्रवृत्तियां उत्पन्न कर देते हैं। जिनकी उग्र उत्तेजना के कारण उनका मन दुर्बल और लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है। असमय ही उनकी शक्तियों का बुरी तरह अपव्यय होने लगता है। उनका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है।

हाँ, उन्हें इन विद्यालयों में धर्म और नीति के उपदेश भी जरूर दिये जाते हैं। परन्तु जहाँ सारा वायु-मण्डल दूषित हो इन थोड़ी देर की सुशिक्षाओं का क्या परिणाम हो सकता है? बल्कि ये कोरे उपदेश तो उल्टे उनकी सोई हुई मनोवृत्तियों को जगा देते हैं। वे दूने वेग से पतन की ओर दौड़ने लगते हैं। इसलिए इस अवस्था में बालकों को केवल नीति पूर्ण उपदेशों की नहीं प्रत्युत अनुकूल वायु-मण्डल की आवश्यकता है। 'यह न करो' 'वह न करो' कहकर उनके मन पर बन्धन डालने की आवश्यकता नहीं, प्रत्युत उन्हें ऐसे वायु-मण्डल में रखने की जरूरत है जहाँ

उनके चित्त पर बुरे संस्कार पड़ने ही न पावें। हमारी प्राचीन आश्रम-व्यवस्था का रहस्य यही है। चारों ओर भव्य, पवित्र वायु-मण्डल हो। एक एक दृष्टिपात उनको ऊँचा उठाने वाला हो।

भला ये संस्कार उनको शहरों की विलास-भूमि में कहीं मिल सकते हैं ? ये तो पवित्र गुरुकुलों में ही प्राप्त हो सकते हैं। हाँ, पाठ्यक्रम में तमाम आधुनिक शास्त्र भी अवश्य रक्खे जायँ। पर अध्ययन शैली स्वतन्त्र, स्वदेशी और स्वभाषा द्वारा ही हो।

गुरुकुलों के आसपास थोड़ी सी जमीन भी रहनी चाहिए। छात्र अपने हाथ से खेती करें। दूध, घी आदि चीजों के लिए गाय, भैंसें रहें, जिनसे छात्रों को अनायास पशुपालन की शिक्षा भी मिल सकती है। पढ़ने-लिखने से छुट्टी पाने पर वे अपने हाथ से बाग लगावें, पेड़-पौधों के चारों ओर क्यारे बनावें उनमें जल सींचें, और बाग की रक्षा के लिए बाड़ भी लगावें। इस प्रकार प्रकृति के साथ वे केवल कवि के समान भाव का ही नहीं, काम का भी सम्बन्ध रक्खें और कर्मयोगी बनें।

अनुकूल ऋतुओं में बड़े बड़े छायादार वृक्षों के नीचे वर्ग बैठें। शिक्षा का कुछ अंश अध्यापकों के साथ घूमते फिरते भी हो। संध्या-काल में वे नक्षत्रों का परिचय पावें, संगीत सीखें और इतिहास और पुराणों की कहानियां सुनें।

बालकों की शिक्षा में एक बात पर खूब ध्यान देने की आवश्यकता है। वह यह कि उन्हें कभी "यह न करो" "वह न करो" कहकर रोका न जाय। यदि वे किसी ऐसे बुरे काम में लगे हुए हैं तो उन्हें बुलाओ और उससे अच्छा काम बताओ। इसके लाभ समझाओ। मना करने से मानव-हृदय पर एक

आघात लगता है। बच्चों के लिए यह आघात तो और भी घातक है।

शिक्षा के अन्तर्गत निषेधात्मक संस्कारों का प्राधान्य रहने से बालक की उठती हुई प्रवृत्तियों का घात हो जाता है। अतः आवश्यक है कि बालकों के हृदयों में आरम्भ ही से आनंद के संस्कार इतने कूट कूट कर भर देना चाहिए। जिससे उनके हृदय में खराब बातों के लिए स्थान भी न रहे।

(३) तीसरी बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि बच्चों पर शिक्षा के स्वाभाविक संस्कार ही जमने देना चाहिए। जिसमें शिक्षा उनके मन में ओतप्रोत हो जाय। उनके मन पर शिक्षा का अस्वाभाविक आवरण न चढ़ने देना चाहिए। आजकल इस अस्वाभाविक आवरण का प्रचार दुनियाँ में दिन प्रतिदिन बढ़ता चला जा रहा है। यह आचरण आज कल की भाषा में सभ्यता के नाम से पुकारा जाता है। बच्चा पैदा होता ही नहीं है, उसके पहले ही हम उसके लिए वस्त्रादिकों की चिन्ता करने लगते हैं। बाल्य-काल शिक्षा देने की एक खास अवस्था है। उस समय शरीर और मन को परिपक्व करने के लिए प्रकृति के साथ स्वच्छन्द और बाधा रहित संयोग होने की आवश्यकता है। यह ढँकने मुंदने का समय नहीं है। पर आज कल इस उमर में ही बच्चों के साथ सभ्यता की लड़ाई छिड़ जाती है। बच्चा कपड़े फेंक देना चाहता है मगर हम उसे लदा हुआ रखना चाहते हैं। केवल लदा हुआ ही नहीं रखना चाहते, प्रत्युत उन कपड़ों के विषय में उसे सावधान भी कर देना आवश्यक समझते हैं। देखना ये कपड़े खराब न हो जायँ। इसमें स्याही के दाग न लग जायँ। इस प्रकार खेलेगा

तो कपड़ा खराब हो जायगा। इस प्रकार उठेगा बैठेगा तो वह फट जायगा। इस प्रकार सजा और दण्ड के द्वारा उसके मन को गुलाम बनाया जाता है। उसे बतलाया जाता है कि खेल कूद और स्वाभाविक आनन्द की अपेक्षा उसके कपड़ों का मूल्य अधिक है। कैसी दुर्दशा है, हमने अपनी स्वाभाविकता को किस प्रकार इस कृत्रिमता की गुलाम बना रक्खी है। इधर हमारे शरीर के साथ जैसे कपड़ों, मौजों और जूतों का सम्बन्ध बढ़ता जा रहा है उधर वैसे ही हमारे मन के साथ पुस्तकों का सम्बन्ध बढ़ता जा रहा है। बचपन ही से हमारे बच्चों के हाथ में ढेर की ढेर पुस्तकें रटने के लिए दे दी जाती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य के ज्ञान और भावों को सञ्चित करने के लिए पुस्तकों के समान सुभीते की दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इन्हीं पुस्तकों की वजह से हम हजारों वर्ष पहले के और हजारों मील दूरी के ज्ञान और भाव को हृदयंगम कर सकते हैं। पर यदि हम इसी सुभीते के लिए हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को पुस्तकों के आवरण से ढक देंगे तो हमारी बुद्धि गुलाम हो जायगी। पुस्तकों से हमारा उतना ही सम्बन्ध रहना चाहिए, जो हमारी स्वाभाविक शक्तियों को विकसित करने में सहायता दे। इसके बदले उनके बोझे से बच्चों की कल्पना-शक्ति को दबा देना, या उनके आवरण से उनकी दीप्त ज्ञान-शक्ति को ढंक देना अन्याय है। इसी प्रकार की शिक्षा के प्रताप से जो बालक यूरोप और अमेरिका की नदियों का और आकाश से तारागणों का पता बतलाते हैं, वे यह नहीं जानते कि उनके पिता के पिता कौन थे उन्होंने क्या काम किये थे, उनकी माता का वंश कौन सा है? इसी शिक्षा के प्रताप से

जो बालक सभाओं में व्याख्यान देते फिरते हैं, वे यह भी नहीं जानते कि घर और समाज के किस मनुष्य के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए। मतलब यह कि इस नकली शिक्षा के आवरण से उनकी बुद्धि ही रुक जाती है। यह शिक्षा का सदुपयोग नहीं प्रत्युत भयङ्कर दुरुपयोग है। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो हमारे जीवन के साथ एक-रस हो जाय। बालकों को शिक्षा उतनी ही दी जाय, जितनी वे हजम कर सकें। वह शिक्षा अस्वाभाविक है, जो उनकी स्वाधीन तर्क शक्ति को नष्ट कर देती है।

प्रकृति की गोद में खेलते कूदते हुए जो शिक्षा बालक ग्रहण कर सकते हैं वह शहरों के गन्दे वायु मण्डल में हजार प्रयत्न करने पर भी उन्हें नहीं मिल सकती। प्रकृति के आनन्द मय दृश्यों में से ही वे भूगोल और पदार्थ-विद्या के ऊँचे तत्त्वों की शिक्षा ग्रहण करें। यहाँ पर नीति के रूक्ष वाक्यों को रटाने की आवश्यकता न रहेगी, प्रत्युत नीति के सुन्दर तत्त्व इन्हीं बालकों के पवित्र हृदय से जन्म लेकर संसार में व्याप्त होंगे।

सचमुच वह समाज धन्य होगा जिसके नागरिक इस प्रकार प्राकृतिक वायु-मण्डल में तैयार किये जावेंगे।

पहला अध्याय

सत्ता

मनुष्य का मन सत्व, रज और तम इन तीन गुणों की समष्टि है। सत्व गुण से उसकी दैवी प्रकृतियों का विकास होता है। रजोगुण से उसकी मानवी प्रवृत्तियाँ फलती फूलती हैं और तमोगुण से उसकी पाशविक प्रवृत्तियों को पुष्टि मिलती है। सत्त्व गुण प्रधान होने पर उसका ब्राह्मणत्व प्रस्फुटित होता है, रजोगुण प्रधान होने पर उसके क्षत्रियत्व को बल मिलता है, और तमोगुण प्रधान होने पर उसमें (वासनामूलक) शूद्रत्व की वृद्धि होती है। रजोगुण और तमोगुण यद्यपि सतो-गुण की अपेक्षा निकृष्ट हैं, तथापि मानव प्रकृति का विकास करने के लिए इनकी अनिवार्य्य आवश्यकता रहती है। जिस प्रकार जीवन-रक्षक वायु में आक्सिजन के साथ-साथ नाइट्रोज़न और कार्वोलिक ऐसिड की भी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार व्यक्ति और समाज की मानसिक जीवन-रक्षा के लिए इन तीनों गुणों की एक नियमित मात्रायें आवश्यक होती है।

जब तक ये तीनों गुण अपनी नियमित समष्टि में व्यक्ति तथा व्यक्ति-समूह के अन्तर्गत विद्यमान रहते हैं, तब तक व्यक्ति और समाज की स्थिति बहुत सरल और सुन्दर रहती है। पर मानव स्वभाव इतना विषम है कि उसमें ये गुण अपनी नियमित अवस्था में अधिक समय तक नहीं रह सकते। इनमें घटा-बढ़ी

होती है। कभी सत्व गुण की प्रबलता हो जाती है तो कभी रज और तम बढ़ जाते हैं। जब तक समाज में सत्त्वगुण प्रबल होता है तब तक स्वभावतः उसमें दैवी सम्पद् का योगक्षेम होता रहता है। उसके व्यक्ति, बिना किसी प्रेरणा के ही समाज-रचना के उपर्युक्त सिद्धान्तों का पालन करते-रहते हैं। पर जब सत्त्व का पतन होने लगता है तथा रज और तम की वृद्धि होने लगती है तब व्यक्ति और समाज की अवस्था जटिल होती जाती है। उस समय सामाजिक भावना की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वार्थ की भावनाएं समाज में फैलती हैं, और समाज में व्यक्तियों के स्वार्थ आपस ही में टकराने लगते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए दूसरों के स्वार्थों पर आक्रमण करने लगता है समाज विश्रृंखल हो जाता है।

पर इसी संघर्ष में से, आक्रमण प्रत्याक्रमण की इन्हीं भावनाओं में से सत्ता के सूक्ष्म बीज की उत्पत्ति होती है। इस सामाजिक विश्रृंखलता से घबरा कर समाज के सब लोग उचित न्याय पाने के मतलब से कुछ ऐसे लोगों को अग्रगण्य कर देते हैं जो उनकी दृष्टि में विश्वास-पात्र, शिक्षित और समझदार हों। ये लोग अपने ज्ञान के बल सामाजिक कठिनाई को सुलझाने के लिए कुछ नियमों की रचना करते हैं। उन नियमों का पालन समाज के प्रत्येक व्यक्ति को करना पड़ता है। जो व्यक्ति इन नियमों का भंग करता है, उसको मार्ग पर लाने के लिए इनके पास कुछ शक्ति का संगठन भी रहता है।

बस यही सत्ता का बीज और विकास है। समय और सुविधानुसार भिन्न भिन्न देशों में यह शासक-संस्था कई अव-

स्थाओं में से गुजरी। आज हमें उसके चार रूप नजर आते हैं: (१) राज-सत्ता (२) धर्म-सत्ता (३) समाज-सत्ता और (४) अर्थ-सत्ता। शासन के दो भिन्न भिन्न साधन हैं। भय और प्रेम। जो सत्ता भय पर स्थित रहती है, वह मध्यम श्रेणी की है और जो प्रेम पर स्थित है वह उत्कृष्ट श्रेणी की है।

इस विषय में अभी मतभेद है कि मनुष्य-समाज में सब से पहले किस सत्ता का उदय हुआ। कोई धर्म-सत्ता को आदि सत्ता मानते हैं तो कोई राज-सत्ता को। पर समाज का निरीक्षण करने पर समाज-सत्ता को आदि-सत्ता मानना ही विशेष तर्क सङ्गत मालूम होता है। क्योंकि मनुष्य-समाज की रचना होने के साथ ही उसमें खान-पान, विवाह, आदि से सम्बन्ध रखने वाले नियमों की रचना होती है। पर व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण इन नियमों का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति प्रत्येक समाज में होते हैं। उन्हें समझा कर या दण्ड देकर समाज को व्यवस्थित रखने के लिए एक व्यवस्थापक समिति की जरूरत होती है।

यह आवश्यकतानुसार भय और प्रेम से भी काम देती है। भय से शासन करने वाली संस्था का विकास राजसत्ता में होता है और प्रेम-पूर्वक बुद्धि से समझा बुझाकर समाज को व्यवस्थित रखने वाली संस्था का विकास धर्म संगठन में होता है। पर संसार के इतिहास में अनेकों बार धर्म-संगठन का पतन होकर वह राज-सत्ता का प्रतिस्पर्धी हो गया है। नहीं, कई बार तो उसने राजसत्ता को भी अपना गुलाम बना लिया है।

वास्तव में धर्म कभी शासन नहीं करता। विश्व-कल्याण के प्रशस्त किन्तु दीर्घ मार्ग को दिखाकर वह पवित्र बलिदान के

प्रकाश द्वारा जन-समाज को सदाचार की ओर प्रेरित करता है। यह है उसका सात्विक रूप पर कभी वह नीचे उतर कर स्वर्ग और नरक की बातें कहकर जनता को लुभाता है और काल्पनिक भय भी दिखाता। यह उसका-राजसी रूप है किन्तु धर्म प्रायः लौकिक सत्ता को हाथ में लेकर सदाचार और दुराचार पर पुरस्कार और दण्ड भी देता है। ज्यों ज्यों वह नीचे उतरता जाता है अपनी स्वाभाविक निर्मलता और पवित्रता को खोता जाता है, और अन्त में राजसत्ता और इस धार्मिक सत्ता में सिवा नाम के कोई अन्तर नहीं रह जाता। धार्मिक-सत्ता भी उतनी ही प्रमादी, दुष्ट और अत्याचारी हो जाती है जितनी की राजसत्ता। नहीं बल्कि उससे भी ज्यादह। तब तो वह अपने लक्ष्य से कहीं भटक जाती है। सिद्धान्त को छोड़कर वह किसी समाज-विशेष के लौकिक स्वार्थ का हथियार बन जाती है। प्रत्येक धर्म के इतिहास में यह दुःखद अध्याय पाठकों को मिले बिना न रहेगा। अस्तु।

साधारणतया व्यक्तिगत और सामाजिक सदाचार के जितने सूक्ष्म तत्त्व हैं (अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य्य आदि) उन सब को धर्म-सत्ता अपने अन्दर पुण्यरूप में प्रविष्ठ कर लेती है। और उनके बदले में स्वर्ग और मोक्ष के अप्रत्यक्ष और अज्ञेय सौन्दर्य्य की कल्पना को पुरस्कार स्वरूप समाज के सम्मुख रखती है। इसके विपरीत व्यक्तिगत और सामाजिक अनाचार को वह पाप समझ कर उनसे मनुष्य-समाज को दूर रखने का आदेश करती है। और उनके बदले में भीषण नरक का चित्र उसके सम्मुख खींचती है।

अपनी साधारण स्थिति में मनुष्य जाति एक अप्रत्यक्ष और अज्ञेय सत्य के लिए जितनी पागल हो सकती है उतनी प्रत्यक्ष सत्य के लिए नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो, पर कल्पना के बराबर सुंदर वह कदापि नहीं हो सकता। जिस प्रकार आदर्श, व्यवहार से हमेशा आगे रहता है, उसी प्रकार कल्पना प्रत्यक्ष से हमेशा आगे रहती है। मनुष्य जाति व्यवहार और चरित्र की दृष्टि से चाहे कितनी ही सुंदर क्यों न हो जाय,, पर वह अपनी कल्पना से कभी आगे नहीं बढ़ सकती। क्योंकि कल्पना का क्षेत्र अनन्त है। इसी कारण इस सत्ता का अन्त भी अनन्त अर्थात् शून्य में जाकर हो जाता है।

पर जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, जिस समय समाज में तमोगुण प्रबल होने लगता है, उस समय धर्मसत्ता भी उसकी रक्षा करने में असमर्थ होती है। क्योंकि एक ओर तमोगुण के कारण स्वर्ग और नरक के काल्पनिक सुख-दुःखों की बातों पर से मनुष्य का विश्वास उठ जाता है, और दूसरी ओर वह इतना बेशरम हो जाता है कि उस पर सामाजिक बहिष्कार आदि का भी असर नहीं होता। पर, इस अविश्वास का और बेशर्मी का कारण है धर्म के आचार्यों और समाज के अगुआओं का नैतिक पतन ही। उस अवस्था में समाज यदि अस्तव्यस्त हो जाय तो कौन आश्चर्य ? तब इस भयंकर सामाजिक जटिलता को सुधारने के लिए उस तमोगुणी वायु-मण्डल के अनुकूल एक व्यवस्थापक शक्ति का उदय होता है। वह भले बुरे आदमियों को तत्काल पुरस्कार या दण्ड देकर समाज को व्यवस्थित करने की कोशिश करती है।

इस शक्ति में लोग सम्मिलित रहते हैं, जिनमें दैशिकता और जातीयता की भावनाएं विशेष रूप से रहती हैं। यह समाज को अपनी छाया में ले लेती है। ज्यों २ समाज की जटिलता बढ़ती जाती है। जब तक इस शक्ति का प्रभाव समाज के अल्पांश पर रहता है तब तक इसे व्यूह और संघ कहते हैं और जब इसका प्रभाव समाज के अधिकांश पर होता है तब इसे राज्य कहते हैं।

समाज-सत्ता और धर्म सत्ता के अन्तर्गत साम और दान नीति की प्रधानता रहती है। धर्म-सत्ता तो प्रायः परलोक का सौन्दर्य्य बतला कर समाज को सुमार्ग पर लाती है। समाज-सत्ता सामाजिक असहयोग आदि दण्डों की व्यवस्था करती है। पर मनुष्य का सामाजिक और धार्मिक जीवन पतित होने पर जब ये दोनों सत्ताएं निर्बल हो जाती हैं, तब राजसत्ता उनका स्थान लेती है। और साम-दान के साथ अपने दो नवीन अस्त्र, दण्ड और भेद को भी जोड़ देती है, और इन पर अमल करने के लिए वह एक ऐसा दृढ़ संगठन बना लेती है, जिसकी उपेक्षा साधारण जन-समाज नहीं कर सकता। इसी लिए हम देखते हैं कि जहां धर्म-सत्ता और समाज-सत्ता असफल हो जाती है, वहां राज-सत्ता सफलता पूर्वक समाज में शांति की रक्षा कर सकती है। सच बात तो यह है कि "सत्ता" नाम को सार्थक करने वाली वास्तव में एक राजसत्ता ही है।

धर्मसत्ता और समाज-सत्ता तो समाज का प्रारम्भिक अथवा अत्यन्त परिणत अवस्था में ही नियमन कर सकती हैं। तथापि ये सब सत्ताएं मनुष्य की त्रिगुणात्मक प्रकृति के अनुसार तीन प्रकार की होती हैं। सात्विक, राजस और तामस। सात्विक

सत्ताएं आशीर्वाद की तरह समाज का कल्याण करती है। शेष राजसिक सत्ताएँ उसे मध्यमस्थिति में रखती हैं। इस प्रकार की सत्ताओं से समाज के अनिष्ट का द्वार खुल जाता है और तामसिक सत्ताएँ शाप की तरह उसका नाश करती हैं।

सामाजिक सत्ता जब अपने सात्विक रूप में होती है, तब समाज में सतोगुण को समष्टि गत बनाए रखना उसका मूल उद्देश्य होता है। इस स्थिति में सत्ताधारी दल अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी नहीं चाहता। वह स्वयं सत्ता, सम्पत्ति और सुख से निर्लिप्त रहकर सारे समाज को सुखी, सम्पत्तिशाली और सात्विक बनाए रखने का प्रयत्न करता है। इसके पश्चात् जब यह सत्ता राजसिक रूप धारण कर लेती है तब इसका रूप कुछ अधिक जटिल हो जाता है। और तामसिक रूप प्राप्त होने पर तो यह बड़ी ही भयंकर हो जाती है। इस स्थिति में समाज के अन्तर्गत न्याय अन्याय का खयाल नहीं रहता। जिन बातों से समाज का वास्तविक नाश होता है (बालविवाह, वृद्ध विवाह, अनमेल विवाह, व्यभिचार आदि) उनकी ओर तो सामाजिक सत्ता का ध्यान नहीं रहता। और जिन बातों से समाज के कल्याण अकल्याण का कोई महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध नहीं रहता उन्हें तिल का ताड़ बना दिया जाता है। "इसे नहीं छुएँगे, उसकी छाया न पड़ने देंगे, फलाँ जाति के आदमी का छुआ अन्न नहीं खायँगे, फलाँ मनुष्य की लड़की से विवाह न करेंगे, वैसे बैठेंगे, यों चलेंगे यों सोयेंगे" आदि महत्त्वहीन बातों में ही उसकी सारी शक्तियों का अपव्यय हो जाता है। इस प्रकार की सत्ता समाज की गति पर एक ऐसी पाल बांध देती है, जिससे उसके तमाम अंग सड़

जाते हैं जिससे वह या तो मृत्यु की या उससे भी भयंकर गुलामी की यन्त्रणा भोगता है। जो सत्ता अपने सात्विक रूप में समाज के गले में पुष्पहार की तरह रहती है वही उसके तामसी रूप में गले की फाँसी बन जाती है।

धर्म-सत्ता अपने सात्विक रूप में ठीक तरह से सत्ता नहीं कही जा सकती क्योंकि उस स्थिति में सत्ता नाम को सार्थक करने वाले उसमें बहुत ही कम गुण रहते हैं। उस समय लोग धर्म का पालन धर्म समझकर ही करते हैं, बाध्य होकर नहीं। धर्म के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर ही लोग उस पर अपना सर्वस्व बलिदान करते हैं न कि उसके शासन से मजबूर होकर। जिस दिन से लोग धर्म के शासन से भयभीत होकर उसका पालन करने लगते हैं, उसी दिन से धर्म अपना धर्मभाव छोड़कर जड़ सत्ता का रूप धारण कर लेता है और उसी दिन से उसका रूप भी राजसिक हो जाता है। "यदि तुम ऐसा करोगे तो तुम्हें स्वर्ग मिलेगा, वहाँ देवांगनाएँ तुम्हारा स्वागत करेंगी और यदि ऐसा न करके वैसा करोगे तो तुम्हें नरक की भयंकर वैतरणी में सड़ना पड़ेगा, वहाँ यमदूत करौती से तुम्हारा सिर काटेंगे" आदि प्रलोभन और भय धर्म-सत्ता के राजसिक रूप में होते हैं। इस स्थिति में जन समुदाय का नैतिक बल कमजोर पड़ जाता है। यदि कोई उसे यह विश्वास दिला दे कि पाप करने से स्वर्ग मिलेगा तो शायद वह वैसा करने को भी तैयार हो जाय। जब वह सत्ता स्वार्थी आदमियों के हाथ में पड़कर तामसिक रूप धारण कर लेती है तब तो संसार में अनर्थ का सूत्रपात हो जाता है, खून की नदियाँ बहने लगती हैं। "मेरा धर्म सत्य है, दूसरे सब धर्म झूँठे और

उनके मानने वाले काफ़िर या म्लेच्छ हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह तलवार है, यदि मेरे धर्म को मानोगे तो बहिश्त मिलेगी, न मानोगे तो तलवार के घाट उतार दिये जाओगे" इत्यादि। इस तरह जब धर्म की बाग़डोर मूर्ख और स्वार्थी लोगों के हाथ में जा पड़ती है तब वे लोग जनता को उसका सौन्दर्य दिखाकर उसे मुग्ध करने में तो असमर्थ हो जाते हैं, और तलवार की ताकत ही उनके धर्म का मुख्य आधार हो जाती है।

जब से संसार में धर्म्मालयों के उत्तराधिकार की प्रथा चली है तब से तो धर्म्मसत्ता का रूप और भी भ्रष्ट हो गया है। समाज में हर समय तो ऐसे योग्य उत्तराधिकारियों का मिलना कठिन होता है, जो अपने आचार्य्य के स्थान पर ईमानदारी और धर्म्म-निष्ठा के साथ कार्य्य करें। इनमें से अधिकांश स्वार्थी और विलासी होते हैं। ये लोग अपनी गद्दी और धर्म की आड़ में मनमाने अनाचार और व्यभिचार करते हैं। पैसे की तो इन लोगों के पास कमी होती ही नहीं, और अधिकार भी शायद राजा रईसों से इनका अधिक ही रहता है। सुविधाएं बहुत रहती हैं। ऐसी स्थिति में ये जो न कर डालें, वही थोड़ा। यूरोप में भी इस प्रकार के कई पापों के भण्डाफोड़ हुए हैं। हमारे यहां भी यह गुप्त व्यभिचार जोरों से बढ़ रहा है। मतलब यह कि यह धर्म-सत्ता का तामसिक और भ्रष्ट रूप है।

राज-सत्ता भी अपनी सात्विक अवस्था में बहुत सुन्दर और उपयोगी होती है। फिर वह चाहे एक तन्त्र सत्ता हो, प्रातिनिधिक हो, अथवा प्रजा-सत्ता हो। जहां तक सत्ता सात्विक रहती है वहीं तक उससे समाज की सेवा हो सकती है। इस प्रकार की

राज-सत्ता तथा राजा को हिन्दू धर्म-शास्त्रों में ईश्वर का अंश कहा है। सात्विक प्रवृत्ति शील राजा का ध्यान हमेशा समाज और देश के हित की ओर ही रहता है। राजा अपने राज्य को सुख और भोग की वस्तु नहीं समझता, प्रत्युत उसे वह एक ऐसा भार समझता है जिसको उसे किसी नियत स्थान पर पहुँचाना है। वह अपने को केवल प्रजा के इहलौकिक सुख का ही नहीं प्रत्युत पारलौकिक सुख का भी जिम्मेदार समझता है। और इसलिए सुख और समृद्धि के साथ साथ धार्मिकता और नीतिमत्ता का समष्टिगत प्रचार करना भी वह अपना कर्तव्य समझता है। ऐसे राजा अथवा राज-सत्ता प्रायः साम और दान नीति से ही काम लेते हैं, दंड और भेद नीति का उपयोग तो केवल कभी कभी बहुत आवश्यकता पड़ने पर ही किया जाता है। यह राज-सत्ता का सात्विक रूप है। वही राज-सत्ता जब राजस रूप-धारण कर लेती है, तब राजा या राज समुदाय में विलास वृत्ति बढ़ जाती है। पर वह इतनी नहीं बढ़ती जिससे वह अपने कर्तव्य को भी भुला दे। वह भोग की पूर्ति के साथ साथ प्रजा के हितों का भी खयाल रखता है। अब वह राज्य को केवल कर्तव्य का बोझ ही नहीं समझता वरन् आनन्द और भोग की सामग्री भी समझता है, अब वह अपने को प्रजा का नौकर नहीं समझता प्रत्युत मालिक समझने लगता है फिर भी प्रजा के हित पर उसका काफी ध्यान रहता है। यही राजसत्ता जब तामसी रूप धारण कर लेती है तब वह समाज के लिए शापरूप हो जाती है। राजा का स्वार्थ या भोगवृति इतनी प्रबल हो जाती है कि या तो वह प्रजा पालन का जानबूझ कर ख्याल ही नहीं करता या प्रजा

के हितों को बिलकुल भूल जाता है। अपने छोटे छोटे स्वार्थों के लिए वह प्रजा का रक्त चूसता रहता है स्वार्थ और विलासिता के फेर में पड़ कर अपनी प्रजा के धन को विलास और व्यभिचार में नष्ट कर देता है। प्रजा की दुःख-मय स्थिति की ओर उसका बिलकुल ध्यान नहीं रहता। वह प्रजा की पुकार नहीं सुन सकता। प्रजा के जीवन का वह कुछ भी मूल्य नहीं समझता। उसके हितों से अपने हितों को बिलकुल भिन्न समझता है। इसका फल यह होता है कि सारे राज्य में अव्यवस्था फैल जाती है। उच्च पदाधिकारी छोटे अधिकारियों से और छोटे अधिकारी प्रजा से रिश्वत लेना शुरू कर देते हैं। गरीब प्रजा बुरी तरह से सतायी जाती है। ऐसे समय जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत चरितार्थ होती है।

तात्पर्य यह कि मनुष्य-समाज जब तक इसी तरह विचार शील बना रहेगा; उसका नियमन करने के लिए दुर्भाग्य वश किसी न कसी तरह के बाहरी शासन की आवश्यकता अवश्य ही बनी रहेगी। अब सवाल तो यह है कि यह शासन कैसे हो ? संसार ने अब तक इसके कई प्रयोग किये परन्तु अबतक किसी सम्पन्न संस्था का वह आविष्कार न कर सका। इसका कारण स्पष्ट है।

स्वयं मनुष्य ही जब तक अपूर्ण रहेगा—उसको बनाई कोई संस्था— संम्पूर्ण कैसे हो सकती है ?

हां अबतक के अनुभव से हम यह जरूर समझ सके हैं कि सत्ता से हम किस बात की अपेक्षा करते हैं ! सत्ता ऐसी हो जो मनुष्य को विकारशीलता से उबार कर इतना विचार शील और

सज्जन बनादे कि जिससे मनुष्यों का पारस्परिक व्यवहार इतना परिष्कृत हो जाय कि समाज के नियमन के किए किसी बाहरी शक्ति की आवश्यकता ही न रहे ? मनुष्य की प्रवृत्ति में सत् की अपेक्षा रज और तम की मात्रा अधिक है। सत्ता का उद्देश्य है इन तीनों गुणों में साम्य पैदा करना।

जब तक कोई सत्ता इस लक्ष्य को ध्यान में रख कर अपना कार्य करती है तब तक वह माता के आशीर्वाद की तरह समाज का कल्याण करती है। जिस समाज में ऐसी सत्ता होती है उसमें सुख, शान्ति और स्वाधीनता की नदियां शत और सहस्र धार होकर बहती है। पर जब यही सत्ता अपना तमोरूप धारण कर लेती है, तब काल की तरह समाज को खाकर स्वयं भी नष्ट हो जाती है

दूसरा अध्याय

राज्य

राज्य समाज का अत्यन्त महत्त्व पूर्ण अङ्ग है। समाज की उन्नति के साथ साथ राज्य-सत्ता की कल्पना में भी धीरे धीरे बड़ा महत्त्व पूर्ण विकास होता आ रहा है। इस विकास के साथ साथ राज्य के कई प्रकार के रूप भी अस्तित्व में आये हैं। अतः इस अध्याय में हम इस विषय पर संक्षेप में कुछ विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं।

यूरोपीय राज्य कल्पना का विकास

यूरोपीय राजनीति का इतिहास साधारणतया तीन कालों में बँटा हुआ है। प्राचीन काल, मध्यकाल और अर्वाचीन काल।

यूरोपीय राजनीति का प्राचीन काल ग्रीस से प्रारम्भ होता है। कला-कौशल और काव्य ही की तरह पश्चिमी राजनीति का जन्म भी इसी देश से माना जाता है। सांपत्तिक शासन-शास्त्र का आविर्भाव पहिले यहीं पर हुआ। प्लेटो के रिपब्लिक में हमें राज्य की उत्पत्ति और उसके भेदों के दर्शन अवश्य होते हैं। पर राजनीति का सुसम्बद्ध स्वरूप और राज्य के वैज्ञानिक विश्लेषण का सर्वांग सुन्दर रूप तो हमें पहले पहल एरिस्टोटल के "पॉलिटिक्स" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में ही देखने को मिलता है। यूरोपीय राजनीति का जन्म दाता यही विद्वान् माना जाता है।

"पॉलिटिक्स" में राज्य की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार माना गया है—'पहले पहल मनुष्य जाति कुटुम्ब पद्धति में रहती थी। फिर कुटुम्बों के मिलने और बढ़ने से उपजातियां पैदा हुई। उपजातियों के बढ़ने और मिलने से जातियां बनीं और इसी प्रकार जातियों की वृद्धि तथा मिश्रण से राज्य बने।' * राज्य का उद्देश्य बतलाते हुए अरस्तू लिखते हैं कि मनुष्य-जीवन को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बनाना ही राज्य का प्रधान उद्देश्य है, क्योंकि राजनैतिक संगठन की छाया के बिना वास्तविक मनुष्य-जीवन का बनना असम्भव है। जो राज्य-पद्धति इस उद्देश्य का अनुकरण नहीं करती वह हेय है। उसने राज्य के तीन विभाग किये हैं (१) मॉनर्की (एक सत्ता) (२) अरिस्टोक्रेसी (कुलीन सत्ता) और (३) स्टेट (जन सत्ता)। उसने इनमें से प्रत्येक विभाग को प्लेटो की ही तरह दो प्रकार का माना है। भारतीय भाषा में हम उन्हें सात्विक और तामस कह सकते हैं। पहला वह जहां सब के हितों पर ध्यान दिया जाता हो। और दूसरा वह जहां केवल अधिकारियों के हितों की रक्षा और दूसरों के हितों की अवहेलना की जाती हो। उसने कई स्थानों पर स्पष्ट लिखा है कि केवल राष्ट्र के स्वास्थ्य और उसकी जीवन-रक्षा के लिए ही राज्य

---

* आजकल के वैज्ञानिकों की विचार-पद्धति इसके बिलकुल विपरीत है। उनके मतानुसार पहले जंगली मनुष्य बड़े बड़े झुण्डों में रहते थे। पशु पालन की प्रथा का प्रारम्भ होने पर प्रत्येक गिरोह के कई भाग हो गये। कृषि का प्रादुर्भाव होने पर ये भाग भी उपविभागों में विभक्त हो गये। इसी काल में राजनैतिक संगठन और राज्य-कल्पना की उत्पत्ति हुई।

की सृष्टि हुई है। जो राज्य इस उद्देश्य को पूरा नहीं करता वह घृणित है।

अरस्तू के कुछ समय पश्चात् ग्रीस पर रोम का अधिकार हो गया। उस समय रोमन साम्राज्य में न जन-सत्ता थी, न स्थनिक स्वराज्य और न सच्चा राजनैतिक जीवन ही। इस काल में ग्रीक मस्तिष्क राजनैतिक पथ से हट कर विशुद्ध दर्शन और अंशतः सामाजिक आलोचना में लग गया। फलतः वहां कई राजनैतिक विचार पद्धतियों ने जन्म ग्रहण किया है।

इन विचार पद्धतियों में से दो बहुत प्रबल थीं। पहली एपीक्यूरियन और दूसरी स्टोइक।

एपीक्यूरियन पद्धति का पुरस्कर्ता एपीक्यूरियस था इस तत्त्ववेत्ता ने एक महत्त्व पूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो उसके डेढ़ हजार वर्ष पश्चात् यूरोप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा। राज्य की उत्पत्ति का विवेचन करते हुए उसने लिखा है—"बहुत दिन हुए सब लोगोंने मिलकर यह तय किया था कि हम राज्य की स्थापना करते हैं। उस राज्य में कोई किसी पर अत्याचार न करेगा। न कोई किसी के वास्तविक हक पर आक्रमण कर सकेगा। किसी पर अत्याचार न करेगा इस इकरारनामे से राज्य की सृष्टि हुई और यही राज्य का सर्व प्रधान कानून है।

एपीक्यूरियन मत की अपेक्षा भी उन दिनों ग्रीस में स्टोईक विचारों का बड़ा प्राबल्य था। यह विचार पद्धति प्रतिपादन करती—सारा संसार एक विशाल नगर है और साधारण नगर उसके कुटुम्ब, इस सार्वभौम राज्य में एक ही तरह का कानून और एक तरह की व्यवस्था होनी चाहिए। राज्य पद्धति में एक-

सत्ता, कुलीन-सत्ता और जन-सत्ता तीनों का समावेश होना चाहिए। यह हुआ ग्रीसके प्राचीन विद्वानों का राज-नीति संबंधी विचारों का सूक्ष्म परिचय।

रोमन लोगों के राजनैतिक सिद्धान्त भी इन्हीं का प्रति-बिम्ब हैं। उन्होंने भी ग्रीस के सार्वभौम अधिकारों की कल्पना का अनुकरण किया। पर अनुभव के पश्चात् उन्हें मालूम हुआ कि राज्यहित और प्रजाहित हमेशा एक नहीं होते। जो बात राज्य के लिए फ़ायदेमन्द होगी वह प्रजा के लिए भी उसी तरह फायदे-मन्द होगी यह नहीं कहा जा सकता। यह बात ध्यान में आते ही उन्होंने अपनी कल्पनाओं में परिवर्तन किया। फिर भी ग्रीस विचार पद्धति का यह तत्त्व तो उन्होंने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया कि लोकसत्ता पर ही राज्यसत्ता का आधार है। "सिसेरे" नामक सुप्रसिद्ध रोमन वक्ता ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि "सम्पूर्ण कानून की मूलाधार जनता की इच्छा है। इसने भी स्टोइक विचार-पद्धति की तरह, आदर्श राज्य-पद्धति में एक-सत्ता, कुलीन-सत्ता और जन-सत्ता तीनों के मूल तत्त्वों को मिलाना चाहा है"।

यहां तक का समय यूरोप के राजनैतिक इतिहास में प्राचीन काल माना जाता है। इसके पश्चात् ईसाई धर्म की उत्पत्ति के साथ ही यूरोपीय राजनीति का मध्यकाल प्रारम्भ होता है। इस काल में, ईसाई धर्म के प्रचार के साथ साथ यूरोप में अनियन्त्रित राज्यसत्ता का उदय हुआ। इस काल की राज्य-सम्बन्धी कल्पना प्रसिद्ध कूट नीतिज्ञ "मैकियावेली" के ग्रन्थों में मिलती है। इसने कहा—अपना साध्य सिद्ध करने के लिए चाहे जिस

उपाय की योजना करो। वह राजसत्ता को सर्वोपरि और निरंकुश रखना चाहता है। सत्य, असत्य, न्याय, अन्याय और प्रजा के किसी भी अधिकार की कल्पना इसकी राजनीति में नहीं है। धर्म तथा अधर्म सभी उसके लिए जायज है। इसका मुख्य सिद्धान्त है "जिसकी लाठी उसकी भैंस" (Might is right.)

फ्रेञ्च लेखक "जॉनबोदी" की कल्पना इससे कुछ भिन्न और उत्कृष्ट है। यह भी राज्य सत्ता को सर्वोपरि समझता है। पर वह एक तंत्र को अनुचित बतलाता है। इसके मतानुसार राजकुटुम्ब के सब मनुष्यों को मिल कर अधिकारों का व्यवहार करना चाहिए। इसकी विचार-प्रणाली में अल्प-संख्यक राज्य-पद्धति का प्रतिबिम्ब दिखलाई देता है। यह लेखक भी प्रजा के कल्याण की अपेक्षा राज्य की स्थिरता को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है।

इसके पश्चात् यूरोप में फिर से "एपीक्यूरियस" वाले सिद्धान्त का पुनर्जन्म हुआ। इस पद्धति का सब से प्रथम पुरस्कर्ता "रिचर्ड हूकर" नामक पादरी था। इसने अपने "Eclisiasticae policy" नामक ग्रन्थ में पोपोंके धार्मिक अधिकारों की रक्षा करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसके पश्चात् ग्रोटियस, मिल्टन, स्पाइन्शा आदि कई लेखकों ने अपने अपने ग्रन्थों में इस सिद्धान्त का समर्थन किया। पर इसकी सब से प्रबल पुष्टि "थामस हाब्स" ने अपने लेवियाथन (Leviathan) नामक ग्रन्थ में की है। इसकी विचार पद्धति का सारांश यह है कि—"जिस प्रकार दो स्वतन्त्र व्यक्ति अपनी इच्छा से आपस में इकरार करते हैं और उसमें से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिको अपना मुख्तार बना देता है, उसी प्रकार राजसत्ता के सब अधिकारों का मूल प्रजा

ही है। उसने अपनी सुविधा के लिए एक अथवा अनेक व्यक्तियों को अपने अधिकार दिये हैं। राजा या राज्य समुदाय को यही मुख्तारी के अधिकार प्राप्त हैं। वह इन अधिकारों के द्वारा प्रजा के सहज स्वातन्त्र्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं डाल सकता। इतना होने पर भी इस लेखक की विचार प्रणाली में एक महत्त्व-पूर्ण भूल पाई जाती है। इसके मतानुसार राजा प्रजा का मुख्तार तो है, पर प्रजा उससे यह अधिकार नहीं छीन सकती, इस भूल के कारण उसकी सारी विचार-पद्धति में ही एक प्रकार की गड़बड़ी उत्पन्न हो गई है।

हॉब्स के पश्चात् 'जॉन लॉक' नामक अंग्रेज लेखक ने इस विषय पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया। हॉब्स की उपपत्ति में रही हुई गम्भीर त्रुटि को इसने अपनी विचार-पद्धति द्वारा दूर कर दिया। इसने बतलाया कि जिस प्रकार दो मनुष्य आपस में किये हुए इकरारनामे को कोई शर्त टूट जाने पर रद्द कर सकते हैं, उसी प्रकार प्रजा के दिये हुए अधिकारों का यदि राज-सत्ता दुरुपयोग करने लगे तो प्रजा को पूर्ण अधिकार है कि राज-सत्ता से वह उन अधिकारों को छीन ले। लॉक की इस कल्पना से राजसत्ता के ईश्वर द्वारा निर्मित होने और अबाधित रहने की कल्पना नष्ट हो जाती है।

लॉक के करीब एक शताब्दी पश्चात् फ्रांसके प्रसिद्ध तत्वज्ञ रूसो ने इस सिद्धान्त को चरम सीमा पर पहुँचाया। उन्होंने अपने "Social contrac." नामक ग्रन्थ में इस विषय का प्रति-पादन करते हुए बतलाया है कि राज्य और प्रजा के बीच केवल इकरार मदार का सम्बन्ध ही नहीं है प्रत्युत उसकी उत्पत्ति भी

इसी तत्त्व पर है। उसका कथन है कि "ऊपर बतलाये हुए इक-रार के तत्त्व के अनुसार लोग अपने अधिकार समाज के कल्याणार्थ समाज को देते हैं न कि राजा को। इस प्रकार तमाम व्यक्तियों के दिये हुए अधिकारों का एकीकरण समाज के हाथ में होता है। फिर समाज अपनी सुविधा के लिए राजा अथवा अन्य अधिकारियों को नौकर रखकर उनके हाथों में सब अधिकार देता है। इस प्रकार रूसो ने राजा तथा राज्य-सत्ता को स्वामित्व के स्थान से सेवकत्त्व के स्थान पर लाकर रख दिया है।

यूरोप की राज्य सम्बन्धी कल्पना का यह अन्तिम आदर्श है। जिस समय अमेरिका में राज्यक्रान्ति हो रही थी उस समय लोगों के हृदय पर इस सिद्धान्त का बहुत प्रभाव छा रहा था। अगर यह कहा जाय तो भी अतिशयोक्ति न होगी कि उस समय ये बातें धार्मिक सिद्धान्तों की तरह मानी जाती थीं।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दि में कई विद्वानों ने रूसो के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के विरुद्ध अपनी जोरदार कलम उठाई। थामस हील ग्रीन, एडमन्ड बर्क, प्रो० ब्लंशले, सर फ्रेडरिक पोलक, मॉस्टेक्यू आदि विद्वानों ने इसकी निस्सारता दिखलाने का जबर्दस्त प्रयत्न किया। मास्टेक्यूने "एस्पि दी लवा" नामक ग्रन्थ में ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचना करते हुए इस पद्धति को निराधार ठहराने का प्रयत्न किया है। उसने बतलाया है कि प्रत्येक राष्ट्र और समाज के अनुशासन के बीज उनकी परिस्थिति और इतिहास परम्परा के अनुसार भिन्न भिन्न हैं। इसलिए सभी समाजों के राज्य की उत्पत्ति एक प्रमाण पर नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार और और विद्वानों ने भी इस पद्धति का खंडन किया।

फिर भी यूरोप में इस सिद्धान्त के पश्चात् ऐसे सर्वव्यापी सिद्धान्त की उत्पत्ति नहीं हुई, जो इतना सर्वमान्य हो सके। रूसो का सिद्धान्त ही अभी तक वहां पर अन्तिम सिद्धान्त माना जाता है। इस सिद्धान्त से वहां पर इस विश्वास का तो करीव करीव अन्त हो गया कि राज-सत्ता ईश्वर है, अथवा वह सब से श्रेष्ठ है। अव वहां पर राजसत्ता की श्रेष्ठता राजा और प्रजा के पारस्परिक इकरारों का फल समझी जाने लगी है।

भारतीय राज्य कल्पना का विकास

अव हम भारतीय राज्य-कल्पना के विकास पर एक सरसरी निगाह डालकर अपने विषय को प्रारम्भ करेंगे। ऊपर जिस इकरार के सिद्धान्त का हम विवेचन कर आये हैं उसका बड़ा ही सुन्दर और व्यवस्थित रूप भारत वर्ष में हजारों वर्ष पहले प्रचलित हो चुका था। महाभारत के शान्ति पर्व में इस सिद्धांत का बड़ा ही ललित विवेचन देखने में आता है। उसमें लिखा है कि पहले राजाओं का अस्तित्व न होने से समाज में बड़ी अव्यवस्था रहती थी। चारों ओर मत्स्य न्याय का प्रचार देखने में आता था। बलवान् लोग निर्बलों का भक्षण कर जाते थे। इस अव्यस्था को मिटाने के लिए सब लोगों ने मिल कर नियम वनाया कि "जो कोई दूसरे से कठोर भाषण या मार पीट करेगा, अथवा दूसरे के धन और स्त्रियों पर आक्रमण करेगा, उसका हम त्याग करेंगे। यह नियम सब वर्णों पर समान रूप से व्यवहृत होगा।" पर जब इस नियम के निर्द्धारित हो जाने पर भी लोगों ने इसके अनुसार व्यवहार न किया, तब सब प्रजा दुःखी

होकर ब्रह्मा के पास गई। और उनसे कहा कि हमें एक ऐसा अधिपति दीजिए जो सब लोगों को इस नियम का पालन करने के लिए बाध्य करे। यह सुनकर ब्रह्मा ने मनु को आज्ञा दी कि तुम इस कार्य को सम्पादन करो। उत्तर में मनु ने कहा "पाप मार्ग पर गमन करने वाले लोगों पर शासन करना महा पाप है। इस पाप से मुझे बड़ा भय लगता है।" इस पर लोगों ने मनु से कहा कि "राष्ट्र में जो पाप होगा वह कर्त्ता को लगेगा तू भय मत खा, तुझे हम पशुओं का पचासवां हिस्सा और जमीन से उत्पन्न होने वाले अनाज का दसवां हिस्सा व्यवस्था करने के लिए देंगे। अस्त्र, शस्त्र और वाहन से संयुक्त हमारे सैनिक हमेशा तेरे साथ रहेंगे। इसके अतिरिक्त हम लोग अपने धर्माचरण का भी चौथा हिस्सा तुझे देंगे। तू सुख और आनन्द के साथ राज्य कर।" मनु ने इस शर्त्त को स्वीकार कर राज्य भार ग्रहण किया।

प्रोफेसर विनय कुमार सरकार का कथन है कि हिन्दू धर्म-शास्त्रों के मतानुसार "राज्य" और "स्वामित्व" की कल्पना में बड़ा घनिष्ट संबंध है। आपका मत है कि स्वामित्व की कल्पना के साथ साथ समाज में राज्य की भावना का भी विकास होने लगा। क्योंकि जहाँ राज्य है, शासन है वहीं स्वामित्व भी है। अराजकता और मत्स्य न्याय की प्रवृत्ति से युक्त समाज में स्वा-मित्व की भावना का फलना फूलना असम्भव है। अतएव हिन्दू-शास्त्रकारों का यह कथन सर्वांश में सत्य है कि राज्य के अस्तित्व के साथ स्वामित्व का भी अस्तित्व है।

राज्य की कल्पना का ज्यों ज्यों विकास होने लगा। त्यों त्यों इस देश में भी राज्य पद्धतियों के कई भिन्न भिन्न रूप दृष्टिगोचर

होने लगे। वैध राजतंत्र, अवैध राजतंत्र, आदि कई पद्धतियों का यहाँ पर प्रचार हुआ। पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि राजतंत्र पद्धति का जितना बिकास इस देश में हुआ उतना दूसरी पद्धतियों का न हो सका। उसका एक बड़ा ही गम्भीर कारण है। यहाँ के प्राचीन समाजतत्वज्ञों का विश्वास था कि समाज की व्यवस्थापिका शक्ति—राज्य—की दैवी सम्पद् युक्त होना अत्यन्त आवश्यक है। जो राज्य पद्धति दैवी सम्पद् हीन हो जाती है वह समाज का नाश करके स्वयं भी नष्ट हो जाती है। उन समाज-तत्ववेत्ताओं का यह भी विश्वास था कि, प्रजा सत्ताक शासन प्रणाली है तो अच्छी पर वह सफल तभी हो सकती है जब सारा जन समूह दैवी सम्पदत्व सम्पन्न हो और यह काम बड़ा कठिन है। इतने लोगों को दैवी सम्पद् युक्त बनाने की अपेक्षा एक व्यक्ति को दैवी सम्पद युक्त बनाना अधिक आसान है। दूसरी बात यह है कि समूह बद्ध राज्य पद्धति में प्रतिनिधियों के बीच हमेशा मतभेद बना रहता है और वे प्रायः अहंकारवश उचित समझौता करने को तैयार नहीं होते। ऐसी स्थिति में यदि राज्य पद हर एक व्यक्ति को प्रतिष्ठित कर दिया जाय, और दूसरे प्रतिनिधियों को उसके सहायक रूप में रक्खा जाय तो यह अव्यवस्था दूर हो सकती है।

इसी विचार-पद्धति के परिणाम स्वरूप यहाँ पर एकतंत्री राज्य पद्धति का बहुत अधिक विकास हुआ। यद्यपि कई प्रजा-तंत्र राज्यों का भी यहाँ पर विकास हुआ फिर भी इस देश में प्रधानता राजतंत्र की ही रही।

पर इस राजतंत्र का स्वरूप बड़ा ही परिमार्जित और सुव्य-वस्थित रक्खा गया था। उस समय राजा होने के लिए केवल

राज्य कुल में जन्म लेना ही पर्याप्त न समझा जाता था। इस बात का पूरा पूरा ध्यान रक्खा जाता था कि योग्य व्यक्ति ही राज्य आसन को सुशोभित कर सकें। प्रोफ़ेसर झिमर का कथन है कि भारत में कहीं कहीं तो वंश परम्परानुसार राजा गद्दी पर बैठते थे और कहीं कहीं लोगों के द्वारा उनका चुनाव होता था। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि में राजाओं के प्रजा द्वारा चुने जाने का वर्णन पाया जाता है। जैसे—

इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परे हि संह्यज्ञास्था वरुणे संबिदान,
सत्वाय महवत स्वेस्थस्थे सदेवान् यन्नत् सकल्प यादविशः ॥

... ...

त्वां विशो वृणुता राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्चदेवीः
वर्ष्मन राष्ट्रस्य ककुदी श्रयस्व ततोन उगो विभजा वसुनी ।

अर्थात्—(१) हे राजन् ! जनता के सन्मुख आइए। आप अपने निर्वाचन करने वालों के अनुकूल हैं। इस पुरुष ने आपको आपके योग्य स्थान पर यह कह कर बुलाया है इसे देश की स्तुति करने दो और जाति को सुमार्ग पर चलने दो।

(२) हे राजा ! राज्यकार्य चलाने के लिए प्रजा तुझे निर्वाचित करे। इन पांचों प्रकाश युक्त दिशाओं में प्रजा तुझे निर्वाचित करे।

यह तो वेदों का प्रमाण हुआ। महाभारत में भी इस प्रथा का अस्तित्व देखा जाता है। राजा कुरु को लोगों ने ही चुना था। क्योंकि उस काल में वह बड़ा धर्मात्मा था। इसके अतिरिक्त दैवापि को लोगों ने राज्य सिंहासन पर बैठने से रोक दिया क्योंकि वह कुष्ठी था, उसके स्थान पर शान्तनु को सिंहासन पर

बिठाया। इसी प्रकार राजा ययाति अपने पुत्र यदु को राज सिंहासन पर बिठाना चाहता था। पर प्रजा उसे अयोग्य समझती थी। उसने उसका बड़ा विरोध किया। लाचार वे अपने भतीजे को युवराज बनाने के लिए बाध्य हुए। राजा दशरथ ने भी रामचंद्र को यौवराज पद देते समय लोक-सभा को निमंत्रित करके उसकी सलाह ली थी।

यह तो हुई राजा के चुनाव की बात। लेकिन चुने जाने पर भी राजा पर जनता की ओर से कई प्रकार के नियंत्रण रहते थे। वह योग्य और विद्वान ब्राह्मणों की सलाह के बिना कोई बड़ा और महत्व पूर्ण कार्य न कर सकता था। राजनीति के सम्बन्ध में जो नियम ब्रह्मा ने बना दिये थे उनका उल्लंघन करने का राजा को अधिकार न था। यदि राजा किसी प्रकार की स्वार्थ-बुद्धि से या किसी दुष्टभाव से प्रेरित होकर इन नियमों के विरुद्ध आचरण करता या प्रजा को तकलीफ पहुँचाता तो वह तुरन्त राज्य-पद से अलग कर दिया जाता था।

राजा का आदर्श भी यहाँ के प्राचीन ग्रन्थों में बड़ा उज्ज्वल देखा जाता है। यहाँ का राजा प्रजा की केवल इहलौकिक उन्नति का ही जिम्मेदार नहीं समझा जाता था, प्रत्युत उसके पारलौकिक कल्याण का उत्तरदायित्व भी उस पर था। प्रजा की आर्थिक, शारीरिक, कौटुम्बिक, सामाजिक और धार्मिक उन्नति करना राजा का प्रधान कर्त्तव्य समझा जाता था। जो राजा इन उच्च कर्त्तव्यों का उचित रीति से पालन न करता था वह नरक का अधिकारी समझा जाता था। राजा का कर्त्तव्य था कि वह अपने आपको प्रजा का सेवक समझे। अपनी प्रजा से वह

रक्षा के बतौर जो कुछ कर लेता है उसका सदुपयोग करे अपने राज्य में चारों ओर घूम घूम कर प्रजा की स्थिति को देखे। और इस बात की जांच करे कि उसकी प्रजा कहाँ तक सुखी या दुःखी है, और इसके अतिरिक्त बड़े बड़े और महत्वपूर्ण कामों में वह प्रजा की सलाह अवश्य लिया करे।

राजा के स्वरूप का वर्णन करते हुए प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है कि राजा को ज्ञान, कर्म और उपासना का ज्ञाता होना चाहिए।। इसके अतिरिक्त दण्ड-नीति, न्याय और आत्म विद्या का विद्वान, जितेन्द्रिय तथा वार्तालाप में भी उसे चतुर होना चाहिए। उसे ऐसा निष्पक्ष तथा धार्मिक होना चाहिए कि प्रिय से प्रिय सम्बन्धी और मित्र के साथ भी वह उचित न्याय के अनुसार व्यवहार करे। सत्यवादी, विचारशील, महाबुद्धिमान्, धर्म, अर्थ, और काम के तत्वों को जानने वाला राजा यश लाभ करता है। जिस राजा के राज्य में चोर, परस्त्रीगामी, नीच, डाकू और राज्यविद्रोही लोगों का अभाव होता है वह राजा दोनों लोक में आनन्द का भागी होता है। शुक्र-नीति में लिखा है कि राजा सदा आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्ड इन चारों विद्याओं का अभ्यास करता रहे। आन्वीक्षिकी में तर्क-शास्त्र और वेदांत शास्त्र शामिल है। त्रयी में चारों वेद, मीमांसा, न्याय, धर्म-शास्त्र और पुराण शामिल हैं। वार्त्ता से सूद का व्यवहार कृषि, वाणिज्य और गौरक्षा का ज्ञान होता है। तथा दण्ड से दण्डनीति का परिचय होता है। मतलब यह कि व्यवहार सम्बन्धी सभी आवश्यक विद्याओं का ज्ञान राजा के लिए आवश्यक माना जाता था।

जो राजा इतने गुणों से युक्त होता था, वह ईश्वरीय अंश समझा जाता था, इसका कारण यह था कि दया वीरता और शक्ति को आर्य्य लोग ईश्वर का अंश समझते थे। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि यह सम्मान केवल उस सिद्धान्त को प्राप्त था जो व्यक्ति को राजा बना देता है न कि उस व्यक्ति को जो राजा रूप में राज्य के सिंहासन पर प्रतिष्ठित है। अयोग्य, मूर्ख, व्यभिचारी, और प्रजा के सुख दुःख से बेपरवाह राजा को ईश्वर का अंश नहीं समझा जाता था। शुक्र-नीति में लिखा है कि दुष्ट राजा देव नहीं प्रत्युत राक्षस है। जिस राजा में दिव्यगुण हों वही दैवी अंश समझा जाता था। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि देवताओं का अंश माने जाने पर भी उसका दर्जा ऋषियों और स्नातकों से कम समझा जाता था। इस बात के सैकड़ों प्रमाण यहां के नीति ग्रन्थों में मिलते हैं।

मतलब यह कि जो लोग यह समझते हैं कि प्राचीन भारत वर्ष की राज्य सभा बिलकुल अनियत्रित थी वे बहुत भ्रम में हैं। यहां की राज-सत्ता पर प्रजा की ओर से कई प्रकार के नियंत्रण लगे हुए थे। यही कारण है कि प्राचीन भारत के इतिहास में हमें कई उदाहरण ऐसे देखने को मिलते हैं, जिनमें प्रजा के अधिकारों की रक्षा के बहुत से भाव दृष्टिगोचर होते हैं। ग्रीस ही की तरह यहाँ के राजा लोग भी बिना जनता की सलाह के कोई महत्व पूर्ण कार्य्य न करते थे।

उपर्युक्त महत्वपूर्ण बातों पर विचार करने पर मालूम हो जाता है कि भारतवर्ष में एकतंत्री राज्य सत्ता का कितना सफलता पूर्ण विकास हुआ था। यदि यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि

इस सम्बन्ध में इस देश के मुकाबिले में संसार के किसी भी देश ने इतनी उन्नति नहीं की। सच बात तो यह है कि आज का प्रजातंत्र भी उस समय के राजतंत्र के बराबर समष्टिगत स्वाधीनता का प्रवर्त्तक नहीं था।

इसमें सन्देह नहीं कि कुछ समय के पश्चात् जब कि भारत सिद्धान्त पूजा को छोड़कर व्यक्ति पूजा के फेर में पड़ गया, और बुद्धि पर ताला डालकर अन्ध श्रद्धा के कीचड़ में फंस गया तबसे यहाँ की राज्य-नीति भी भ्रष्ट हो गई, और "राजा करे सो न्याव और पासा पड़े सो दाव" वाली कहावत चरितार्थ होने लगी।

यूरोपीय और भारतीय राज्य-कल्पनाओं की उत्क्रांति का यह संक्षिप्त इतिहास है। इनसे मालूम हो जायगा कि इन देशों में राजा और प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना का किस प्रकार विकाश होता गया। अब हम देखना चाहते हैं राजतन्त्र प्रजातन्त्र, प्रतिनिधितन्त्र आदि पद्धतियों का समाज-रचना पर क्या असर पड़ता है और समाज की जीवन-रक्षा के लिए कौन सी पद्धति सर्वोत्तम है ?

वैसे तो आजकल राज्य-पद्धति के कई भिन्न-भिन्न रूपों का उदय हो गया है, पर तात्त्विक दृष्टि से देखने पर उन सब रूपों का अन्तर्भाव अरस्तू के बतलाये हुए राज्त-पद्धति के तीन रूपों से हो जाता है। (१) राजतन्त्र (Monorchy), (२) प्रतिनिधि तन्त्र (Aristocracy) और (३)प्रजातन्त्र (Democracy) यहाँ यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि इन तीन पद्धतियों में से पहली दो पद्धतियों का आधार सत्ता की विषमता है और

तीसरी का आधार समता है। अस्तु, अब हम इन तीनों पद्धतियों पर अलग अलग विचार करते हैं।

राज-तन्त्र

राजतन्त्र शासन प्रणाली उसे कहते हैं जिसमें सत्ता एक व्यक्ति में केन्द्रीभूत होती है। अर्थात्, जहाँ एक ही राजा का राज्य हो, जहाँ राजा के हाथ में राज्य की तमाम शक्तियां और अधिकार हों, जहां एक ही व्यक्ति सर्व साधारण के हित के लिए राज्य करता हो तथा दूसरे तमाम कार्यकर्त्ता उसके अधीन हों।

राजतन्त्र दो प्रकार का होता है। अनियन्त्रित राजतन्त्र और वैध राजतन्त्र। अनियन्त्रित राजतन्त्र उसे कहते हैं जहां राजा के अधिकार ईश्वरीय अधिकार के समान अनियन्त्रित हों। जहां उसकी इच्छा ही क़ानून समझी जाती हो। प्रजा के भावों का आदर करना या न करना जहां उसकी इच्छा पर अवलम्बित हो। रूस के जार इस राजतन्त्र के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण थे।

वैध राजतन्त्र उसे कहते हैं, जहां पर राजा की शक्तियां किसी विशिष्ट नियम से अथवा प्रजा-मत से मर्यादित हों, जहां वे मन-माना स्वेच्छाचार न कर सकते हों। इग्लैंड के राजा इसी पद्धति के नमूने हैं। तख्त पर बैठकर भी वे अपनी मनमानी नहीं कर सकते। पार्लियामेण्ट से उनकी शक्तियां नियमित रहती हैं।

यह दोनों ही प्रकार के राजा दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो पुश्तैनी ढंग से चुने जाते हैं। इस पद्धति में गुण-धर्म का विचार नहीं किया जाता। बाप राजा हुआ तो उसका बेटा भी

राजा होगा फिर चाहे वह अयोग्य और अत्याचारी ही क्यों न हो। दूसरे वे जो गुण और कर्म की योग्यता से प्रजा के द्वारा चुने जाते हों। इस समय संसार के राजतन्त्रों में पहली पद्धति ही अधिक प्रचलित है, दूसरी पद्धति इस समय प्रायः नष्ट-सी हो गई है।

यह राजतन्त्र की साधारण परिभाषा है। अब हमें देखना यह है कि साधारणतया इस पद्धति के गुण-दोष क्या क्या हैं और उनका समाज की मनोरचना पर क्या प्रभाव पड़ता है।

राजतन्त्र पद्धति के समर्थक प्रधानतया उसके दो गुण बतलाते हैं। एक तो यह कि इस पद्धति में समाज की सारी शक्ति एक स्थान पर केन्द्रीभूत रहती है, जिससे भिन्न भिन्न मनुष्यों की भिन्नभिन्न मतियों के अनुसार राज्य-शासन में जो मत-भेद उत्पन्न हो जाता है और जिसकी वजह से पद-पद पर उस शासन के टूट जाने का जो डर बना रहता है, वह इसमें नहीं होता। उदाहरणार्थ जब तक जर्मनी का राजसूत्र कैसर के हाथ में रहा, तब तक वहां जिस एकता और पूर्णता से राजशासन चलता था, वैसा संगठन प्रजातन्त्र का युग होने पर भी आज वहां पर नहीं है।

दूसरा गुण इस पद्धति में यह बतलाया जाता है कि जिन देशों की प्रजा का यथेष्ट राजनैतिक विकास नहीं हुआ है, जहां के लोग शासनकार्य्य में बिलकुल अयोग्य हैं जहां के लोगों की राजनैतिक भावनाएँ बिलकुल अपूर्ण और सुषुप्त हैं, उन देशों में राजतंत्र शासन ही सफल हो सकता है।

यहां पर यह बात न भूलना चाहिए कि उपर्युक्त गुण स्वेच्छा-चारी राजतन्त्र का जरा भी समर्थन नहीं करते हैं। ये बातें तो

आदर्श और लोकप्रिय शासन के पक्ष में ही कही जा सकती हैं। जहां लोग अशिक्षित हों वहां मूर्ख अयोग्य तथा अत्याचारी राजा तो प्रजा के लिए एक महान संकट ही होगा।

अब हमें यह देखना है कि राजतंत्र-पद्धति का जनता के मनोभावों पर नैतिक परिणाम क्या होता है ?

यदि मान लिया जाय कि राजा व्यक्तिगत रूप से बहुत अच्छा और आदर्श है, उसके राज्य में प्रजा सुखी और सन्तुष्ट है, प्रजाजनों को उसने सम्पूर्ण धार्मिक और आर्थिक स्वाधीनता भी दे रक्खी है, फिर भी एक राजा—मनुष्य—के हाथ में हज़ारों लाखों मनुष्यों के भाग्य की बागडोर का होना कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि राजतन्त्री राज्य में प्रजा का राज्य-कार्य्यों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वह अपने को राज्य-तंत्र से अलग समझती है। सम्भव है, व्यक्तिगत रूप से वह राजा पर अपने प्राण न्यौछावर करने को तैय्यार हो जाय। पर इतने बड़े विशाल मानव समुदाय की बहुविध आकांक्षाओं की पूर्ति और विकास करना उसके लिए यथार्थ में असम्भव है। एक आदमी से ऐसी सर्व देशीय बुद्धि की आशा करना व्यर्थ है। वह चाहे स्वयं कितना ही उदार हो, पर उतने ही उदार अधिकारी मिलना उसके लिए असम्भव है। ऐसी स्थिति में प्रजा की जैसी चाहिए वैसी नैतिक उन्नति नहीं हो सकती। शासन की प्रत्यक्ष जिम्मेदारी अपने सिरपर पड़ने से प्रजा की आत्मा का जो विकास होता है तथा उसमें जो शासन-क्षमता बढ़ती है वह राज्यतंत्र में नहीं बढ़ सकती। इसका सर्वोत्तम उदाहरण हमें अशोक और चन्द्रगुप्त के शासन में देखने को मिलता है। केवल भारत के ही इतिहास में

नहीं, समस्त संसार के राजतन्त्र के इतिहास में इनके समान राजा मिलना दुर्लभ है। राजतंत्र के कट्टर विरोधियों ने भी इन दोनों राजाओं के शासन की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। वास्तव में देखा जाय तो इन दोनों राज्यों में प्रजा का जितना नैतिक और मानसिक विकास हुआ था, उतना शायद किसी भी राज्यतंत्र में सम्भव नहीं है। फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करने पर हमें उसमें उन आन्तरिक त्रुटियों के दर्शन हो ही जाते हैं, जो इस पद्धति के लिए नितान्त स्वाभाविक और अनिवार्य हैं। अशोक के धर्म्म राज्य में भी जो लोग हिन्दू धर्म्म का पालन करने वाले थे उनका जीवन अत्यन्त संकटापन्न रहता था। क्योंकि अशोक के बौद्धधर्म्मावलम्बी होने के कारण बहुत से बौद्ध धर्म्म-गुरुओं के हाथों में अनियंत्रित सत्ता रहती थी। वे बड़े सङ्कीर्ण हृदय, अत्याचारी और व्यभिचारी होते थे। यद्यपि स्वयं सम्राट् तो धार्मिक उदारता का महान समर्थक था तथापि इन धर्म्म-गुरुओं को दबाने में वह असमर्थ ही रहता था। ऐसी स्थिति में कई लोगों को तो इन लोगों के दबाव से बौद्ध धर्म्म ग्रहण करना पड़ता था और जो न करते थे उन्हें भीतर ही भीतर कितने ही अत्याचारों का सामना करना पड़ता था। दूसरे, उस समय की दण्ड नीति को देखिए। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जिस भयङ्कर दण्ड-नीति का वर्णन किया गया है, वह किसी भी राज्य के लिए भूषण नहीं कही जा सकती। ऐसी दण्डनीति के अधीन रहने वाली प्रजा प्रत्यक्ष में चाहे धार्मिक और सदाचारी दृष्टिगोचर होती हो, पर वह नैतिक बोझ से दबी हुई होने के कारण पूर्ण विकासशील नहीं हो सकती।

फिर राजतंत्र के अन्तर्गत अशोक और चन्द्रगुप्त के समान

राजाओं की हमेशा कल्पना भी तो नहीं की जा सकती। न मालूम कितनी शताब्दियों में दुनिया के अन्दर अपना उदाहरण रख जाने के लिए एकाध राजा ऐसा हो जाया करता है। इन को लेकर राजतन्त्र-पद्धति का समर्थन करना भी भ्रमपूर्ण होगा। राजतन्त्र पद्धति के अधिकांश उदाहरणों में हमको "राजा करे सो न्याव और पासा पड़े सो दाव" यही नीति चरितार्थ होती हुई दिखलाई देती है। इन राजाओं के राज्य में प्रजा के जीवन का, प्रजा के स्वार्थों का और प्रजा की सम्पति का कुछ भी मूल्य नहीं समझा जाता। प्रजाकी सम्पत्ति को अपनी सम्पत्ति और प्रजा की बहू-बेटियों को अपने आराम की सामग्री समझने में ये लोग ज़रा भी नहीं हिचकिचाते। जिन पर इनकी नेक नजर पड़ जाती है उन पर खुदा खुश हो जाता है, उनके भाग्य की तुलना करने वाला कोई नहीं रहता। और जिन अभागों पर इनकी दुष्ट निगाह पड़ती है, उनका पटरा ही बिखर जाता है। मतलब यह कि इस पद्धति के अन्तर्गत सद्गुण, निस्तेज हो जाते हैं, बुद्धिमता राज्यवर्ग की खुशामद करने का एक उत्तम साधन बन जाती है और नीति सहज में फेंकने योग्य जीर्ण वस्त्र की तरह हो जाती है। इस पद्धति में राष्ट्र का ललाम-भूत मध्यम वर्ग निराशा के भार से दब जाता है। वह अपने परिश्रम को राजा की सेवा करने के लिए, अपनी सम्पत्ति को उसके आदर के लिए, और बुद्धिमता को खुशामद की सामग्री समझने लगता है। अतः ऐसी पद्धति के अधीन रहने वाली प्रजा का भीषण नैतिक पतन हो जाता है और समाज में प्रचण्ड रूप से विषमता का दौरदौरा हो जाता है।

प्रतिनिधि अथवा अभिजन सत्तात्मक राज्य-पद्धति

(Aristacracy)

यह पद्धति राजतंत्र और प्रजातंत्र के बीच की वस्तु है। इस शासन प्रणाली में समाज के गुण को महत्त्व दिया जाता है संख्या को नहीं। शासन का भार मनुष्यों का झुण्ड का झुण्ड अपने हाथ में रक्खे, इस सिद्धान्त को यह पद्धति नापसन्द करती है। इस पद्धति के पुरस्कर्ताओं का कथन है कि सारी की सारी जनता शासन-कार्य्य के योग्य नहीं हो सकती। समाज में कई समुदायों के लोग होते हैं। कवि, दार्शनिक, और राजनीतिज्ञ तो बहुत थोड़े लोग होते हैं समाज का अधिकांश हिस्सा तो किसान, कारीगर, मजूर और व्यापारी होता है। इन सब लोगों के अलग-अलग क्षेत्र होते हैं। फिर कवि और दर्शनिक भी शासन के काम में सदा सफल नहीं हो सकते। प्रत्येक आदमी वही काम अच्छी तरह कर सकता है जो उसकी प्रकृति—स्वभाव के अनुकूल होता है और उसी वायु-मण्डल में वह अपना विकास भी कर सकता है। निसर्ग मनोहर स्थानों में बैठकर भावामृत का आस्वाद करने वाला कवि भौंरे की तरह चंचल-प्रकृति होता है। भला वह कहीं शासनधुरा को उठा सकता है? इसी प्रकार रणस्थली में बिजली की तरह तलवार चमकाने वाले धीर वीर राजनीति की गन्दी, टेढ़ी मेढ़ी गलियों में चलने से घबड़ाते हैं। अतः शासन का भार सर्वथा उन्हीं थोड़ेसे लोगों के हाथों में रहना इष्ट है जो राजनीति कुशल होने पर सहृदय और न्यायी हों।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस पद्धति के पुरस्कर्ताओं का

कथन कई अंशों में ठीक है। कैण्ट, प्लेटो, और वर्णाश्रम धर्मके पुरस्कर्ताओं की विचार-पद्धति से भी इसी पद्धति का समर्थन होता है। पर आजकल इस पद्धति में अनेक दोष भी उत्पन्न हो गये हैं। चुनाव का जो तत्व गुण और कर्म्म पर अवलम्बित था अब जन्म और धन पर अवलम्बित हो गया है। जिसकी वजह से इस पद्धति में बहुत विकृति उत्पन्न हो गई। परिणाम यह हुआ कि इससे भी प्रजा की नैतिक और मानसिक स्थिति का पतन होना प्रारम्भ हो गया। अब इस स्थिति को देख कर यूरोप के विद्वानों में इस पद्धति के विरुद्ध कई विचार-प्रणालियां उत्पन्न हो रही हैं। इनमें से यूरोप के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता "क्रोम्फियर" की विचार-पद्धति बड़ी तात्विक और विचार पूर्ण है। उसने बड़े ही दृढ़ प्रमाणों के साथ इस पद्धति की आलोचना की है। अपने आत्मचरित में उसने एक स्थान पर लिखा है:—"सारे देश की इस स्वतन्त्र समाज-रचना में से जब मैं अभिजन सत्तात्मक पद्धति के मूलतत्त्वों पर रची हुई इंग्लैण्ड के समाज में—जहाँ कि व्यक्ति की योग्यता कुल और जन्म से ठहराई जाती है—आया तब मुझे मालूम हुआ कि समाज के कृत्रिम बन्धन व्यक्ति की उन्नति के मार्ग में किस प्रकार बाधक होते हैं।"

आगे चलकर अपने ग्रन्थ के राजकीय प्रकरण में अभिजन सत्तात्मक पद्धति की आलोचना करते हुए उन्होंने निम्नलिखित तत्वों का विवेचन किया है।

१—क्रोम्फियर का कथन है कि किसी भी पद्धति का विचार उसके तात्कालिक परिणामों पर से करना बड़ी अदूरदर्शिता है। असल में उस पद्धति से जनता के मनोभावों पर जो मानसिक

और नैतिक संस्कार दृढ़ता पूर्वक जमते हैं, और जो उस पद्धति के नष्ट हो जाने पर भी मनुष्य स्वभाव में न्यूनाधिक रूप में बने रहते हैं उनको मद्दे नजर रख कर ही उसकी मीमांसा करना उचित है। इस दृष्टि से जब हम अभिजन सत्तात्मक पद्धति की आलोचना करते हैं तो हमें मालूम होता है कि इस पद्धति से जनता के मनोभावों पर विषमता के संस्कार बहुत दृढ़ता के साथ जम जाते हैं। इस बात की पुष्टि में इस विद्वान ने इंग्लैंड की पार्लियामेण्ट का उदाहरण दिया है। वह कहता है कि इंग्लैण्ड की राज्यव्यवस्था के मुख्य तीन अङ्ग हैं। पहला हाउस ऑफ़ कामन्स अर्थात् लोक प्रतिनिधियों की सभा है। इसमें करीब छः सौ सभासद बैठते हैं। सब प्रकार की अधिकार-सत्ता और अनुशासन सत्ता इस विभाग के हाथ में है। दूसरा विभाग हाउस ऑफ लॉर्डस् है। इस सभा में दो प्रकार के लार्ड रहते हैं। एक तो वंश परम्परागत पदवी से बने हुए, और दूसरे अपने व्यक्तिगत पराक्रम और बुद्धिबल से इस सन्मान को प्राप्त करने वाले। इस सभा का महत्व हाउस ऑफ कामन्स की अपेक्षा बहुत कम है। धन की व्यवस्था करने का इसे बिलकुल अधिकार नहीं है। राजनीति तथा कानून के विद्वान भी इस सभा को मज़दूर सभा की अपेक्षा हीन बल समझते हैं। और मज़दूर लोगों के मन में भी इसी भाव को उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं। इतने पर भी इन लोगों के मन में सरदार लोगों को श्रेष्ठ समझने की कल्पना ने जो घर कर लिया है उसका नष्ट होना बहुत कठिन है। किसी मजदूर या मध्यम श्रेणी के मनुष्य से अचानक यदि किसी सरदार की भेट हो जाती है तो उसका (मजदूर का) मस्तक

सहज ही विनीत भाव से नम्र हो जाता है हालांकि वह यह जानता है कि अधिकार की दृष्टि से उस सरदार का कोई महत्व नहीं है। वह यदि चाहे तो उसे न्यायालय में खींचकर बुलवा सकता है। इतना होने पर भी सरदारों की श्रेष्ठता के जो संस्कार लोगों के मन पर दीर्घकाल से जमे हुए हैं वे नष्ट नहीं होने पाते राष्ट्र के चरित्र और शील पर अभिजन-सत्ता का यह कितना भयङ्कर प्रभाव है ?

मनुष्य समाज की यह विषमता नैसर्गिक नहीं है प्रत्युत समाज की कृत्रिम स्थिति से उत्पन्न होने वाली स्थिति है। यह सत्य है कि जगत् में समता नहीं होती। बहुविधता जगत् की विशिष्टता है। पर उसकी इस नैसर्गिक विषमता के कारण मनुष्य की मानसिक रचना में भेद नहीं पड़ता ! जिस प्रकार न्यूनाधिक शक्ति वाले दो मनुष्यों के अवयव न्यूनाधिक नहीं होते उसी प्रकार बुद्धि सामर्थ्य के भेद से बुद्धीन्द्रियों में भी अन्तर नहीं होता। संसार में जिन लोगों को साधारण बातों अथवा गुणों में दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठत्व प्राप्त हो जाता है वे ही समाज में विषमता की विचार पद्धति के पुरस्कर्ता हुआ करते हैं। ये लोग इस सिद्धांत का प्रचार करते समय इस स्थूल बात को भी भूल जाते हैं कि मनुष्य-जाति में एक ऐसी तात्त्विक और मानसिक समानता है जिसे बुद्धि, शक्ति और अधिकार की न्यूनाधिकता नष्ट नहीं कर सकती। किसी भी गुण का उत्कर्ष मनुष्य मात्र को आश्चर्य चकित कर देता है और वह गुणी अपनी दुर्लभता के कारण आदर का पात्र होता है। पर इस पर से आदर पात्र मनुष्य को तत्त्वतः शेष मनुष्य-जाति से भिन्न समझना भूल है।

यदि इसी कारण से उसके कुल को सबसे श्रेष्ठ और उच्च माना जाय तो समाज-व्यवस्था के कल्पनारूपी शरीर में एक भयंकर रोग का प्रवेश हो जायगा।

क्रोम्फियर के मतानुसार अभिजन-सत्ता का दूसरा विषमय परिणाम जन समाज में रहने वाला समष्टिगत अज्ञान है। क्योंकि अभिजन-सत्ता की स्थिति ही जनता के अज्ञान पर निर्भर है। शासकवर्ग भली प्रकार जानता है कि जब तक जनता अशिक्षित है तभी तक हमारे शासन की स्थिति है। इससे वह जनता को अशिक्षित रखने का भरसक प्रयत्न करता है। इसी कुटिल नीति के फलस्वरूप अमेरिका में गुलामों को शिक्षा देना कानूनन बन्द कर दिया गया था। मतलब यह कि अभिजन सत्ता अपनी स्वार्थ दृष्टि के कारण जनता को स्वाधीनता की शिक्षा देने के हमेशा विरुद्ध रहती है।

अन्त में क्रोम्फियर लिखता है कि मनुष्य के गुणों का विकास समाज के कृत्रिम बन्धनों के अभाव में ही होता है। कृत्रिम पद्धति के द्वारा गमलों में लगाये हुए पौधों के फूल स्वच्छन्दता से फूले हुए जंगली फूलों की समानता नहीं कर सकते, उसी प्रकार मनुष्यत्व का सुंदर पुष्प भी स्वाधीनता की स्वच्छन्द वायु में विकसित होता है। जिस प्रकार वृक्ष की छाया में दूसरा वृक्ष आजादी से फल-फूल नहीं सकता उसी प्रकार समाज के कृत्रिम वातावरण में भी मनुष्य समाज फल-फूल नहीं सकता।

यह क्रोम्फियर की विचार पद्धति का सारांश है। अब हमें देखना यह है कि क्रोम्फियर की यह विचार पद्धति तात्विक कसौटी पर कहाँ तक खरी उतरती है?

क्रोम्फियर का यह कथन बिलकुल सत्य है कि मनुष्य जाति में एक ऐसी तात्विक समानता है जिसके आगे ये बाहरी ऊपरी भेद बहुत क्षुद्र प्रतीत होते हैं। इसी समानता की वजह से इन भेदों के रहते हुए भी मनुष्य समाज के अन्तर्गत साम्यभाव की कल्पना की जा सकती है। पर क्रोम्फियर के इस कथन से यदि यह मतलब निकलता हो कि इस समानता के तत्त्व को सम्मुख रख कर सभी मनुष्य एक लाइन में लगा दिये जायँ, सभी के जिम्मे एक ही कार्य्य कर दिया जाय तो उसकी सारी विचार पद्धति ही गलत हो जाती है। क्योंकि जिस प्रकार मनुष्य स्वभाव में एक प्रकार की तात्विक समता है उसी प्रकार उसमें एक तात्विक विषमता भी है। क्रोम्फियर क्या कोई भी तत्त्ववेत्ता इस बात का विरोध नहीं कर सकता कि भिन्न भिन्न मनुष्यों के स्वभाव में कुछ ऐसा भेद होता है जिससे वे भिन्न भिन्न कार्यक्षेत्र के उपयुक्त हो जाते हैं। मनुष्य जाति की इस तात्विक समानता को सम्मुख रख कर यदि कोई मनुष्य किसी किसान को धर्मगुरु के आसन पर बिठाने का प्रयत्न करेगा अथवा किसी योद्धा मनुष्य को न्यायासन पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करेगा तो उसे यश मिलना नितान्त दुःसाध्य होगा। जिन लोगों में मस्तिष्क शक्ति से काम करने का बल है वे समाज के बुद्धिवर्ग में ही सफलता प्राप्त कर सकते हैं। उन्हें यदि शारीरिक परिश्रम करने वाले मजदूर संघ में सम्मिलित कर दिया जायगा तो वे अपने कार्य्य में अवश्य असफल होंगे, इसी प्रकार शारीरिक परिश्रम से जीवन-यापन करने वाला मजदूर भी बुद्धिवर्ग के अन्दर प्रविष्ट होकर यश नहीं पा सकता। मतलब यह कि समाज के अन्तर्गत भिन्न

भिन्न कार्य्यक्षेत्र वाले मनुष्यों के कई विभाग होते हैं। समाज की सुव्यवस्था की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि सभी प्रकार के कार्य्य करने वाले मनुष्यों को समाज के अन्दर समान प्रतिष्ठा का आसन दिया जाय, उनको समान अधिकार और समान सत्कार हो। पर इसका यह मतलब नहीं है कि शिक्षित और अशिक्षित, किसान और तत्त्ववेत्ता, कवि और दार्शनिक, स्त्री और पुरुष सभी को समाज अपने शासन विभाग के गाड़े में एक साथ जोत दे। इससे तो शासन में बड़ी अव्यवस्था हो जायगी सभी अपनी अपनी तरफ समाज को घसीटने की कोशिश करेंगे और उसकी बड़ी दुर्गति हो जायगी।

पर क्रोम्भियर का कथन है कि "जिस प्रकार टेनिस का खेल खेलते समय राजा; मॅजिस्ट्रेट, मजदूर, स्त्री और पुरुष एक ही विषय की ओर आकर्षित होते हैं, अपने अपने विशिष्ट गुण को भूल कर सभी उस टेनिस में एकाकार हो जाते हैं उसी प्रकार राज्य शासन का विचार करते समय भी सब लोग अपने अपने विशिष्ट गुण को भूलकर उसमें एकाकार हो जायंगे। पर इस दलील में भी इस प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता ने एक गम्भीर भूल की है। यह निश्चित है कि टेनिस खेलते समय सभी का ध्यान टेनिस में एकाकार हो जाता है, पर उस स्थान पर प्रधानता उसी व्यक्ति की रहेगी जो टेनिस खेलने में अपनी विशिष्टता रखता होगा। उस समय न्यायासन पर बैठ कर न्याय करने वाले मॅजिस्ट्रेट और बड़े भारी राज्य के सूत्रधार राजा भी उसके मुख की ओर देखते रहेंगे, उस क्षेत्र में राजा का भी आसन उससे तो नीचा ही रहेगा। खेल में उसके कौशल के आगे उन्हें दबना ही पड़ेगा।

फिर चाहे दूसरे क्षेत्र में उस खिलाड़ी का महत्त्व कितना ही कम क्यों न हो। इसके विपरीत यदि वे उस क्षेत्र में भी बराबरी का हठ करके उसका अनुचित विद्रोह करने का प्रयत्न करेंगे तो निश्चित है कि वह खेल बिगड़ जायगा, इसी प्रकार राजनैतिक विशिष्टता सम्पन्न मनुष्य ही रहेंगे तब तो उसकी स्थिति सरल रहेगी, पर उसमें यदि शिक्षित और अशिक्षित किसान और कृषि सभी हस्तक्षेप करने लगें तो उसकी भयंकर दुर्दशा होगी। शेष लोगों को तो उनके अधीन होकर ही रहना चाहिए।

आगे चलकर यह सिद्धांत कहता है कि जिस प्रकार जंगल के अन्दर स्वच्छन्दता से फूले हुए पौधों की समानता गमले में लगाये हुए पौधे नहीं कर सकते, उसी प्रकार समाज के स्वच्छन्द वायुमंडल में मनुष्यत्व का जितना विकास हो सकता है, उतना समाज के कृत्रिम वातावरण में नहीं हो सकता।" पर यहाँ क्रोफियर इस बात को भूलता है कि समाज स्वयं ही एक कृत्रिम पदार्थ है और राज्य उससे भी अधिक कृत्रिम। मनुष्य-प्राणी ने अपने सुभीते के लिए अपने बुद्धिबल से ही इसको बनाया है। समाज प्राकृतिक बीहड़बन नहीं है प्रत्युत अनेक प्रयत्नों से लगाया हुआ सुंदर बगीचा है। बीहड़बन में जिस प्रकार बलवान पौधे कमज़ोर पौधों को हज़म कर जाते हैं, जिस प्रकार बड़े वृक्ष लंबी चौड़ी जगह को अव्यवस्थित रूप से घेर कर उस ज़मीन में पैदा होने वाले छोटे पौधों के फलने और फूलने के हक को नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार की स्वाधीनता यदि समाज में उत्पन्न हो जाय तो समाज रचना का यह बना बनाया किला तीन दिन के अंदर मिट्टी में मिल सकता है। इस सुंदर बगीचे में तो पद-पद पर इस

बात का ध्यान रखना होगा कि अनुकूल भूमि में अनुकूल ही पौधे लगाये जायँ। जिस जमीन में नारङ्गी ही फूल-फल सकती है, उसमें स्वाधीनता की दुहाई देकर केले के बीज नहीं फेंक दिये जायँगे। इसके पश्चात् प्रत्येक पौधे को फूलने-फलने के लिए जितने क्षेत्र की आवश्यकता होगी उतना ही क्षेत्र उसे दिया जायगा, पर इसके साथ ही इस बात का पूरा पूरा ध्यान रक्खा जायगा कि दूसरे पौधे की जीवन-रक्षा में उससे बाधा न पड़े। जिस पौधे को जिस खाद्य की आवश्यकता होगी उसको वही खाद्य दिया जायगा। यदि समानता की दुहाई देकर हम सभी पौधों को एक ही खाद्य देंगे तो बगीचे की सारी व्यवस्था बिगड़ जायगी। इतना करने के पश्चात् ही हमारी समाज रचना का बगीचा सुँदर रूप में फले-फूलेगा। व्यक्तिगत स्वाधीनता और साम्य तत्त्व बहुत उत्तम वस्तु है पर इसकी सीमा वहीं तक होनी चाहिए कि जहाँ तक इनसे समाज-रचना में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। रचना की पूरी पूरी रक्षा करते हुए जो समाज जितनी अधिक व्यक्तिगत स्वाधीनता दे सकता है वह उतना ही उत्तम कहलाता है। पर जो समाज व्यक्तिगत स्वाधीनता की धुन में अपनी रचना और संगठन का भी खयाल नही रखता वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

हाँ, यदि समाज के सभी व्यक्ति एक से शिक्षित हो जाँय, सभी के दिमाग़ राजनीति से परिपूर्ण हो जांय तो उस हालत में क्रोभियर साहब की स्कीम सफ़ल हो सकती है। पर उस हालत में शायद हमारे खयाल से राज्य की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। लेकिन अभीतक तो जगत् का अनुभव और मनुष्य प्रकृति का इतिहास इस बात से विरुद्ध है। सच बात तो यह है कि मनुष्य

प्रकृति ही विषमता की नींव पर स्थित है। विशिष्टता ही मनुष्य स्वभाव का प्रधान गुण है। यह गुण जब तक नष्ट नहीं हो जाता तब तक सभी मनुष्य एक ही लाइन पर नहीं लगाये जा सकते।

ऐसी स्थिति में वर्णाश्रम धर्म के पुरस्कर्ताओं की तथा प्लेटो और कैण्ट की स्कीम ही हमें अधिक स्वाभाविक और उत्तम मालूम होती है। राज्यशासन तभी सफल हो सकता है जब राजनीति में विशेष योग्यता रखने वाले स्वार्थत्यगी जन समुदाय के हाथों में उसकी बागडोर होगी। पर इसका यह मतलब नहीं है कि इस प्रकार राज्य-शासन करने वाले लोग अपने आप को साधारण जन समुदाय से ऊँचा समझें, अथवा समाज में उनके लिए विशिष्ट आसन रक्खा जाय। राज्य शासन के संबंध में वे जो नियम बनावें उन नियमों का सब लोग आदर करें पर इन नियमों से उनके व्यक्तित्व को सम्बद्ध मान कर उनके व्यक्तित्व की पूजा करने लग जाना बड़ी भारी भूल है, यहीं से सब अनर्थों की जड़ प्रारम्भ होती है।

दूसरी जो भयङ्कर भूल इस पद्धति में होती है वह यह है कि इसमें वंश परम्परागत पद्धति से चुनाव होने लग जाता है। इसी भूल के परिणाम-स्वरूप क्रोम्पियर की बतलाई हुई उच्च नीच की तथा सरदार और मजदूर की नैतिक दृष्टि से पतित भावनाएं उत्पन्न हो जाती हैं। इसी पद्धति से वर्णाश्रम-धर्म के समान सुन्दर व्यवस्था भी नष्ट हो जाती है। सच तो यह है कि इस पद्धति में वंश परम्परागत चुनाव की प्रथा का मूलोच्छेद ही हो जाना चाहिए। केवल योग्यता और प्रजामत ही इसकी कसौटी रहे। जो राजनैतिक क्षेत्र में अपनी विशेषता रखते हों; जिनको जनता

हृदय से चाहती हो, तथा जो समाज के विश्वास पात्र हों वही लोग प्रतिनिधि रूप से चुने जाने चाहिए। इसके विपरीत किसी को सरकार का लड़का मान कर, या किसी को बी. ए. एम. ए. पास समझ कर एकदम प्रतिनिधि के पद पर प्रतिष्ठित कर देना बड़ी भूल है। क्योंकि राज्यशासन की योग्यता ऊँचे खानदान में जन्म लेने से या ऊँची परिक्षाएं पास करने से नहीं हो सकती। यह योग्यता अनुभव से ही प्राप्त होती है। सच बात तो यह है कि यह कुलीनता की प्रथा ही समाज के लिए अनिष्ट की जड़ है।

इतनी व्यवस्था के पश्चात् प्रतिनिधि सत्तात्मक शासन का जो स्वरूप होगा वह समाज के लिए बड़ा सुन्दर होगा। ऐसे शासन में दैवी सम्पद् युक्त मनुष्य ही सम्मिलित हो सकेंगे। यह कल्पना ही गलत है कि ऐसे व्यक्तियों के होते हुए समाज में अज्ञान इस तरह फैला रहेगा। इसके विपरीत मनुष्य के गुण धर्म का बिलकुल विचार न करके, उसकी विशिष्टता का बिलकुल खयाल न करके, उसको एक लाइन से राज्य-शासन के काम में धकेल देना बड़ा ही अदूरदर्शिता पूर्ण होगा। इससे समाज में "सब धान बाईस पसेरी" वाली कहावत चरितार्थ हो जायगी।

इसीलिए प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता जॉन स्टुअर्ट मिल ने लिखा है कि "जो सरकारें अपनी तुली हुई मानसिक योग्यता और शक्ति (Vigour) के लिए प्रसिद्ध हुई है उनमें अधिकतर अल्पजन सत्तात्मक सरकार ही हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि इस प्रणाली में वे ही लोग होना चाहिए जिन्होंने सार्वजनिक कार्य्य और सार्वजनिक जीवन को ही अपना लक्ष्य बना रक्खा हो।

प्रजा सत्ता

प्रजा सत्तात्मक शासन राज्य के उस संगठन को कहते हैं जिसमें तमाम जनता या उसका अधिकांश हिस्सा शासन-कार्य्य में भाग लेता हो।

कई लोग इस शासन की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इस शासन की नींव जन-सत्ता पर कितनी ही गहरी क्यों न पड़ी हो पर राज्य कार्य्य करने का प्रत्यक्ष भार तो नियमित संख्या के लोगों पर ही डालना पड़ता है। जॉन स्टुअर्ट मिल का कहना है- "जिस शासन में सर्व साधारण जनता अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा शासन करती है उसे प्रजा सत्तात्मक राज्य कहते हैं।"

यदि उपर्युक्त लेखकों का कथन सत्य हो तब तो ऊपर लिखे हुए प्रतिनिधि तंत्र में और इस प्रजातंत्र में तत्वतः कुछ भी भेद नहीं रहता। उसमें भी जनता के द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि शासन करते हैं इसमें भी जनता के प्रतिनिधि शासन करते हैं। ऐसी स्थिति में प्रतिनिधि तन्त्र की और इसकी मीमांसा में कोई अन्तर न रहेगा। पर य द इस शासन का मतलब यह हो कि जनता का एक एक व्यक्ति इसमें भाग ले तो उस स्थिति में इसकी स्वतन्त्र मीमांसा आवश्यक होगी। इस प्रकार की परिभाषा युक्त शासन तभी सफल हो सकता है जब समाज के सभी लोग गर्भाधान संस्कारों से लेकर आयु भर तक एक ही प्रकार के संस्कारों में फूलें-फलें, जब सभी लोगों के मनोविकार एक ही प्रकार के हों। पर हम ऊपर लिख आये हैं कि जगत् का अनुभव हमें इससे बिलकुल विपरीत स्थिति बतलाता है। ऐसी स्थिति में इस शासन में कई दोषों की उत्पत्ति हो जाना सम्भव है।

१—इस प्रकार का प्रजातन्त्र गुण पर निर्भर नहीं रहता प्रत्युत संख्या पर निर्भर हो जाता है। ऐसा शासन गुणशाली मनुष्यों का शासन नहीं रहता प्रत्युत सारे जन समुदाय के हाथ में ही उसकी बागडोर चली जाती है। इस प्रकार के शासन में शासन सम्बन्धी किसी महत्त्वपूर्ण कार्य्य पर विचार करना भी कठिन हो जाता है। जस्टिस जेम्स का कहना है कि "सुशासन के लिए विशेष ज्ञान की, विविध प्रकार की मानसिक शक्ति के विकास की, और शासन तथा संयम पूर्ण निर्णय शक्ति की आवश्यकता है। अयोग्यता और अज्ञान को जितना घरेलू काम-काज में टालने की जरूरत है उतना ही—उससे भी अधिक उसे राज-शासन से भी टालना आवश्यक है। इन दुर्गुणों का जितना बुरा परिणाम घरेलू कार्य्यों में होता है उससे कई गुण अधिक भयङ्कर परिणाम राजकार्य्यों में होता है।"

२—पूर्ण प्रजातन्त्र के हामी साम्यतत्त्व की कितनी ही दुहाई क्यों न दे, फिर भी मनुष्य अपने व्यक्तिगत गुण और कार्य्य की प्रतिमा से समाज में जो विशिष्ट आसन प्राप्त कर लेता है, उसे जड़-मूल से मिटा देना इन लोगों की शक्ति के बाहर है। क्या बोल्शेविजम राज्य की सभी प्रजा को उतने अधिकार प्राप्त हैं जितने महामति लेनिन, या ट्रोटस्की को प्राप्त थे। क्या वहां पर समाज में एक किसान को भी उतनी ही प्रतिष्ठा मिलती है जितनी इन महान् नेताओं को मिलती थी। यह बात एक प्रकार से असम्भव है। साम्यवाद का अन्तिम सिद्धान्त भी मनुष्य की व्यक्तिगत प्रतिभा की उपेक्षा नहीं कर सकता। जिन लोगों में व्यक्तिगति रूप से शासन करने की प्रतिभा होगी। उन्हीं लोगों

के हाथ में यदि शासन की बागडोर रहेगी तब तो राज्य की स्थिति समता पर रहेगी, पर यदि योग्य और अयोग्य सभी लोग इस कार्य्य में घुस जायंगे तो उसका नैतिक दुष्परिणाम यह होगा कि योग्य मनुष्य अयोग्यों को अपने हाथ में करके उन्हें कठपुतली की तरह नचावेंगे और धीरे धीरे उन्हें काठ के उल्लू बना कर अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगेंगे। परिणाम यह होगा कि इसी प्रजा-तन्त्र के पवित्र नाम में से अत्याचारी राजतन्त्र का उदय हो जायगा। इतिहास में ऐसी घटनाएं हुई थी। फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के समय जिस जनता ने प्रजातन्त्र की दुहाई दे देकर सोलहवें लुई का और उसके साथ साथ राज्य-तन्त्र का अन्त कर दिया था उसीने नैपोलियन के राज्य-तंत्र को आगे चलकर नत मस्तक होकर स्वीकार किया। इसी प्रकार रोमन प्रजातन्त्र के समय में भी कांसल, प्रीटर वगैरह अधिकारियों ने प्रजातंत्र की आड़ में जो अत्याचार किये वे इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं।

३—लोक-सत्ता की एक और त्रुटि का तोकेव्हिल नामक लेखक ने अमेरिका के संयुक्त राज्य की लोकस्थिति का प्रत्यक्ष अध्यन करके-निवेचन किया है। उसका कथन है कि अभिजन सत्ता में तो अल्प-संख्यक लोगों का जुल्म होता है, पर इस लोक-सत्ता में तो बहु संख्यक लोगों का जुल्म होता है। बहुमत से जो बात अच्छी ठहरा दी जाती है उसी को बाध्य होकर सब लोगों को मानना पड़ता है। उस बात के विरुद्ध यदि किसी को विवेक बुद्धि कुछ कहना चाहती है तो वह कहना उसके लिए बहुत कठिन हो जाता है। संसार में पद पद पर यही अनुभव होता है एक अथवा कुछ लोगों की इच्छा के अनुसार चलना जितना कठिन

है बहुजन समाज की इच्छा पर चलना उससे भी अधिक कठिन है। अभिजन-सत्तात्मक पद्धति में अधिकारी वर्ग से किसी प्रकार का मतभेद हो जाने पर मनुष्य अपने विचारों वाले दूसरे साधारण मनुष्यों के समाज में मिल सकता है। मगर लोक-सत्तात्मक पद्धति से किसी प्रकार का मतभेद हो जाने पर उसे समाज में कहीं भी खड़े होने को स्थान नहीं मिल सकता। इस पद्धति में प्रत्येक मनुष्य को पारस्परिक, शिष्टाचार, ईश्वरोपासना, खाना, पीना, उठना, बैठना आदि प्रत्येक कार्य्य सब लोगों की मरजी के अनुसार ही करना पड़ता है। मतलब यह है कि इस शासन में व्यक्तिगत मतों का गला बहुत दबाया जाता है। इस प्रकार की पद्धति नीति की दृष्टि से अनुमोदनीय नहीं हो सकती।

इसी प्रकार के और भी कई आक्षेप इस पद्धति पर किये जा सकते हैं। उन सब का विवेचन राजनीतिशास्त्र में ही सम्भव हो सकता है। इस पुस्तक में उन सब का विवेचन असम्भव है। फिर भी उपर्युक्त विवेचन से हम जिस नतीजे पर पहुँचना चाहते हैं। पहुँच सकते हैं। इस विचार-पद्धति के अनुसार वही शासन-पद्धति समाज के लिए उपयोगी हो सकती है जिसकी अधीनस्थ जनता शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और आध्यात्मिक दृष्टि से दिन प्रति दिन उन्नत होती जाय, जिसमें समाज-रचना का पूरा-पूरा खयाल रखते हुए व्यक्तिगत स्वाधीनता का अधिक से अधिक ध्यान रक्खा जाता हो, जिसके अन्तर्गत रहने वाले व्यक्ति तब तक पूर्ण स्वाधीन समझे जांय, जब तक उनकी स्वाधीनता से दूसरे व्यक्ति या समाज के दूसरे अङ्ग की स्वाधीनता में बाधा न न पड़े, जिसमें प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छानुसार धर्म्म-पालन

और अन्य आचार व्यवहार की पूरी-पूरी स्वाधीनता हो। मतलब यह कि राज्य का अन्तिम उद्देश्य समाज की सर्वांगीण उन्नति, और स्वाधीनता होना चाहिए। यह उद्देश्य उसी पद्धति में सफल हो सकता है जिसमें नीचे लिखी बातों पर पूरा पूरा ध्यान रक्खा जाता है।

१—जिस पद्धति में शासन की बागडोर ऐसे चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में हो जो प्रथम श्रेणी के राजनीतिज्ञ हों, साथ जिनके हृदय में प्रजा हित, स्वार्थत्याग और राष्ट्रीयता की भावनाएँ कूट-कूट कर भरीं हों।

२—जिस पद्धति में चुनाव की कसौटी वंश परम्परा, कुलीनता और धनवान होना न रक्खी जाती हो प्रत्युत वह मनुष्य के महत्व शाली गुणों के आधार पर ही निश्चित की जाती हो।

३—जिस पद्धति में जनता के विश्वास पात्र लोग जनता ही के द्वारा प्रतिनिधियों के रूप में चुने जाते हों।

यह प्रजा-सत्ता का सात्विक स्वरूप है, वैसे तो अपने सात्विक रूप में राज्यतन्त्र, प्रतिनिधितंत्र और प्रजातन्त्र सभी समाज के लिए हित कर हैं। फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से इन तीनों पद्धतियों में जनता के मनोभावों की अपेक्षा से यह पद्धति ही सर्वोत्कृष्ट सिद्ध होती है।

तीसरा अध्याय

व्यक्तिवाद, अराजकवाद और बोल्शोविज्म

दूसरे अध्याय में जिन विचार-पद्धतियों का उल्लेख किया गया है वे सब किसी न किसी अंश में राज्य की समर्थक हैं। पर आजकल संसार में कई विचार-पद्धतियाँ ऐसी भी उत्पन्न हुई हैं जो राज्य को एक अनावश्यक, नाशक और समाज के लिए घातक वस्तु सिद्ध करना चाहती हैं। इन विचार-पद्धतियों के पुरस्कर्ताओं का कहना है कि राज्य मानव-समाज की अविकसित अवस्था का परिणाम है। विकसित मानव-समाज में इसकी कोई आवश्यकता नहीं। इस विचार-पद्धति के भी देश काल पत्रानुसार कई भेद हो गये हैं। उनमें से मुख्य मुख्य ये हैं—व्यक्तिवाद, अराजकवाद (कम्यूनिज्म और बोल्शेविज्म) कहना न होगा कि ये सब विचार-पद्धतियाँ चिरकालीन अत्याचारी राज्यतन्त्र के विरुद्ध उठी हुई प्रति क्रियाएँ हैं। राज्यतन्त्र के भीषण अत्याचारों से उत्तेजित होकर इनके नेताओं ने समाज व्यवस्था का यह नवीन तरीका ढूँढ निकाला है। अतएव यह बिलकुल स्वाभाविक है कि इनमें उत्तेजना का कुछ अंश हो। जिस दिन परिस्थिति शान्त हो जायगी और उत्तेजना का यह अंश निकल जायगा उस दिन इन पद्धतियों में बहुत कुछ सुधार होगा। इस समय तो ये पद्धतियाँ आदर्शवाद की धारा में बहती हुई चली जा रही है। मनुष्य की कल्पना में और उसके व्याव-

हारिक जीवन में कितना अंतर है, इस ओर इसका ध्यान भी नहीं है। पर इसलिए इनका विरोध करने की कोई आवश्यकता नहींहै। जिस दिन यह प्रतिक्रिया शांत होगी उस दिन अपने आप इनका रूप शुद्ध और उज्ज्वल हो जायगा। अभी तो इससे भी जबर्दस्त प्रतिक्रिया की आवश्यकता है। सैकड़ों वर्षों से राज्य तंत्र और धर्म-तंत्र के भीषण अत्याचारों को सहते सहते मनुष्य जाति इतनी कमजोर, निर्माल्य और गुलाम हो गई है कि वह अपने मनुष्यत्व तक को भूल गई है। गुलामी के संस्कार उसके अंदर इतने ओत-प्रोत हो गये हैं—उच्च और नीच की तुच्छ कल्पना ने उसके हृदय में इतना घर कर लिया है कि स्वाधीनता और समता की कल्पना भी उसे अब असम्भव दिखलाई देने लगी है। मानव समाज ने यह जो भीषण विकृति धारण की है उसका नाश करने के लिए इतनी ही प्रचण्ड प्रतिक्रिया की आवश्यकता है। इसके बिना मनुष्य जाति का अपनी असली स्थिति पर आना असम्भव है। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि ये केवल प्रतिक्रियाएँ हैं। इनसे समाज की स्थिरता की कल्पना करना भूल है। अस्तु अब हम इन विचार-पद्धतियों का थोड़े में दिग्दर्शन मात्र करवा देते हैं।

व्यक्तिवाद

व्यक्तिवाद के पुरस्कर्ताओं का मत है कि राज्य एक आवश्यक बुराई है। मनुष्य के हृदय में स्वाभाविक रूप से अहंकार स्वार्थ और अज्ञान की जो भावनाएँ रहतीं हैं उनको दबाने के लिए इसकी आवयश्कता है। अतः वह जड़ मूल से तो नष्ट नहीं की जा सकती। पर जहाँ तक सम्भव हो इसका क्षेत्र इतना

सङ्कीर्ण कर देना चाहिए जिससे शांति रक्षा, सुव्यवस्था और लोगों के जानो माल की रक्षा के सिवाय उसके अधिकार में और कोई बात न रहे।

जूलियस साईमन का कथन है कि:—"राज्य को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे वह अपने आप बेकाम हो जावे और अपनी मृत्यु के लिए आप ही तैयारी करें।" फ्रीमेन का कथन है कि—"राज्य की आदर्श पद्धति वह है जिसमें बिलकुल शासन न करना पड़े। सरकार के अस्तित्व का मूल कारण मनुष्य की अपूर्णता है। राज्य का अस्तित्व केवल इसलिए है कि संसार में अपराध का अस्तित्व है इसलिए उसका कार्य केवल अपराधों को रोक कर शान्ति और व्यवस्था रखना है।"

महान् तत्त्ववेत्ता हर्बर्ट स्पेन्सर भी व्यक्तिवाद के बड़े पृष्ठ पोषक हैं। उनका कथन है कि राज्य का अस्तित्व मनुष्य के परम्परागत अहंभाव और बदमिजाजी का परिणाम है। अतएव राज्य रक्षक की अपेक्षा भक्षक अधिक है। चाहे यह बात सत्य हो या न हो कि मनुष्य अधर्म के सांचे में ढाला गया है, पर यह बात बिलकुल सत्य हैं कि राज्य की उत्पत्ति आक्रमण से हुई है। राज्य की स्थापना मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों पर संयम करने के लिए और एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के अत्याचारों से बचाने के लिए हुई है। अतएव जब समाज अपनी पूर्ण नैतिक अवस्था पर पहुँच जायगा तब उसे राज्य-शासन की कोई आवश्यकता न रहेगी।"

व्यक्तिवाद का सिद्धान्त है कि राज्य को तब तक व्यक्ति की स्वाधीनता में हस्तक्षेप करने का कोई हक़ नहीं है जब तक उसकी स्वाधीन परिचर्या से दूसरों की स्वाधीनता में बाधा न

पड़ती हो। उसे इस प्रकार स्वाधीन छोड़ देना चाहिए कि वह अपने जीवन और अपने अस्तित्व के उद्देश्यों को भली प्रकार समझ सके। इस बात की आवश्यकता है कि व्यापार अथवा वाणिज्य में सरकार को कानून बनाने का कोई अधिकार न रहे। इसी प्रकार कारएटाइन, रजिस्ट्रेशन कानून, अनिवार्य्य शिक्षा, आदि कामों में भी सरकार को हस्तक्षेप करने का अधिकार न रहे।

यह व्यक्तिवाद का संक्षिप्त स्वरूप है कहना न होगा कि, इसके सिद्धान्त इसी श्रेणी की अन्य विचार पद्धतियों से बहुत विचारपूर्ण और परिमार्जित है। इसके मूल सिद्धान्त का—कि व्यक्तिगत स्वाधीनता राज्य को बाधा न देना चाहिए हमने आगे पूर्ण समर्थन किया है।

अराजक वाद

अराजक वाद के पुरस्कर्ता रूस के प्रसिद्ध नेता वाकुनिन और प्रिन्स क्रोपाट्किन हैं। इन लोगों का सिद्धान्त है कि समाज पर किसी प्रकार का भीतरी और बाहरी नियन्त्रण न होना चाहिए। एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर शासन करना घोर अन्याय है। समाज की वास्तविक उन्नति तभी हो सकती है जब अराजकता और सुव्यवस्था परस्पर एकत्रित हो जाय।

वाकुनिन का कथन है कि "संसार से सब धर्म उठा दिये जांय, और मानव-हृदयों में पारलौकिक और ईश्वरीय न्याय के स्थान पर मानव-न्याय की स्थापना हो। सब प्रकार की विवाह-प्रथा तोड़ दी जाय। राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से बनने वाली सब जातियां और सब वर्ग तोड़ दिये जांय। प्रत्येक

मनुष्य के चाहे वह स्त्री, हो, चाहे पुरुष, समान हक़ रक्खे जांय । उत्तराधिकार की प्रथा नष्ट कर दी जाय । भूमि, श्रम के साधन तथा सब प्रकार की पूँजी समाज के अधीन रक्खी जाय और स्वेच्छा प्रेरित मज़दूरों को उसका उपभोग करने दिया जाय । प्रत्येक श्रमजीवी को उसके परिश्रम का बदला दिया जाय । भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में श्रमजीवियों के अन्तर्राष्ट्रीय संघ स्थापित किये जायँ, और उनमें पारस्परिक प्रेम बढ़ा कर उद्योग-धंधे की व्यवस्था की जाय । इस प्रकार लोगों के हृदय में स्थित मिथ्या देशाभिमान और पर राष्ट्रों के प्रति द्वेष भाव दूर कर दिये जाँय । जिससे सारे संसार के श्रमजीवी मिल कर एक हो जाँय ।

अराजकवादियों का सिद्धांत है कि समाज में से व्यक्तिगत सम्पत्ति का अस्तित्व उठा दिया । सब संपत्ति पर समाज का अधिकार रहे। इस सम्पत्ति में से प्रत्येक व्यक्ति को जीवनोपयोगी सभी सामग्री बिना मूल्य दी जाय । विलास-सामग्री का सब लोगों में बराबर बटवारा कर दिया जाय । इस स्थान पर आकर इस पद्धति में दो मत खड़े हो जाते हैं । एक मत कहता है कि जो मनुष्य जितना और जैसा काम करे उतना और वैसा ही बटवारा उसे मिलना चाहिए । जो मनुष्य बिलकुल काम न करे उसे या तो काम पर लगाया जाय अथवा भूखों मरने दिया जाय। दूसरा मत कहता है कि बल-प्रयोग करके या भूखों मारकर काम करने के लिए मजबूर करना ठीक नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार जितना समय मिले उतने ही समय तक उसे स्वाधीनता पूर्वक काम करने दिया जाय। इस सिद्धांत पर आक्षेप

करता हुआ पूर्वपक्ष कहता है कि यदि कोई भी काम करने के लिए मजबूर न किया जायगा। विना परिश्रम के ही प्रत्येक मनुष्य जीवन-निर्वाह की सामग्रीं पाता रहेगा तो फिर परिश्रम के झंझट में पड़ेगा ही कौन ? और जब कोई परिश्रम ही न करेगा तो फिर आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन ही कैसे होगा ? दूसरे, सब को इच्छित परिमाण में यदि सब वस्तुएँ—चाहे उन्हें आवश्यक न भी हों—मिलती रहेंगी तो इतने अधिक परिमाण में सब वस्तुएँ उत्पन्न कैसे होंगी।

इन दोनों उपपत्तियों में से पहले का उत्तर देते हुए प्रिन्स क्रोपाट्किन कहते हैं कि "मनुष्य-प्रकृति परिश्रम से घृणा नहीं करती। निठल्ले बैठे प्रत्येक मनुष्य की तबियत घबराती है। बड़े बड़े श्रीमान् लोग भी,—जिनके यहां हजारों मनुष्य काम करते हैं—कुछ न कुछ काम करते ही रहते हैं। आजकल लोगों की प्रवृत्ति कार्य्य से जी चुराने की ओर दिखलाई देती है। इसका मुख्य कारण यह है कि उन्हें उनके कार्य्यों का फल नहीं मिलता, उनके कार्य्य के फल को, उनकी अत्यन्त परिश्रम से तैय्यार की हुई खेती को, पूँजी-पति-लोग अपनी पूँजी के बल से ऐन मौके पर उनको आँखों के सामने लूट लेते हैं। जिससे उनका उत्साह नष्ट हो जाता है उनकी कार्य्यकारिणी शक्ति मर जाती है और वे पूरे निराशावादी और अकर्मण्य हो जाते हैं, पर हम देखते हैं कि जब निजी स्वार्थों का प्रश्न आता है तब यही अकर्मण्य और आलसी लोग आनन्दित चित्त से जी जान लगाकर परिश्रम करने लगते हैं। हाँ, यह सत्य है कि सीमा के बाहर मनुष्य काम नहीं कर सकता, पर ऐसा करवाने की हमें आश्यकता भी तो नहीं है।

क्योंकि इस बात को सभी जानते हैं कि यदि मनुष्य चार घण्टे भी अच्छी तरह से काम करें और सब लोग मिल कर उसकी उत्पादकता पर विशेष ध्यान दें तो श्रम का अपव्यय बिलकुल बन्द हो जायगा। और इस चार घण्टे के परिश्रम से समाज के सब लोग मध्यम श्रेणी की तरह सुख पूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

दूसरी उपपत्ति का उत्तर देते हुए क्रोपाट्किन् कहते हैं कि:—प्रकृति ने मनुष्य की उपयोग-शक्ति को परिमित रक्खा है। इस परिमित शक्ति की वजह से कोई भी पदार्थ नियमित मात्रा से अधिक नहीं हो सकता। अतएव यदि वे मुफ्त में भी मिलेंगे तो भी मनुष्य उन्हें एक विशेष परिमाण से अधिक न लेगा। उदाहरणार्थ आजकल नलों के द्वारा लोगों को पानी यद्यपि मुफ्त में मिलता है फिर भी यह कहीं नहीं देखा जाता कि लोग उन्हें दिन रात खुले ही रखते हों। अपना कार्य्य होते ही लोग उन्हें बन्द कर देते हैं। यही सिद्धान्त अन्न और वस्त्र पर भी लग सकता है। इतने पर भी इसमें सन्देह नहीं कि मुफ्त में मिलने पर इनका व्यय कुछ अधिक अवश्य होगा। पर इससे भयभीत होने की कोई बात नहीं है। क्योंकि खराब से खराब जमीन भी थोड़े परिश्रम से उपजाऊ बनाई जा सकती है। और प्रत्येक खेत में एक ही वर्ष में पांच छः फ़सलें उत्पन्न की जा सकती हैं। इस प्रकार की उन्नति होने पर यह प्रश्न स्वयं ही हल हो जायगा। क्रोपाट्किन के मतानुसार विज्ञान के द्वारा इतना अन्न और घास उत्पन्न हो सकता है कि जिसे संसार के सब मनुष्य और पशु आज़ादी के साथ खावें तौ भी वह समाप्त न हो।

यह अराजक वादियों की विचार-पद्धति का सारांश है। इनके मतानुसार समाज से जब तक राज्यतंत्र, धर्मतन्त्र उठ नहीं जाते, समाज उन्नति के मार्ग पर आरूढ़ नहीं हो सकता।

कम्यूनिज्म और बोल्शेविज्म

यूरोप में "कार्लमार्क्स" नामक एक प्रसिद्ध तत्त्वज्ञ हुआ है। यह कम्यूनिज्म और बोल्शेविज्म विचार-पद्धति का आदि आचार्य्य माना जाता है। इसके विचारों का और इसके ग्रन्थों का वहां के जन-समाज में बड़ा आदर है। भिन्न भिन्न विचार-पद्धतियों के साम्यवादी इसके विचारों का भिन्न भिन्न अर्थ बतला कर अपने विचारों की पुष्टि करते हैं। जिस प्रकार भारतवर्ष में गीता के अनेक लोगों ने अनेक प्रकार से अर्थ किये हैं, उसी प्रकार यूरोपीय साम्यवादियों ने भी कार्लमार्क्स के ग्रन्थों के भिन्न भिन्न प्रकार के अनेक अर्थ लगाये हैं। इसके अनुयायी इसे गरीबों की रक्षार्थ पृथ्वी पर अवतार लेने वाली महा-विभूति कहते हैं। कार्लमार्क्स पूंजी-पतियों का कट्टर द्रोही, राज्यसत्ता का प्रचण्ड दुश्मन और मज़दूर दल का प्रबल पृष्ठ-पोषक है। वह कम्यूनिज्म विचार-पद्धति का जनक है।

बोल्शेविज्म का आचार्य्य "लेनिन" भी अपने को कार्लमार्क्स का अनुयायी बतलाता है। उसने कार्लमार्क्स के ही आधार पर अपनी विचार-पद्धति की योजना की है। इसकी विचार-पद्धति का सार हम नीचे देते हैं।:—

सरकार की उत्पत्ति का विवेचन करते हुए लेनिन कहता है कि जब समाज में दो भिन्न भिन्न पक्ष हो जाते हैं और उनमें

परस्पर हित-विरोध हो जाता है, तब उनके पारस्परिक कलह को मिटा कर उनमें समता उत्पन्न करने के लिए सरकार की उत्पत्ति होती है। यद्यपि सरकार प्रत्यक्ष रूप में इन दोनों दलों से भिन्न रहती है पर वास्तव में वह अपनी सत्ता बनाए रखना चाहती है। अतएव वह उसी दल का पक्ष ग्रहण करती है जो बलवान् होता है। और उन बलवानों की तथा अपनी रक्षा के लिए वह पुलिस, फौज, न्यायालय तथा कैदखानों का निर्माण करती है।

ऐसी अस्वाभाविक सरकार का नाश करना अत्यन्त आवश्यक है, जो बलवानों के अत्याचारों का बनाए रखने के लिए प्रकट हुई है। और इस नाश का एक मात्र उपाय शस्त्र-ग्रहण ही है।

सन् १९१९ में मास्कों में कम्यूनिज्म पक्ष की एक अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् हुई थी। उसमें लेनिन ने अपने सिद्धान्तों की मत-पत्रिका पेश की थी, उसमें उसके सारे सिद्धान्तों का सार आ गया है अतः हम उन सिद्धान्तों का अलग अलग विवेचन न कर इसी मत-पत्रिका का सारांश नीचे दे देते हैं:—

१—संसार में वर्ग-कलह बढ़ता जायगा। पूँजी पतियों की सत्ता और पूँजी दिन प्रति दिन बढ़ती ही चली जायगी। समाज की सब सम्पत्ति को पूँजीपति धीरे धीरे चूस लेंगे, जिससे श्रम-जीवियों की स्थिति और भी दिन दिन बिगड़ती जायगी, जिसके परिणाम पूँजी-पतियों और मजदूरों में भयङ्कर कलह के रूप में प्रकट होंगे।

२—श्रमजीवी लोग केवल सशस्त्र क्रान्ति का अवलम्बन करके ही इस आसन्न विपत्ति से छुटकारा पा सकते हैं। बिना शस्त्र धारण किये दुःख-मुक्त होना एक दम असम्भव है। श्रम

जीवियों के आत्मोद्धार के प्रयत्न का पूँजी पतियों ने घोर विरोध किया है। और कभी कभी तो उसे दबाने के लिए उन्होंने शक्ति से बाहर व्यय किया है। अतएव श्रमजीवियों को सशस्त्र क्रान्ति और शारीरिक बल के द्वारा ही अपना उद्धार करना होगा।

३—इस क्रान्ति में पूँजी वालों की सत्ता को नष्ट करके श्रम-जीवियों को अपनी निजी सरकार स्थापित करना पड़ेगी।

४—इस सरकार की पद्धति में उत्पादन के साधन, जमीन और कारखानों पर राष्ट्र का स्वामित्व होगा। समाज के किसी भी व्यक्ति को बिना परिश्रम खाने को न दिया जायगा। प्रत्येक को उसके श्रम के परिमाण में ही उपयोग-सामग्री प्राप्त होगी। हाँ, इस बात का पूरा ख्याल किया जायगा कि प्रत्येक मनुष्य को उसके श्रम का पूर्ण रूप से बदला मिले।

इस नवीन पद्धति में पूँजीपति और उनके सहायक वर्ग को बिलकुल मताधिकार न दिया जायगा। उनके भाषण, लेखन और आचरण-स्वातन्त्र्य पर नियन्त्रण लगाया जायगा। इस पद्धति के अनुसार स्वाभिमानी मजदूरों को ही अपनी सरकार के निर्वाचन का अधिकार रहेगा। प्रत्येक ग्राम की निर्वाचित स्वायत्त सभाएं सरकार की उपकरण मात्र रहेंगी। पूँजीपतियों के विरोध को नष्ट करने, बेकार लोगों के निर्वाह का इन्तिजाम करने और श्रमानुसार बटवारा करने के लिए यह सरकार स्वतंत्र रहेगी।

५—यह सरकार तभी तक रहेगी जब तक लोग नवीन समाज-रचना से अभ्यस्त न हो जांय। जब नवीन समाज के विरोधियों का अस्तित्व भङ्ग होकर प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी

इच्छा से श्रम करने को तैय्यार हो जायगा। और जब किसी की निजी जायदाद न रह जायगी तब अपने आप इस सरकार का अस्तित्व नष्ट हो जायगा। उस स्थिति में कार्लमार्क्स का वह प्रसिद्ध सिद्धान्त "From each according to his ability to each according to his needs"(प्रत्येक व्यक्ति से उसकी शक्ति अनुसार काम लिया जायगा और प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार पोषण मिलता रहेगा) पूर्ण रूप से चरितार्थ होगा।

यह बोल्शेविज्म विचार-पद्धति का संक्षिप्त स्वरूप है। कहना न होगा कि यह विचारप-द्धति इस समय क्रान्ति की धार में और प्रयोगावस्था में है। अतः इसे स्थिर स्वरूप समझ कर इसकी मीमांसा करना असङ्गत होगा।

चौथा अध्याय

न्याय और कानून

मनुष्य अपनी स्वार्थ-प्रवृत्ति के वश हो कर दूसरों के वाजिब स्वार्थों पर आक्रमण करता है। बलवान् अपने बल के द्वारा दुर्बल को कुचलता है, धनवान् धन के मद से अपने अधीनस्थ पर अपनी पाशविक लीला चरितार्थ करता है। पुरुष अपने पुरुषत्व से फूल कर स्त्री पर अपनी अनियंत्रित सत्ता स्थापित करता है। उच्च वर्ण में जन्म लेने वाला झूठे जातीय अभिमान की धार में वह कर नीच वर्ग वाले को दबाने का प्रयत्न करता है। समाज में दिन रात इस प्रकार की विषम घटनाओं का अभिनय होता रहता है। इन अशान्ति कारक घटनाओं को असम्भव करके समाज में शान्ति स्थापित करने की जिम्मेदारी राज्य पर रहती है। जिन तत्त्वों के बल पर राज्य इन घटनाओं का निर्णय कर उनकी व्यवस्था करता है, उन्हें बोलचाल की भाषा में "कानून" कहते हैं।

कानून का मूल आधार न्याय रहता है न्याय के तात्विक स्वरूप के विषय में यद्यपि कोई मतभेद नहीं है तथापि उसका व्यावहारिक स्वरूप हमेशा बदलता रहता है। राजनैतिक स्वार्थ ने उसे और भी मलिन कर दिया है। उसकी नजर में जो बात एक समय में न्याय्य होती है, वही दूसरे समय में महान् अन्याय समझी जाती है। युद्ध करके किसी राज्य को अथवा देश को

लूट लेना इस राजनैतिक न्याय की दृष्टि से बुरा नहीं समझा जाता। इसके लिए किसी प्रकार का दण्ड-विधान नहीं, उलटे ऐसे लोगों की प्रशंसा होती है। मगर डाका डाल कर लूटना न्याय की दृष्टि से महान् भयङ्कर अपराध समझा जाता है। इसके लिए भीषण से भीषण दण्ड की व्यवस्था है।

न्याय का उद्देश्य क्या है? "समाज के अन्तर्गत सब को जीने का समान अधिकार है। प्रत्येक मनुष्य पूर्ण स्वाधीनता के साथ रहकर जीवन-यापन कर सकता है। किसी को दूसरे की स्वाधीनता पर आक्रमण करने का कोई अधिकार नहीं है। जो मनुष्य अपने बल से, धन से, अधिकार से, छल से, कपट से, दूसरों की स्वाधीनता पर आक्रमण करता है, दूसरों के अधिकारों में हाथ डालता है, दूसरों को उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई काम करने के लिए मजबूर करता है वह अन्याय करता है, न्याय की दृष्टि से वह अपराधी है। प्रत्येक मनुष्य के स्वाभाविक अधिकारों की रक्षा ही न्याय का उद्देश्य है।" संसार के कितने राजप्रबन्धों की स्थापना न्याय की इस परिभाषा के अनुसार हुई है, और कितने इस पर अमल कर रहे हैं!

पर, हम देखते हैं कि मनुष्य प्रकृति की विषमता और समाज की भेद-भाव पूर्ण नीति राज्य के निष्पक्ष क्षेत्र में भी प्रविष्ट हो गई है। संसार की सभी राज्य-पद्धतियों में इस विषमता ने न्याय और क़ानून के बीच एक बहुत बड़ा विपर्यास, एक बहुत बड़ा भेद और एक बहुत बड़ा विरोध उत्पन्न कर दिया है। न्याय के जिन मूल तत्त्वों पर कानून की रचना हुई थी, जिस निष्पक्ष नीति पर कानून के विधान बनाये गये थे, वे तत्त्व और वह नीति उससे

बिलकुल जुदा हो गई, और उसके स्थान पर अप्रत्यक्ष रूप से "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत चरितार्थ होने लगी। इसी वजह से शायद न्याय और कानून शब्द भी अलग अलग हो गये।

न्याय और कानून के अन्तर्गत इस प्रकार तात्त्विक विरोध पड़ जाने से समाज पर बड़ा ही भीषण नैतिक दुष्परिणाम हो रहा है। इसके कुप्रभाव से मनुष्य की सामाजिक विषमताएँ दिन प्रतिदिन जटिल होती जा रही हैं, जिससे भेदभाव की प्रलयंकारी दीवाल नित्य प्रति मजबूत हो रही है। इसके प्रताप से वे वास्तविक अपराधी तो, जो समाज के अधिकांश अपराधों के मूल कारण हैं—गुलछर्रे उड़ाते हैं, और बेचारे गरीब और दुर्बल लोग कानून की चक्की में दिन रात पीसे जाते हैं।

पेट की अनन्त ज्वाला से पीड़ित मनुष्य—जिसे कहीं दो मुट्ठी अन्न भी भिक्षा में नहीं मिलता है—यदि किसी धन कुबेर के भरे हुए भंडार में से अपनी क्षुधा को शान्त करने के लिए दो मुट्ठी अन्न निकाल लेता है, तो मजिस्ट्रेट की दृष्टि और कानून का विधान उसे चोरी का अपराधी करार देता है। मगर अपने धन के बल पर, सूद पर सूद चढ़ाने वाला सूद खोर बनिया यदि उसके पेट पर छुरी फेरता है, उसके खाने भर के अन्न पर दृष्टिपात करता है, उसके अन्नदाता बचे हुए दो बैलों को भी छीन लेता है तो यह कानून की दृष्टि से अपराध नहीं है। कानून खुले आम उसे डिक्री देता है।

यदि कोई शूद्र कभी किसी ब्राह्मण की स्त्री की ओर ताकता है या उसकी इच्छा से उसके साथ सम्बन्ध करता है, तो महात्मा

मनु का कानून उसे हाथी के पैरों तले कुचलवाने का विधान देता है। मगर यदि कोई नीच ब्राह्मण किसी शूद्र स्त्री के साथ उसकी इच्छा से नहीं बलात्कार पूर्वक भी व्यभिचार करता है, तो उन्हीं भगवान मनु का कानून उसे कुछ जुर्माना करके ही छोड़ देता है।

एक अधिकारी अपने अधिकार के मद में मदोन्मत्त हो अपने अधीनस्थ को बुरी तरह से मारता है। वह विचारा अत्यंत पीड़ित हो उस पर नालिश करता है। उसके घाव उसके पक्ष की स्पष्ट गवाही देते हैं। मजिस्ट्रेट भी जानता है कि यह सच्चा है मगर अधिकारी के भय से कोई उसके पक्ष में गवाही नहीं देता। बस, गवाह के अभाव में अधिकारी छूट जाता है और उस गरीब पर उलटा मुकद्दमा लादा जाता है।

आज कल क़ानून की बागडोर वकीलों के हाथ में चली गई है। इन लोगों के प्रताप से न्यायालयों के सन्मुख न्याय की कैसी दुर्दशा होती है यह प्रत्यक्ष है। ये लोग तरह तरह के जाल रच कर, झूठे-सच्चे, गवाह बना कर भोले-भाले सच्चे लोगों को तरह तरह के वाग्जालों में भुला कर सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा बना देते हैं। इनके प्रताप से खुले आम हज़ारों अपराधी छूट जाते हैं और हज़ारों निरपराध जेल की यंत्रणाएं भोगते हैं।

क़ानून के इस भ्रष्ट स्वरूप का परिणाम यह हो रहा है कि संसार में दिन प्रति दिन अपराधों की संख्या बढ़ती जा रही है। ज्यों ज्यों कानून इनको मिटाने के नये नये तरीके ईजाद करता है, त्यों त्यों अपराध प्रबल बेग से बढ़ते हैं। संसार में जिस तादाद में वकील बढ़ रहे हैं उससे भी अधिक तादाद में मुकद्दमों की वृद्धि हो रही है। कहां तो कानून को समाज की शान्ति का रक्षक

होना चाहिए था कहां, इसके विपरीत आज वह उसका घातक हो रहा है !

यह अवस्था तभी दूर हो सकती है, जब इसके मूल कारणों पर प्रहार किया जाय। अपराधियों को भीषण भीषण सजाएं देने से अपराध नहीं मिट सकते। अपराध तभी मिटेंगे जब इनके उद्गम स्थानों पर प्रहार किया जायगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि क़ानून की प्रतिष्ठा पुनः न्याय और नीति के तत्त्वों पर की जाय। इसके अन्दर जो विषमता का तत्त्व घुस गया है, उसे निकाल कर बाहर कर दिया जाय। इसका सम्बन्ध बाहरी उपकरणों से नहीं प्रत्युत मनुष्य के मनोजगत् से कर दियाजाय। अपराधों का विचार नैतिक दृष्टि से किया जाय।

पांचवा अध्याय

दण्ड विधान

मनुष्य के द्वारा होने वाले अपराधों की संख्या को रोकने के लिए कानून अथवा शासन-शास्त्र के अन्तर्गत कई प्रकार की नीतियों का अवलम्बन किया जाता है। भारतीय शासन-शास्त्र में ये नीतियां चार प्रकार की बतलाई गई हैं। साम, दान, दण्ड और भेद। अन्य देशों के शासन-शास्त्रों में दण्ड और भेद नीति को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। अब हम यह देखना चाहते हैं कि इन चारों नीतियों का समाज पर नैतिक प्रभाव क्या होता है।

साम नीति उसे कहते हैं जिसमें नरम उपायों के द्वारा, शिक्षा के द्वारा, उपदेशों के द्वारा, जनता की दुष्प्रवृत्तियों को रोकने का प्रयत्न किया जाता है। सम्राट् अशोक ने इस नीति का बहुत अवलम्बन किया है। उनकी धर्म्म-लिपियों में, स्तम्भ-लिपियों में और प्रचारक प्रथा में इस नीति का स्पष्ट प्रकाश झलकता है।

दान नीति उसे कहते हैं जिनमें नाना प्रकार के प्रलोभनों द्वारा जनता का मन अपराधों की ओर से फेरा जाता है।

दण्ड नीति नाना प्रकार के भय बतला कर तथा कड़ी कड़ी सजाएं देकर जनता को भयभीत करती है, जिससे जनता आतङ्क के मारे अपराध करने में प्रवृत्त न हो।

भेद नीति गुप्त और जासूसी उपायों के द्वारा पापियों के पापों

का भण्डा फोड़ करके, उन्हें दण्ड नीति के सिपुर्द करती है।

इनमें साम और दान नीति का अवलम्बन तो संसार के राज्य गौण रूप से करते हैं। इनका प्रधान आधार दण्ड और भेद नीति पर ही रहता है।

मनु ने अपनी स्मृति में इस दण्ड नीति की बड़ी ही प्रशंसा की है। वे लिखते हैं—"प्रजापति ने राजा के लिए सब प्राणियों की रक्षा करने वाले, ब्रह्मतेज मय, धर्मरूप, अपने पुत्र दण्ड को पहले ही से पैदा किया है। दण्ड के भय से चराचर सब प्राणी अपने भोग को प्राप्त होते हैं और धर्म से विचलित नहीं होते।"

..................दण्ड ही राजा है, पुरुष है, वही राज्य का नियमन करने वाला शासक है, और वही चारों आश्रम-धर्म का जामिन है। दण्ड सम्पूर्ण प्रजा का शासन करता है, दण्ड ही रक्षा करता है, दण्ड ही सोते हुए को जगाता है। ....यदि राजा निरलस हो कर दण्ड न दे, तो कांटे में मछलियों की भांति बलवान् लोग निर्बलों को भून डालें।

"दण्ड के विना सब वर्ण विरुद्धाचरण में प्रवृत्त हो जांय और चतुर्वर्गरूपी पुल टूट जाय। जिस देश में श्यामवर्ण, रक्तनेत्र और पाप नाशक दण्ड विचरता है वहाँ प्रजा को दुःख नहीं होता।"

इसी प्रकार और और देशों के शासन-शास्त्रों में भी तरह तरह से इस नीति का विवेचन किया है। शायद ही कोई देश का विधान ऐसा हो, जिसमें इस दण्ड नीति का अस्तित्व न हो। इससे मालूम होता है कि समाज-रचना की उत्पत्ति के साथ ही इस नीति की भी उत्पत्ति हुई है। कुछ गिने हुए पुरुषों को छोड़ कर संसार

के सभी बड़े बड़े राजनीतिज्ञों ने समाज-नीति के अन्तर्गत इनकी आवश्यकता बतलाई है। इस नीति समर्थकों का कहना है कि:—

जब तक समाज के अन्तर्गत दैवी सम्पद् समष्टि रूप से विचरण करती रहती है, जब तक मनुष्य अपने ही स्वार्थों की तरह संसार के स्वार्थों का खयाल रखते हैं, तब तक समाज में न तो राज्य की आवश्यकता होती है न दण्ड-नीति की। इसके पश्चात राज्य की स्थापना हो जाने पर भी जब तक जनता धर्म और नीति के तत्वों का अनुकरण करती रहती है, तब तक भी कठिन दण्ड नीति का विधान अनावश्यक ही ठहरता है। पर मानव-हृदय में इस प्रकार की साम्य भावनाएँ अधिक समय तक स्थिर रही नहीं सकतीं। इस विषमता के प्रताप से धर्मनीति शिक्षा और सदाचार की दुहाई देते हुए भी व्यक्तिगत स्वार्थ प्रबल हो ही जाता है। इसलिए इस विषमता को मिटाने के लिए दण्ड नीति की आवश्यकता होती है। क्योंकि जब तक कठिन दण्ड नीति के द्वारा लोगों पर आतङ्क नहीं जमता है तब तक आक्रमणकारी भावनाओं का आस्तित्व नहीं मिट सकता और न तब तक अपराधों की संख्या ही घट सकती है।

इससे मालूम होता है कि इस विचार-पद्धति के पुरस्कर्ता भी समाज की अच्छी अवस्था में तो दण्डनीति को अनावश्यक समझते हैं, केवल उसकी विकृत अवस्था में उसकी विषमता मिटानेके लिए दण्डनीति आवश्यक बतलाते हैं। अब हमें देखना यह है कि इस नीति के प्रयोग से यह विषमता कितने अंशों तक मिटती है।

संसार में होने वाले अपराधों का तात्विक विश्लेषण करने

से पता लगता है कि इनमें से अधिकांश किसी न किसी प्रकार के नैतिक अथवा सामाजिक दबाव के कारण उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार पानी का बांध किसी दबाव के आते ही प्रबल वेग से फूट निकलता है अथवा जिस प्रकार कोई पशु अथवा दूसरा जानवर चारों ओर से दबा दिया जाने पर प्रबल वेग से बिगड़ उठता है, उसी प्रकार मनुष्य का मत भी किसी जबर्दस्त दबाव के पड़ते ही बिगड़ उठता है। जिस बात की ओर से वह रोका जाता है उसी बात की ओर वह स्वभावतः बढ़ने ने के लिए उत्सुक होता है। इस प्रकार उत्सुक होते ही मनुष्य अपराध कर बैठता है और अपराध करते ही वह दण्डनीति के विधानानुसार जेल में ठूंस दिया जाता है। जब तक वह जेल से बाहर रहता है तब तक तो लोकलाज, सामाजिक भय, और जेल का अज्ञातमय उसके मार्ग में कुछ न कुछ बाधक होते ही रहते हैं। पर एक बार जेल में जाते ही उसका भीषण मानसिक पतन हो जाता है। उसके लिए भविष्य में जेल, लोकलाज, और सामाजिक सदाचार का कुछ भी महत्व नहीं रह जाता। परिणाम यह होता है कि या तो वह बीच ही में जेल से भाग जाता है अथवा जेल की अवधि पूरी करते ही फिर और भी भीषण दुष्कर्म में प्रविष्ट हो जाता है।

संसार के अपराधों का इतिहास इस सिद्धान्त की साफ पुष्टि कर रहा है। हम स्पष्ट देख रहे हैं कि ज्यों ज्यों दण्ड-विधान की सख्ती बढ़ती जा रही है त्यों त्यों अपराधों की संख्या भी दिन प्रति दिन बढ़ती ही जा रहा है। संसार में जितने अपराध जेल की सजा पाये हुए लोगों के द्वारा होते हैं उतने दूसरे मनुष्यों

के द्वारा नहीं होते। संसार के तमाम प्रसिद्ध प्रसिद्ध डाकू, व्यभिचारी, हत्यारे और खुले आम बेईमानी करने वाले लोगों की संख्या को मिला कर देखा जाय तो उनमें से नव्वे प्रतिशत ऐसे मनुष्य मिलेंगे जो किसी न किसी अपराध में जेल की यन्त्रणा भुगत चुके हैं। जो मनुष्य जितनी ही बार दण्डनीति के पंजे में से होकर निकल आता है वह उतना ही मजबूत और भयंकर हो जाता है। इसके विपरीत जो लोग किसी प्रकार दण्डनीति के पंजे से बचे हुए हैं उनके हाथ से इतने भीषण अपराध होते हुए नहीं देखे जाते।

कैसा आश्चर्य है! फांसी की सजा का भयंकर दण्ड रहते हुए भी संसार में हत्या और खून के काण्ड दिन प्रति दिन बढ़ते ही जाते हैं। चोरी के लिए ज्यों ज्यों दण्डनीति भीषण रूप धारण कर रही है त्यों त्यों चोरी के तरीके और चोरों की दिलेरी भी बढ़ती जा रही है। मतलब यह है कि जिस देश की दण्डनीति जितनी ही प्रबल है उस देश की नैतिक अवस्था उतनी ही गिरी हुई है।

उपर्युक्त सैद्धान्तिक और एतिहासिक प्रमाण दण्डनीति की प्रबल असफलता को स्पष्ट घोषित कर रहे हैं। इनसे उपर्युक्त सिद्धान्तों के पुरस्कर्ताओं की यह विचार पद्धति कि दण्डनीति समाज की विषमता को मिटाती है गलत सिद्ध हो जाती है। अनुभव तो यही बतलाता है कि यह नीति समाज की विषमता को घटाने में नहीं, प्रत्युत बढ़ाने में ही सहायक होती है।

फ्रान्स के प्रसिद्ध उपन्यास लेखक विक्टर ह्यूगो ने अपने „लेस मिजरेबिल" नामक उपन्यास में इसका एक बड़ा ही सुन्दर

उदाहरण दिया है। उनका चरित्र नायक "वलजिन" एक प्रसिद्ध डाकू है। प्रारम्भ में भूख से घबरा कर उसने एक धनी के यहां से केवल एक दिन खाने इतना अन्न चुराया था। इस अपराध में मॅजिस्ट्रेट ने उसे कठिन कारावास की सजा दी। इस अन्यायपूर्ण फैसले से वह बड़ा ही असन्तुष्ट हुआ, और जेल से छूटते ही उसने दूसरी बार बड़ी चोरी की। फिर वह पकड़ा गया और मॅजिस्ट्रेट ने उसे फिर सजा दी। दूसरी बार जेल से छूटने पर भी उसने फिर चोरी की। पर अब उसका पकड़ना पुलिस के लिए दुःसाध्य हो गया। उसके पकड़ने के लिए कई ईनाम निकले, मगर वह नहीं पकड़ा गया। एक दिन वह भेष बदल कर एक पादरी के यहाँ गया। पादरी ने उसे पहचान लिया, पर अपने भाव प्रकट न होने दिये। उसने चोर का भी अन्य अतिथियों की भांति ही सत्कार किया। रात को एक बजे वह चोर उठा और उसने पादरी के कमरे में जा कर अलमारी खोलने का प्रयत्न किया। वह देखता क्या है कि अलमारी के ताले में पहले ही से तालियां लगी हुई हैं। झट उसने उसमें से कीमती सामान निकाला और वैसे ही वहां से नौ दो ग्यारह हो गया। दूसरे दिन दो व्यक्ति उसे पकड़ कर पादरी के यहाँ लाये। उसे देखकर पादरी ने उन लोगों से कहा "आपने इन्हें क्यों पकड़ा? ये सामान तो मैंने इन्हें भेंट में दिया था। खैर, अब आप जाइए। फिर उस चोर से पादरी ने कहा—"मित्र! आप ये बत्तीदान तो भूल ही गये थे। इनकी कीमत चार हजार फ्रेंक हैं। इन्हें भी तुम ले जाओ" वलजिन वे कहा "तो क्या सचमुच मैं आज़ाद हूँ?" पादरी ने कहा—"हाँ, तुम बिलकुल आज़ाद हो" आज से तुम्हारे हृदय से शैतान निकल गया,

है और उसके स्थान पर प्रभु ने प्रवेश किया है। डाकू ने उस समय सचमुच अपने को महा पुरुष अनुभव किया। उसके पश्चात् उस डाकू के द्वारा जो जो महान् कार्य्य सम्पन्न हुए हैं, उन्हें देख कर आश्चर्य होता है। जो कार्य्य भीषण से भीषण दण्ड नीति भी न कर सकी वह कार्य्य उस पादरी ने सहज ही में कर दिखलाया।"

यह कहानी इतिहास और घटना की दृष्टि से चाहे सत्य न हो पर एक सिद्धान्त की दृष्टि से बिलकुल सत्य है इसलिए इसका यहां उल्लेख किया गया है।

इस सारे विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दण्ड नीति का आविष्कार हुआ है, उन उद्देश्यों को पूर्ण करने में यह नीति सोलहों आने असफल हुई है। यह नीति केवल कार्य्य-पर ध्यान देती है कारण पर नहीं, और इस-लिए यह असफल भी होती है। अतः इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ऐसी नीति का आविष्कार होना चाहिए जो कारण पर ध्यान दे। इस नीति को निश्चित करते समय यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि अपराधों का मूल तत्त्व अपराधों के बाहरी रूप में नहीं, प्रत्युत मनुष्य के मानसिक जगत् में रहता है और मनुष्य स्वभावतः किसी प्रकार के दबावों के वश में नहीं रहना चाहता। उस पर जितना ही अधिक दबाव डाला जायगा वह उतना ही ज्यादा उच्छृंखल होगा। इन सब तत्त्वों को सोचने पर मालूम होता है कि अपराधों को रोकने के लिए वही नीति अधिक उपयोगी सिद्ध होगी जिसमें सामोपाय से काम लिया जायगा।

फिर भी, यह निश्चित है कि चिरकाल से दण्ड-नीति का

अनुसरण करने के कारण मानव-समाज में यह नीति रूढ़ हो गई है। और यदि आज इसका अस्तित्व उठा दिया जाय तो समाज में भयंकर विशृंखलता मच जाय। क्योंकि यद्यपि यह नीति चोर, गुण्डे, बदमाश आदि वास्तविक अपराधियों से समाज की पूर्ण रूप से रक्षा तो नहीं कर सकती, फिर भी मध्यम श्रेणी के ऐसे लोगों से वह समाज की रक्षा करती है जो, परिस्थिति-वश जेल में न जा सके हैं, जिनकी इच्छा अपराध करने की तो रहती है, मगर भय और लोक-लज्जा से वे सशङ्क रहते हैं—ऐसे लोगों का समुदाय आज कल के समाज में बहुत बढ़ गया है। यदि दण्ड-नीति का अस्तित्व न हो तो ये लोग दोनों हाथों से अत्याचार करने को उद्यत हो जावें। ऐसे लोगों से समाज की रक्षा करने के लिए अवश्य अभी दण्डनीति की आवश्यकता रह गई है, पर वह मनुष्य-समाज का भूषण नहीं समझी जा सकती, और न यह समाज से वास्तविक अपराधियों की संख्या घटाने में सफल हो सकती है।

तीसरा खण्ड

धर्म

"जो धर्म मनुष्य को निराशावादी बनाता है, जो उसको अनन्त अज्ञानी कहकर उसका तिरस्कार करता है। जो उसको अपनी बुद्धि के प्रति अविश्वास, अवहेलना और अपमान करना सिखाता है। जो जीवन के पोषक तत्त्वों का विरोध करता है या मनुष्य को अनन्त नरक का चित्र बतलाकर भयभीत करता है वह धर्म—फिर उसका चाहे कुछ भी नाम क्यों न हो—कभी मनुष्य जाति का अन्तिम धर्म नहीं हो सकता।

"मनुष्य जाति का अन्तिम और आदर्श धर्म वही होगा जो मनुष्य को प्रतिदिन विकास करने वाला प्राणी कहकर उसकी इज्जत करेगा। जो उसे आनन्द और आशा का सन्देश देकर उसे कर्मक्षेत्र में बढ़ने को उत्साहित करेगा। जो उसकी बुद्धि की प्रतिष्ठा करेगा। जो उसकी स्वाधीनता में बाधक न होगा। जो किसी कल्पित स्वर्ग और नरक का चित्र बतलाकर मनुष्य जाति को नाना प्रकार के अनर्थ करने में प्रेरित न करेगा। जिसका ध्येय पूर्ण स्वाधीनता, जिसका मार्ग आनन्दवाद, जिसका आरम्भ मनुष्यत्व और जिसकी स्थिति पूर्ण सत्य और प्रेम में रहेगी।"

'ग्रंथकार'

पहला अध्याय

धर्म

मनुष्य एक अपूर्ण प्राणी है। अपूर्णता ही में उसके मानव-सौन्दर्य का विकास होता है। अपने साहस से, अपने कौशल से और अपनी चेष्टा से वह सम्पूर्णता की राह में अग्रसर होने का प्रयत्न करता है। इसी प्रयत्न में वह राज्य की स्थापना करता है। और जब इन प्रयत्नों के होने पर भी पूर्ण संपूर्णता में त्रुटि देखता है तब वह इसको मिटाने के लिए एक अन्तिम उपाय की खोज करता है। वह धर्म है।

मनुष्य की कल्पना अनन्त है। वह केवल प्रत्यक्ष जगत् में ही समाप्त नहीं हो जाती, प्रत्युत अदृष्ट के गहरे अन्धकारमय प्रदेशों में भी बहुत दूर तक उसका संबन्ध रहता है। मनुष्य को अनेक सुख-दुःख संसार में प्राप्त होते हैं। जिन सुख-दुःखों के कारण आइने की तरह सबको प्रत्यक्ष दिखलाई देते हैं, उनकी चिकित्सा तो वह समाजनीति, राजनीति आदि की रचना करके करता है। मगर कई सुख-दुःख ऐसे भी होते हैं जिनका मूल कारण बड़ा अप्रत्यक्ष होता है। मानव-बुद्धि उनका रहस्य जानने में अपने को असमर्थ पाती है। और ऐसी स्थिति में—विपत्तियों से अपनी रक्षा करने के निमित्त अब तक जिन आकस्मिक घटनाओं, सामाजिक आपत्तियों के कारण हमें ज्ञात न थे धर्म उनका रहस्य समझाने की हमें आशा देता है। मानव-बुद्धि अज्ञात प्रदेशों में उसके कारणों को खोजती है और धर्म का उदय होता है।

इसी कारण अभी तक दुनिया में धर्म का बहुत अधिक महत्व समझा जाता है। संसार के सभी बड़े बड़े तत्वज्ञानी इसकी आवश्यकता को अनुभव करते हैं।

धर्म प्रत्येक सांसारिक गूढ़ रहस्य को विशद करने की चेष्टा करता है और इसीलिए इसकी तरफ सब की अन्तिम दौड़ होती है।

जब इन रहस्यों का उद्‌घाटन करते करते मनुष्य अपने आसपास की तमाम सांसारिक वस्तुओं की छानबीन कर लेता है तब वह इस नतीजे पर पहुँचता है कि संसार का सूत्र संचालन करने वाली कोई अदृष्ट, अज्ञेय, सर्वज्ञ और सर्वोपरि एक शक्ति है जो सर्वत्र सदा निवास करती है। मानव बुद्धि-उसका ठीक ठीक आकलन नहीं कर सकती। वह उसके संभाव्य रूपों और उपासना के मार्गों की कल्पना करती है। मानव कल्पना कहीं एकसी होती है? वह अनेक रूपा है। मानव कल्पना ने अपनी अपनी गति के अनुसार अनेक रूप धारण किये। यही भिन्न भिन्न धर्म-मार्ग हैं।

पर मनुष्य की स्वाभाविक अपूर्णता ने धर्मक्षेत्र में भी उसका पीछा न छोड़ा। अहंकार और पशुबल प्रबल हुए। आद्य द्रष्टा की दृष्टि तो विशाल होती है। वह अपनी मर्यादा को समझता है। परंतु अनुयायी तो उतना ही जानते हैं, जितना द्रष्टा अपने मुँह से बताता है, और उसी को वे सब कुछ समझ लेते हैं। अतः जहाँ कहीं उनसे भिन्न विचार या उस शक्ति सम्बन्धी भिन्न कल्पना धारण करने वाला उन्हें दिखाई देता है वे उससे उलझ जाते हैं। पहले बुद्धि और बाद में शक्ति द्वारा, आरंभ में खण्डन-मण्डन-शास्त्रार्थ

और बाद में धर्म युद्ध द्वारा सत्य का निर्णय करने की वे कोशिशें करते हैं। और संसार जानता है कि इन संघर्षों और मारकाट के कारण मानव-जाति का कितना संहार हुआ है।

यह एक कैसी बेवकूफी की बात है कि धार्मिक सत्य का निर्णय तलवार के सहारे हो। पर फिर भी इस अवनीतल पर महज धर्म के नाम पर न जाने कितने युद्ध हुए हैं!

हाँ, धर्म की ओट में राजनैतिक दलबन्दियों जातीय संगठनों के लिए भी युद्ध हुए हैं, पर चूँकि धर्म से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है हम यहाँ उन पर विचार न करेंगे।

हाँ, तो धर्म का मूल कारण और उनका प्रधान उद्देश्य क्या है, इस बात पर जब हम गम्भीरता पूर्वक विचार करते हैं तब हमें इसकी जड़ में दो तत्व सब से अधिक महत्वशाली दिखलाई देते हैं। (१) मनुष्य की स्वातंत्र्यप्रियता और (२) उसकी स्वाभाविक विषमता एवं सामाजिक जीवन।

मनुष्य स्वभाव से ही स्वाधीनता-प्रिय प्राणी है। वह अपने प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक व्यवहार में पूर्ण स्वाधीनता ही को पसंद करता है। यदि वह पराधीनता का अनुभव करता है तो तुरन्त उससे छूटने के लिए छटपटाने लगता है। यह प्रकृति मनुष्य के विकसित ज्ञान का ही परिणाम नहीं है प्रत्युत उसकी अविकसित दशा में भी वह पाई जाती है। संसार में जब उसे दु;ख का अनुभव होने लगता है, जब रोग और अस्वस्थता की यन्त्रणाएं उसको सताने लगती हैं, जब अनावृष्टि और अति वृष्टि का चक्कर उसकी हरी भरी लहलहाती खेती को नष्ट भ्रष्ट कर देता है, और जब मृत्यु तथा बुढ़ापे का दुःख उसे

परेशान करने लगता है तब वह अपने आपको पराधीन अनुभव करने लगता है वह इस दुःखपूर्ण पराधीनता से निकल कर स्वाधीनता के साम्राज्य में जाने के लिए आतुर हो उठता है। वह तमाम जञ्जालों से मुक्त होने का प्रयत्न करता है। स्वाधीनता अथवा मुक्ति के इसी सतत प्रयत्न में से धर्म की उत्पत्ति होती है। यही धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण है और मनुष्य को पराधीन अवस्था से निकाल कर स्वाधीन अवस्था में से लेजाना ही इसका मुख्य उद्देश्य है।

(२) धर्म की उत्पत्ति का दूसरा कारण मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति है। मनुष्य प्रकृति की विषमता का विवेचन हम पहले कई स्थानों पर कर आए हैं। हम लिख आये हैं कि मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति में और उसकी अहङ्कार प्रवृत्ति में निरन्तर विरोध चलता रहता है। इसी विरोध पर नियन्त्रण रख कर इन विरुद्ध प्रवृत्तियों में साम्य बनाए रखने के लिए धर्म की उत्पत्ति हुई है। पर यहाँ धर्म शब्द का अर्थ होता है पारस्परिक कर्तव्य शास्त्र अथवा समाज-शास्त्र।

इन दोनों में से पहले कारण के द्वारा जिस धर्म की सृष्टि होती है, उसका सम्बन्ध मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से ही अधिक रहता है। इस धर्म की जड़ एक अप्रत्यक्ष कल्पना पर रहती है। यह कल्पना अपनी विकसित और अविकसित दशा में हमेशा अप्रत्यक्ष ही रहती है। किसी भी वस्तु के मूल कारण की खोज में जब मनुष्य अपने को असमर्थ पाता है,तब वह किसी भी एक अप्रत्यक्ष कारण की कल्पना करता है। और दुनिया में जितने भी कल्पनातीत घटनाएँ घटित होती हैं उन सब को वह उसी कारण

का परिणाम समझता है। और उस कारण को अपने वश में, या नष्ट करने में जब वह अपने को असमर्थ पाता है तब विवश हो उसकी पूजा करने लगता है। इसी कल्पना की जड़ में से वह अनेक देववाद, देववाद; साकार ईश्वर और अन्त में निराकार ब्रह्मवाद की उत्पत्ति होती है। पर इन सभी स्थितियों में मनुष्य हमेशा एक अप्रत्यक्ष सत्ता का अनुयायी रहता है और उसकी जड़ विश्वास पर अवलम्बित रहती है।

दूसरे कारण से जिस धर्म की उत्पत्ति होती है उसका संबंध समाज के साथ अधिक रहता है। इस में अप्रत्यक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष की उपासना पर ही अधिक जोर दिया जाता है। आचार-शास्त्र या नीति-शास्त्र की उत्पत्ति इसीमें से होती है।

अब हम इन शाखाओं पर स्वतन्त्र रूप से उपयोगिता की दृष्टि से विचार करें।

दूसरा अध्याय

अनेक देववाद

मनुष्य जाति जब अपनी आदिम अवस्थामें थी, जब उसका ज्ञान बहुत अविकसित दशा में था, उस समय सृष्टि के चमत्कारों को देखकर उसे बड़ा आश्चर्य होता था। सूर्य्य का उदय और अस्त होना, पानी का बरसना, बिजली का कड़कड़ाना, नदियों का बहना, आदि बातें भी उस समय आश्चर्य जनक समझी जाती थीं। इन बातों के मूल कारणों तक उसके ज्ञान की पहुँच न होने से वह इन सब बातों में दैवी कल्पना करने लगा। इन घटनाओं से कहीं उसका अनिष्ट न हो जाय इसलिए वह इनकी पूजा करता था। इसी प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप हम पानी में वरुण देवता की, अग्नि में अग्नि देवता की, वर्षा में इन्द्र देवता की और वन में वन-देवता की कल्पना होती हुई देखते हैं। इसी प्रकार संसार के तमाम देशों के धार्मिक साहित्य में ऐसे अनेक देवताओं के नाम पाये जाते हैं। उस समय का जन समुदाय अपनी पराधीनता का मूल कारण इन्हीं देवताओं को समझता था। और उसी पराधीनता से मुक्त होने के लिए यह नाना प्रकार के विधानों से इन देवताओं को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता रहता था।

यह धर्म मनुष्य की आदिम अवस्था का है। अतएव इसका अवैज्ञानिक होना बिलकुल स्वाभाविक हैं। इस धर्म को तर्क का

आधार वहुत कम प्राप्त है। इस धर्म की नींव प्रधानतया अन्ध-विश्वास और चमत्कारों पर रहती है। बुद्धि और ज्ञान का इससे विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। धार्मिक दृष्टि से भी इस विश्वास का कोई महत्व नहीं है। क्योंकि इसके मूलमें भय हैं। यह तो मनुष्य की क्षुद्र वासनाओं की पूर्ति का साधन मात्र है। जहाँ जहाँ मनुष्य को भय की आशंका होती है, वहाँ वहाँ वह एक अदृष्ट शक्ति की कल्पना करके उसे कोई नाम अर्पण कर देता हैं और उसे संतुष्ट करने के लिए कोई यज्ञ याग या बलि का विधान करता है। उसकी अन्तिम चेष्टा यही होती है कि फलां देवी या देवता मुझे या मेरे बच्चों को न सतावे। यह एक अन्ध जीवन है। आत्म-ज्ञान या शश्वत् शान्ति की इच्छा का यहाँ पता भी नहीं रहता। गीता में ऐसी भक्ति को तामसभक्ति कहा है।

नैतिक दृष्टि से भी यह धर्म अत्यन्त कमजोर और हानिकर है। क्योंकि इस धर्म में उन उदार भावनाओं को वहुत ही कम स्थान रहता है जो मनुष्यत्व का विकास करने में सहायक होती हैं। दया, प्रेम, उदारता और बन्धुत्व की अपेक्षा इसमें राग, द्वेष मोह और स्वार्थ की भावनाएँ ही अधिक रहती हैं। साँसारिक लक्ष्य प्रधान होने की वजह से इस धर्म के उपासक केवल अपने निजी स्वार्थों की ओर ही अधिक ध्यान रखते हैं। संसार आज चाहे कितना ही सभ्य कहलावे, पर, इस धर्म के अवशेष अभी किसी न किसी अंश में अनेक स्थानों पर पाये जाते हैं। हम देखते हैं कि आज भी इस प्रकार के देवी देवताओं को मानने वाली माताएं अपने बच्चों की बीमारी को दूर करने के लिए मार्ग में इसलिए टोने टुटके कर देती हैं कि वह बीमारी वहाँ से हटकर

दूसरों को चिपक जाय । इसी प्रकार काली के उपासक उसको प्रसन्न करने के लिए हज़ारों पशुओं को तलवार के घाट उतार देते हैं । कहीं कहीं तो इस बलिवेदी पर छोटे-छोटे मासूम बच्चे, स्त्रियां और पुरुष भी भेंट चढ़ा दिये जाते हैं । अब तक थी कभी कभी हम कापालिकों की घृणित क्रियाओं का वर्णन पढ़ते हैं । मध्ययुग में जब भारत में शाक्तधर्म जोरों पर था सुंदर स्त्री-पुरुष और बालकों की जान ख़तरे में ही रहती थी। इसी प्रकार अन्य देशों के इतिहास भी इस पाशविक धर्म के अस्तित्व की साक्षी देते हैं । कहते हैं मेक्सिको के देवी देवता प्रतिवर्ष हज़ारों मानव-प्राणियों का रक्तपान करते थे । कभी कभी तो यह संख्या ५०,००० तक पहुँच जाती थी ।

इस बलिदान की विधि भी बड़ी भयंकर होती थी । मनुष्य को पत्थर पर लिटा कर उसे खूब जकड़ दिया जाता था । उसके पश्चात् घातक पुजारी चकमक के चाकू से उसकी छाती को चीर कर उसमें से उसका तड़फता हुआ कलेजा निकाल लेता था । यह पहले सूर्य को दिखलाकर फिर देवता के चरणों पर समर्पण किया जाता था । इस अवसर पर एक बड़ा भारी त्यौहार मनाया जाता था ।

कहीं नदी में बाढ़ आई कि समझा नदी रूठ गई है इसे मनुष्य का बलिदान दो । वह पुल टूट गया है, वहाँ के देवता रूठ गये हैं, मनुष्य का बलिदान दो । मतलब यह कि इस धर्म की जड़ चमत्कार अन्ध श्रद्धा पर ही रहती है । तर्क से इसका कुछ सम्बन्ध नहीं । अतएव यह बतलाना व्यर्थ है कि इसप्रकार का धर्म बिलकुल निकम्मा और हानिकारक है ।

तीसरा अध्याय

एकेश्वरवाद, कर्माडम्बर और धर्मान्धता

बहु देववाद का विकास एकेश्वरवाद में होता है। ज्ञान का विकास होते होते जब जन-समाज इन चमत्कारों के असली रहस्यों के कुछ अधिक समीप पहुँच जाता है, तव उसे प्रतीत होने लगता है कि ये सब भिन्न भिन्न चमत्कार तो एक ही कारण के कार्य है। इन सव का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, प्रत्युत इन सब का कारण एक ही शक्ति में केन्द्रीभूत है। इस प्रकार उसके हृदय से धीरे धीरे अनेक देवताओं की कल्पना दूर हो जाती है। वह अनुभव करने लगता है कि इन सव वातों के अलग अलग देवता नहीं है। यह तो एक ही प्रकृति के अनेक रूप हैं। और उनका संचालन एक ही शक्ति—ईश्वर—करता है। ईश्वर ही संसार की उत्पत्ति पालन और संहार करने वाला हैं, यही सब देवताओं का सम्राट् और यही प्रकुति का वास्तविक विभु है। इसी ईश्वर के इशारे से सूर्य, चन्द्रमा उदय होते हैं। यह सर्वज्ञ, सर्व व्यापक और सर्वशक्तिमान है।

पर मालूम होता है कि जिस समय इस ईश्वर की कल्पना का जन्म हुआ था उस समय भी मानव बुद्धि का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था। यही कारण है कि भिन्न भिन्न देशों में, भिन्न परिस्थितियों के अनुसार ईश्वर की भिन्न भिन्न कल्पनाएं हुईं। ज्ञान की कमी के कारण या और किसी कारण से कोई भी

अपने अपने ईश्वर पर से देश, काल और परिस्थिति को छाप नहीं मिटा सका। सभी ईश्वर सर्वज्ञ, सभी सर्वशक्तिमान, सभी सर्वव्यापक पर सभी एक दूसरे से विरुद्ध हैं। सभी सृष्टि को बनाने वाले हैं, पर सभी के घर में पाप और शैतान का वास है। मतलब यह कि इस ईश्वर की कल्पना में भी मानव-बुद्धि की अपूर्णता स्पष्ट रूप से झलकती है।

ऐकश्वरवाद बहुदेववाद की अपेक्षा कुछ अधिक विकसित है। इस धर्म में परलोक और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का उदय हो जाता है, जिससे इसके अनुयायियों को अपने पारलौकिक लक्ष्य का भान होने लग जाता है। सैद्धान्तिक रूप से इसमें बुद्धिवाद का उदय हो जाता है। और इसके अनुयायियों में सत्य, दया, परोपकार, प्रेम आदि भावनाओं का उदय भी हो जाता है। फिर भी व्यवहारिक रूप से इसकी भी नींव अन्ध श्रद्धा पर ही अवलम्बित रहती है। मानव-समाज चाहे कितना ही ईश्वर-भक्त हो उसकी इस श्रद्धा का आधार तो काल्पनिक ही है। वह हर समय अपने ईश्वर से प्रत्यक्ष नहीं कर सकता न उससे पूछ सकता है कि फलां काम धर्मानुकूल है या प्रतिकूल। हाँ कुछ लोग ऐसे जरूर होते हैं जो अपनी भाव प्रवणता और तीव्र बुद्धि की सहायता से उस तत्त्व की कुछ अस्पष्ट झांकी पा लेते हैं। अग्रगामी होने के कारण लोग इन्हीं के पास आते हैं और धर्माधर्म की व्यवस्था मांगते हैं। वे अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ व्यवस्था देते भी हैं। पर जब ऐसे भक्तों का खूब आदर होते हुए लोग देखते हैं, तब दूसरों को भी लालच होती है कि हम भी भगवद्भक्ति करें और ऐसा आदर पावे। शनैः शनैः पुरोहितों, उपाध्यायों,

मुल्लाओं या पादरियों और भिक्षुओं का एक खासा दल बन जाता है, और उपासना पूजा-विधि तथा दैनिक व्यवहार पर इनके फतवे निकलने लगते हैं। अज्ञान के कारण जन-साधारण इन्हीं को ईश्वरीय आज्ञा समझ लेता है। विमल हार्दिक प्रार्थना का स्थान कर्मकाण्ड छीन लेता है और मनुष्य की भावना को जकड़ दियाजाता है। मनुष्य की स्वतन्त्र विचार-शक्ति का विकास रुक जाता है। अन्ध श्रद्धा पर अवलम्बित होने की वजह से यह धर्म मनुष्य की आत्मा के अंदर प्रविष्ट नहीं हो सकता। मनुष्य के अंतःकरण में प्रायः वही बात ओत प्रोत हो सकती है, जो तर्क और सत्य से अनुमोदित हो। पर इस कल्पना में इस आधार का अस्तित्व नहीं रहता। इस कारण यह धर्म मनुष्य के हृदय में घर नहीं कर पाता, हाँ, बलपूर्वक उसकी आत्मा के साथ चिपका दिया जाता है। पर यह चिपकाया हुआ जोड़ भी मजबूत नहीं होने पाता। बुद्धि और स्वार्थ की थोड़ी सी आँच लगते ही यह खुल जाता है और इसके खुलते ही मनुष्य प्रचण्ड, नास्तिक और महान् अत्याचारी के रूप में दृष्टि-गोचर होने लगता है।

अब हम संक्षेप में यह देखना चाहते हैं कि इस ईश्वर-वाद से समाज के ऊपर क्या क्या अच्छे और बुरे परिणाम घटित होते हैं, और समाज के जीवन पर इसका परिणाम क्या होता है।

(१) एकेश्वरवाद समर्थकों का कहना है कि ईश्वर की कल्पना संसार के इतिहास में बड़ी महत्त्व पूर्ण है। इस कल्पना से समाज-रचना सम्बन्धी एक बहुत बड़ी कठिनाई दूर हो गई है। समाज-सत्ता और राज्यसत्ता की व्यवस्था के पश्चात् भी

समाज में एक बड़ी गम्भीर त्रुटि विद्यमान रह जाती है। वह यह कि ये सत्ताएँ प्रत्यक्ष में मनुष्य जो कुछ गलती करता है, अपराध करता है केवल उसी पर नियमन कर सकती है। पर कई बुराइयाँ ऐसी अप्रत्यक्ष होती हैं जिन पर राज्य और शासन की दृष्टि नहीं पड़ सकती। जो मनुष्य के एकान्त जीवन से सम्बन्ध रखती हैं। इस प्रकार की बुराइयाँ भीतर से समाज को खोखला कर देती हैं। ईश्वर की कल्पना मनुष्य को इन भीतरी बुराइयों से बचाती है। यह कल्पना इतनी व्यापक है कि मनुष्य एक क्षण भर के लिए भी इससे अपने को बाहर नहीं समझ सकता। राज्य और समाज का भय तो उसे तभी तक रहता है जब तक वह उनकी आँखों के सामने रहता है पर ईश्वर का भय तो उसे सोते जागते उठते बैठते हरदम बना ही रहता है, इस भय की वजह से वह भूल कर भी पाप के पथ में पैर नहीं रख सकता। इस तरह संसार के लिए इस ईश्वर की कल्पना का बहुत भारी नैतिक प्रभाव है।

(२) ईश्वर की कल्पना के साथ ही स्वर्ग और नरक की कल्पना का उदय हो जाता है, इन कल्पनाओं से मनुष्य की नीतिमत्ता को बहुत बल मिलता है। कभी कभी तो राज्य और समाज की अपेक्षा भी स्वर्ग, नरक, पाप और पुण्य की ये कल्पनाएँ मनुष्य की नीति की अधिक रक्षा करती हुई दिखलाई देती हैं। यदि लोगों के मन में अब तक 'ईश्वरीय दण्ड" की कल्पना न होती तो संसार में चारों ओर "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" के सिद्धान्त का दौर दौरा हो गया होता। राज्य और समाज की व्यवस्थाएँ नष्ट भ्रष्ट हो गई होतीं, प्रेम,

दया, अहिंसा, सहानुभूति और दया की भावनाओं का कहीं ठिकाना न रह गया होता। हाँ, शायद मनुष्य और पशु में भी कोई भेद न रहता।

पर तात्त्विक दृष्टि से इन विचारों का महत्त्व कितना है ?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ईश्वरीय कल्पना का उदय एक महान् उद्देश्य की सिद्धि का कारण हुआ। इस कल्पना का मानस शास्त्र से बहुत गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य के अन्तःकरण में स्वाभाविकतया कुछ श्रेष्ठ भावनाएँ रहती हैं। उनकी पूर्ण तृप्ति और समाधान के लिए ईश्वर के समान श्रेष्ठ और उत्कृष्ट भावना की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। इस प्रकार की भावना के अभाव में मनुष्य की नैतिक और सामाजिक प्रवृत्तियों का बराबर विकास नहीं हो सकता। हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि यदि ईश्वर की कल्पना पूर्णता पर पहुँच गई होती, यदि उसके किसी विश्वव्यापी स्वरूप का आविष्कार हो गया होता, तो उपर्युक्त विचार-पद्धतियाँ बावन तोला पाव रत्ती खरी उतर जातीं। मगर अफ़सोस इतना ही है कि अपूर्ण मानव-बुद्धि उस पूर्ण ईश्वर की सच्ची और वास्तविक कल्पना नहीं कर सकी। इस सम्बन्ध में उसने बड़ा ही धोखा खाया। मनुष्य-समाज सर्वशक्ति मत्ता और सदाचार इन दोनों विरोधी गुणों में समीकरण उत्पन्न न कर सका। यदि वह अपने ईश्वर में इन दोनों विरोधी गुणों को एक साथ आरोपित कर सकता तो उसकी उद्देश्य-सिद्धि में बहुत सहायता मिलती। लेकिन इस सम्बन्ध में उसे सफलता न मिल सकी। जिन जातियों ने अपने ईश्वर में सर्व शक्तिमत्ता की प्रधानता रक्खी वे उसे सदाचार का आदर्श न बना सकीं और

जिन्होंने उसे सदाचार का आदर्श बनाया वे उसमें सर्व-शक्तिमत्ता को सिद्ध न कर सकीं ! इस प्रकार यह सारी विचार-पद्धति ही मानव ज्ञान की अपूर्णता की वजह से अपूर्ण रह गई।

ईश्वर के साथ कल्पना शब्द का प्रयोग करते देखकर कई लोग सम्भवतः ग्रन्थ-लेखक पर नास्तिकता का आरोप करेंगे। लेकिन इस आरोप की कुछ चिन्ता न करते हुए भी हम यहाँ पर यह लिख देना आवश्यक समझते हैं कि हम यहाँ पर आध्यात्मिक दृष्टि से इस विषय पर विचार करने के लिए नहीं बैठे हैं। हमने ईश्वर के साथ कल्पना शब्द का प्रयोग केवल इसलिए किया है कि ईश्वर अभी तक मनुष्य-जाति के लिए अप्रत्यक्ष वस्तु के समान है, और अप्रत्यक्ष वस्तु के सम्बन्ध में केवल कल्पना ही की जा सकती है। इसीलिए हमने यहाँ पर "कल्पना" शब्द का प्रयोग किया है। इससे उसके अस्तित्व या नास्तित्व के संबंध में किसी प्रकार के विचार का प्रदर्शन नहीं होता, और न हमें ऐसा करना अभीष्ट ही है। हम केवल सामाजिक दृष्टि से इस विषय पर विचार कर रहे हैं। ईश्वर सम्बन्धी विचारों से सामाजिक जीवन पर क्या क्या प्रभाव घटित होते हैं इस पर विचार करना ही हमारा ध्येय है। और हम चाहते हैं कि प्रत्येक पाठक इसी ध्येय को लक्ष्य में रखकर हमारे कथन पर विचार करे। अस्तु।

हाँ, हमारे कहने का मतलब यह है कि उपर्युक्त विचार-पद्धतियों में भी किसी पूर्ण ईश्वर की नहीं प्रत्युत ईश्वर की संसार में प्रचलित अपूर्ण कल्पना की ही उपयोगिता बतलाई है। और इसी कारण वे शुरू से अन्त तक गलत हो गई हैं। इसी बात को हम आगे सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं।

ईश्वर की कल्पना से संसार को जितना लाभ हुआ उससे बहुत अधिक नुकसान इस अपूर्ण कल्पना से हुआ है।

(१) उपर्युक्त उपपत्तियों के पुरस्कर्ताओं का कथन है कि यदि ईश्वर की कल्पना का अस्तित्व न होता तो जगत् में सदाचार प्रवृत्ति का कोई महत्व नहीं रहता। चारों ओर "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्" वाले सिद्धान्त का दौरदौरा हो जाता। पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से इस तत्व पर विचार किया जायगा तो बिलकुल विरुद्ध बात दिखलाई देगी। सदाचार कोई ऐसी कृत्रिम वस्तु नहीं है, जो धर्म या ईश्वर की कल्पना से उत्पन्न होती हो। सदाचार मनुष्य के स्वभाव का ही एक अङ्ग है। जिस समय लोग ईश्वर को समझते भी न थे, जिस समय वेद, वेदाङ्ग, बाइबिल, कुरान, आदि का आविष्कार भी न हुआ था, उस समय भी सदाचार की भावनाएँ मनुष्य-हृदय के अन्तर्गत विद्यमान थीं। केवल मनुष्य हृदय में ही क्यों, यह प्रवृत्ति पशु-हृदय में भी अपने अविकसित रूप में पाई जाती है, जिसकी वजह से वे अपने बच्चों की परवरिश और अपना जातीय संगठन रखते हैं। इसके विपरीत यदि यह कहा जाय कि इस कल्पना ने मनुष्य की सदाचार प्रवृत्ति का नाश करने में सहायता पहुँचाई है तो बिलकुल अत्युक्ति न होगी। "हमारा ईश्वर सच्चा है शेष सब झूठे हैं" इस धर्मान्धता ने दुनिया के सदाचार का कितना नाश किया है क्या कोई इसका अनुमान कर सकता है ? इस कल्पना ने दुनिया के सदाचार प्रवर्तकों को-बुद्ध, ईसा, सुकरात, न्यूटन, गैलिलिओ आदि महा पुरुषों को-कितनी यन्त्रणाएँ पहुँचाई हैं, कितने इतिहास के पृष्ठों

को कलंकित किया है क्या इसका कोई विरोध कर सकता है ? कहा जाता है कि यदि यह कल्पना न होती तो मनुष्य महा पापी हो जाता। मगर हम व्यवहार में इसका उलटा ही परिणाम देखते हैं। जो लोग नास्तिक हैं, जो हृदय से ईश्वर को नहीं मानते हैं उन लोगों में भी सदाचार का महान् आदर्श देखने को मिलता है। इसके विपरीत जो लोग दिन रात ईश्वर की पूजा करते पाये जाते हैं उनके भीतरी पापों का कोई अन्दाज भी नहीं कर सकता।

(२) दूसरी दलील में कहा जाता है कि स्वर्ग के प्रलोभन और नरक के भय ने मनुष्य को दुराचार में प्रवृत्त होने से बहुत रोका है। यह दलील भी उतनी ही कमजोर है, जितनी ऊपर वाली दलील। हमारे खयाल से तो इस कल्पना ने धर्म को एक दूकानदारी की चीज बना दिया है। इस कल्पना से सदाचार को तो बल न मिला, लेकिन मनुष्य की स्वार्थ-प्रवृत्ति इससे बहुत बलवती हो गई। मतलब यह कि इस कल्पना के कारण अच्छा काम करना एक प्रकार का व्यापार हो गया। इस प्रवृत्ति के वश होकर हम किसी का उपकार इसलिए नहीं करते कि इससे उसकी आत्मा को सन्तोष होगा प्रत्युत इसलिए करते हैं कि इसका बदला हमें मय सूद के मिलेगा। यदि किसी को यह विश्वास दिला दिया जाय कि उपकार करने से नहीं प्रत्युत अपकार करने से तुम्हें स्वर्ग मिलेगा तो वह फौरन अपकार करने को प्रस्तुत हो जावेगा। क्योंकि हमें तो स्वर्ग चाहिए, फिर उससे किसी का उपकार हो चाहे अपकार। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है यह अन्ध धार्मिक विश्वास है कि परधर्मीय का वध करने से स्वर्ग प्राप्त होता है। मुसलमान

धर्म्म ने अपने अनुयायियों के एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ में तलवार देकर लाखों आदमियों का ध्वंस करवा डाला, हज़ारों गांवों को बरबाद कर दिया।

इससे भी भयंकर एक दूसरा नैतिक परिणाम इस कल्पना से और हुआ। प्रत्येक ईश्वरवादी धर्म के अन्तर्गत किसी न किसी रूप में इस व्यवस्था ने स्थान पा लिया है कि मनुष्य कितना ही पाप क्यों न करे, पर यदि वह एक बार भी ईश्वर पर हृदय से विश्वास कर ले तो उसके सब पाप झड़ जाते हैं और वह स्वर्ग का अधिकारी हो जाता है। हिन्दू धर्म का विधान है कि मनुष्य चाहे कितने ही भयंकर पाप कर ले पर अन्त में एक बार गंगाजी का स्नान कर आवे। बस, उसके सब पाप झड़ जायंगे। जन्म का भयंकर पापी अजामिल भी मरते वक्त एक बार राम का नाम लेने से स्वर्ग का अधिकारी हो गया, इसी प्रकार और भी एक पापी घण्टा चुराने के लिए शिवजी के लिंग पर चढ़ गया, चढ़ा तो वह घण्टा चुराने के अभिप्राय से था, मगर भोला बाबा इसलिए प्रसन्न हो गये कि उसने अपने शरीर को भोला बाबापर चढा दिया—अर्पित कर दिया—और उन्होंने उसे स्वर्ग का अधिकार पत्र तुरंत दे दिया। एक तरफ मुक्ति इतनी सुलभ और दूसरी तरफ सदाचार के महान् आदर्श राजा हरिश्चन्द्र और मोरध्वज को इतने कष्ट सहने पड़ते हैं। इसी प्रकार के उदाहरण यूरोप के मजहबी इतिहास में भी कम नहीं है। वहाँ तो जन्म भर के पापियों को भी पादरी लोग कुछ ही रुपया लेकर स्वर्ग का परवाना दे देते थे। हत्या करने वाले को आठ डयूकेट में, (एक सिक्का) झूठी गवाही देने वाले को नौ ड्यूकेट में, और बहुविवाह करने

वाले को छः डयूकेट में, उस समय स्वर्ग का परवाना मिलता था। जिस धर्म में स्वर्ग इतना सुलभ है उस धर्म के अनुयायी सदाचार का कितना महत्त्व समझते होंगे यह बतलाना व्यर्थ है।

ईश्वर की इस अपूर्ण कल्पना के कारण सद्विचार और सत्कर्म की अपेक्षा, अन्धविश्वास, अन्धभक्ति, नामकीर्त्तन और बाह्य आडम्बर को ही अधिक महत्त्व प्राप्त हो गया है। संसार में तो बुद्धि से काम लेने वाले सदाचार की आत्मा को पहचानने वाले किन्तु अन्ध-विश्वास और बाह्य आडम्बर से दूर रहने वाले मनुष्य की अपेक्षा वह मनुष्य अधिक पुण्यात्मा समझा जाता है, जो ईश्वर में अपना विश्वास ज़ाहिर करता है, जो वास्तविकता से दूर रह कर भी बाह्याडम्बर में गलती नहीं करता। सेण्टजॉन, सेण्टपाल आदि धर्म के दिग्गज कहा करते थे—"परलोक में विश्वास करने वाले लोगों को स्वर्ग का आनन्द तो निस्सन्देह प्राप्त होगा ही, परन्तु स्वर्ग से भी अधिक आनन्द उन्हें, अपने मजहब को न मानने वाले, उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन करने वाले लोगों की यंत्रणा को देख कर होगा। तार्किक दार्शनिकों और ज्ञान-गर्व से चूर विद्वानों को धधकती हुई अग्नि के बीच जलते देख कर वे तो फूले न समाएंगे।

(३) स्वर्गापवर्ग के लोभ एवं नरक के भय के कारण समाज के अन्दर तीसरा भयंकर और गम्भीर नैतिक दुष्परिणाम यह हुआ कि लोक और परलोक के बीच एक जबर्दस्त विरोध उत्पन्न हो गया। धर्म की दृष्टि से यह संसार अनित्य है यह जीवन क्षणभंगुर है, यह लोक मिथ्या है, इसमें लिप्त होना, इसके सुखों में दिलचस्पी लेना, शरीर को आराम पहुँचाना नरक का

कारण है। पिता, पुत्र, पत्नी, भाई, बन्धु, कुटुम्ब परिवार आदि का प्रेम झूठा है। केवल ईश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित करना ही सत्य है। इस सिद्धान्त के अनुसार अज्ञान-जनता इस संसार से और इस शरीर से शत्रुता रखने, और येन केन प्रकारेण उसे कष्ट देने को ही पारलौकिक सद्गति का मूल कारण समझने लग गई। जो मनुष्य अपने शरीर को जितना ही कष्ट देता है, अनशन और कठिन तपस्या से उसे जितना ही,जीर्ण करता है ईश्वर उस पर उतना ही अधिक प्रसन्न होता है यह भ्रमभूलक विचार जनता में घर कर गया।

इसी सिद्धान्त के वश हो कर दुनिया के अन्दर हज़ारों, लाखों मनुष्यों ने अपने सुन्दर और आनन्दमय जीवन को अत्यन्त बीभत्स और कष्टपूर्ण बना डाला। कितने ही लोग अपने कुटुम्बियों को रोते हुए में छोड़ कर जंगल में चले गये। कितनों ही ने जान बूझ कर अपने शरीर को इतने भयंकर कष्ट दिये हैं जिन्हें सुन कर अब भी रोमाञ्च हो आता है।

भारतीय साहित्य में तो बड़े बड़े तपस्वियों और हठ-योगियों की तपस्या का वर्णन मिलता ही है। इस अमानुष भक्ति या तमोगुणी तपस्या का एक पश्चिमी उदाहरण भी सुनिए।

सेण्ट साइमन नामक एक साधु यूरोप में हुआ है। उसने अपने शरीर को एक रस्सी से इतनी दृढ़ता से बाँध रक्खा था कि वह उसके सारे शरीर में गड़ गई थी। बहुत दिनों तक इसी प्रकार रहने से रस्सी के चारों ओर का मांस सड़ गया। उसके शरीर से इतनी दुर्गन्ध निकलती थी कि आस पास वाले लोग उससे बेचैन हो जाते थे। जरा ही इधर उधर खिसकने पर

उसके शरीर से कीड़े गिरने लगे थे और उन कीड़ों से उसका विस्तर भर जाता था। उसने एक के वाद एक ऐसे तीन स्तम्भ वनवाये। अन्तिम स्तम्भ साठ फीट ऊँचा था और चोड़ाई में पूरा दो फीट भी न था। इस स्तम्भ पर जाड़ा, गर्मी और वरसात की कुछ भी परवाह न कर वह पूरे तीस वर्ष तक रहा। वह प्रायः चौवीस घंटे ईश्वर भजन में लीन रहता और हमेशा तेज़ी के साथ अपने मस्तक को घुमाता ही रहता। एक मनुष्य ने उसके सिर की गति को गिनना चाहा परन्तु इसमें वह असमर्थ रहा, वह इतनी तेजी के साथ सिर झुकाता था कि एक हज़ार दो सौ चवालीस पर्यन्त गिनते गिनते वह थक गया। वह पूरे एक वर्ष तक पैर पर खड़ा रहा। उसके दूसरे पैर में वड़े वड़े जख़म पड़ गये थे। उसका शिष्य आएटनी उसके समीप खड़ा रहता, और उसके शरीर से जो कीड़े गिरते उन्हें चुन चुन कर वापस उसके जख़म में रख देता था। ओफ़ कितनी अमानुष यन्त्रणा !

यह कैसा आश्चर्य कि जिस वस्तु के द्वारा जीवन की वृद्धि, उन्नति और विकास होता है धर्म की दृष्टि से वह अनुचित है और जिसके द्वारा जीवन का क्षय, ह्रास और नाश होता है वही नीतियुक्त है। यह परिभाषा सामाजिक सदाचार के बिलकुल विरुद्ध है। इससे समाज-व्यवस्था को एक बड़ा ही भयंकर और गंभीर धक्का पहुँचता है। समाज के व्यक्ति ईश्वर और धर्म की इस अप्रत्यक्ष और विचित्र कल्पना के फेर में पड़ कर अकर्मण्यता और नैराश्य में डूब जाते हैं। इससे उनकी आनन्दवृत्ति, काम करने की शक्ति और सारा उत्साह नष्ट हो जाता है। उनके जीवन का स्रोत शुष्क हो जाता है।

कहना न होगा कि इस प्रकार की नीति समाज के लिए अत्यन्त अनिष्ट और भयंकर है। लोक परलोक में दीवार खड़ी करने वाली इस नीति से भारत की जो असीम हानि हुई है उसका हिसाब लगाना असम्भव है। परलोक के चक्कर में पड़कर भारत प्रत्यक्ष जीवन की तरफ से उदासीन हुआ और इस पर बाहरी आपत्तियों के बादल उमड़े।

(४) एकेश्वर वाद का मानने वाला मनुष्य कहता है "ईश्वर दयालु है, परम अहिंसक है, निष्पक्ष है" पर जब हम सृष्टि का अवलोकन करने लगते हैं तो हमें यही संदेह होने लगता है कि आखिर इस सृष्टि का बनाने वाला कोई ईश्वर है या नहीं ? यहाँ तो एक जीव दूसरे जीव का आहार हो रहा है। चारों ओर संहार का हाहाकार सुनाई देता है। सृष्टी के जीवन को देखकर तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि यह किसी दयालु हाथ की बनाई हुई होगी। सारी सृष्टी एक प्रकार का रण-स्थल एक प्रकार की श्मशान-भूमि बनी हुई है। चारों ओर भयंकर से भयंकर दृश्य दिखलाई देते हैं। मनुष्य मनुष्य को बरबाद करने के लिए दिनरात तैयार रहता है, भाई भाई का रक्तपान करने को आतुर हो रहा है। प्लेग, महामारी और युद्ध दिन रात प्राणियों का संहार करते हैं। एक एक तैमूर, चंगेज़ और नादिर के आक्रमणों से नगर के नगर उजाड़ हो जाते हैं। हजारों सधवाएँ विधवा और सतियाँ सतीत्व-विहीन हो जाती हैं। माता की गोद से उन की आंखों के सामने उनके हंसते हुए मासूम बच्चे भालों की नोंक से छेद दिये जाते हैं। पुरुष स्त्रियों पर दिनरात जुल्म करते हैं। ब्राह्मण शूद्रों को, राजा प्रजा को, पूँजीपति मजदूरों को दिनरात

अत्याचार की चक्की में पीसते रहते हैं। माना कि यह एकतर्फा चित्र है पर दयालु परमात्मा की सृष्टि में इतना भी क्यों हो? कोई कहते हैं कि यह तो अपने पूर्वकर्मों का फल है। पर ईश्वर की सृष्टि में कुकर्म हों ही क्यों? कहते हैं, यह उसकी दिन रात की लीला है, यह उसका मनोरंजन है। पर यह विचित्र मनोरंजन कैसा? क्या वह प्राणियों को आनन्दित रखकर अपना मनोरञ्जन नहीं कर सकता।

और एक बात देखिए। इन भीषण घटनाओं को देख कर कभी किसी के दिल में भूल कर ईश्वर के प्रति अविश्वास हो गया तो उसको तीन जन्म में भी ये धर्मग्रन्थ क्षमा न करेंगे। राग, द्वेष से परिपूर्ण मनुष्य चाहे अपना अपराध करने वाले को क्षमा कर दे, पर ईश्वर के प्रति भूल कर भी यदि कोई अविश्वास कर ले तो इनके अनुसार पहले तो इसी जगत् में उसके फरिश्ते उसे माकूल सजा देंगे और उसके पश्चात्, जैसा कि कहा जाता है, कयामत के दिन भी उसे उसका जवाब देना होगा। चाहे मनुष्य दुनिया भर के सब पापों को कर ले मगर वह कह दे कि राम में खुदा में, ईसा-मसीह में उसका विश्वास है, तो उसका उद्धार हो जायगा। इसके विपरीत दुनिया भर के ज्ञान और सदाचार को प्राप्त करके भी उसने राम में विश्वास नहीं किया, तो उसका उद्धार नहीं होने का, उसे नरक की यन्त्रणा में सड़ना पड़ेगा। यह केवल कल्पना नहीं, कितने ही भावुक हिन्दू, मुसलमान और पादरिय के मुंह से हम ये दलीलें प्रतिदिन सुनते हैं।

ऐसी स्थिति में यह निश्चित करने में विलम्ब नहीं लग सकता कि ईश्वर की इस अपूर्ण कल्पना में ईश्वर-प्रेम का कितना अंश

है ? क्या कोई यह बात कह सकता है कि जितने ईश्वर को मानने वाले या धर्म का पालन करने वाले धार्मिक हैं, वे सब धर्म के सौन्दर्य से मुग्ध हो कर ही उसका पालन करते हैं ?

(५) ज्यों ही स्वाभाविक भक्ति का स्थान कर्म-काण्ड ने लिया लोग सत्य और अपने असली मत को छोड़ कर आडम्बर के अनुयायी हो गये,—मोहरों को लुटा कर कौड़ियों के पीछे मर मिटने के लिए झुके। सत्य क्या है, धर्म क्या है, न्याय क्या है, मनुष्यत्व क्या है, इस बात की अपेक्षा वह मनुष्य ब्राह्मण है, यह शूद्र है, इसको नहीं छुएंगे, उसकी छाया न पड़ने देंगे, इसका छुआ अन्न नहीं खाएंगे, उसकी लड़की से विवाह नहीं करेंगे, ऐसे उठेंगे, वैसे बैठेंगे, यों चलेंगे, यों सोवेंगे, अमुक तिथि को व्रत करेंगे, आज तो उपवास करेंगे, अमुक दिन गंगा नहाएंगे, अमुक दिन रोजा रक्खेंगे, अमुक समय पर मन्दिर जाएंगे, इत्यादि बातों की ओर ही उनका लक्ष्य दौड़ने लगा। वे समझने लगे कि झूठ बोलना, बेईमानी करना, बलात्कार करना, मनुष्य पर अत्याचार करना ये सब पाप जरूर हैं, पर इन सब की दवा है, और ईश्वर इनके लिए क्षमा कर सकता है। पर यदि उस बाहरी आडम्बर में, उस विधि-विधान में तनिक भी त्रुटि हो गई तो फिर कहीं खड़े होने को जगह नहीं रहेगी।

इसका परिणाम यह हुआ है कि लोग उन बड़ी बड़ी बात और सत्य सिद्धान्तों की ओर से—जिन से समाज की रक्षा और उसकी उन्नति होती है—तो उदासीन हो गये और इन आडम्बरों के पीछे अपना सर्वस्व खोने लगे। भारतवर्ष इस प्रकार के उदाहरणों का केन्द्र है। यहां के लोग

शूद्रों के साथ बैठने को, विधवाओं का विवाह करने को, जाति-पांति के भेदभाव मिटाने को, जितना भारी पाप समझते हैं उतना शूद्रों पर भीषण अत्याचार करने को, विधवाओं के व्यभिचार और भ्रूणःहत्या को, धर्म छोड़ कर विधर्मी वन जाने को इतना पाप नहीं समझते। वे गंगास्नान, पण्डों और महन्तों को खिलाने में, मन्दिर बनवाने में, विवाहादि में लाखों रुपया बरबाद कर देना जितना आवश्यक समझते हैं उतना देशभक्ति में, मनुष्य जाति के उपकार में, विधवाओं और अनाथों की सहायता में, शिक्षा-प्रचार में देना आवश्यक नहीं समझते।

(६) मानव समाज बौद्धिक प्रगति की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में होने के कारण अलग अलग देश और अलग अलग जातियों ने भिन्न भिन्न समय अलग अलग न जाने कितने ईश्वर उत्पन्न कर लिये। इस प्रकार ईश्वरों की भिन्न भिन्न और अपूर्ण कल्पना का परिणाम यह हुआ कि मनुष्य जाति कई प्रकार के भिन्न भिन्न भागों में विभक्त हो गई। देश, काल, परिस्थिति विषयक भेद तो पहले था ही, यह धर्म विषयक एक नया और जबर्दस्त भेदभाव और खड़ा हो गया। फिर ईश्वर प्राप्ति की इस कल्पना ने अज्ञान जनता में ऐसा जोश और इतनी धर्मान्धता फैला दी कि वे अपनी इस आध्यात्मिक सम्पत्ति को बांटने लगे और न लेने वाले को जबरदस्ती भी देने लगे। वे दूसरों के ईश्वर और उसके अनुयायियों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। हिन्दुओं का ईश्वर मुसलमानों की दृष्टि में काफ़िर हो गया, ईसाइयों के ईश्वर को हिन्दू पतित समझने लगे। सनातन धर्मी बौद्धों को नास्तिक कहने लगे, बौद्ध सनातन

धर्मियों को मूर्ख बतलाने लगे। इस प्रकार ईश्वर की इन भिन्न भिन्न कल्पनाओं से सारी दुनिया में मतभेद का एक जबर्दस्त पहाड़ खड़ा हो गया। इस मतभेद में तर्क, वितर्क और सिद्धान्त न था प्रत्युत शुरू से अन्त तक हठ और दुराग्रह भरा हुआ था। इसलिए यह मतभेद, विचार तक ही परिमित न रहा, मारकाट और रक्तपात की नौबत भी आ पहुँची। जिस ईश्वर के अनुयायी बलवान् और सबल थे उन्होंने एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में धर्म पुस्तक लेकर दूसरे ईश्वर के कमजोर अनुयायियों पर आक्रमण कर दिया, पहले युद्ध हुए, रक्तपात हुए, फिर अत्याचार हुए। गांव के गांव जलाये गये। हजारों लाखों मनुष्य गुलाम बना लिये गये। हजारों सतियों का सतीत्व भ्रष्ट किया गया। यह सब काम ईश्वर और धर्म-प्रचार के नाम पर घटित हुआ। दुनिया के धर्मों का इतिहास हत्या रक्तपात और मनुष्य की रक्त पिपासा का इतिहास है। शायद इसीलिए प्रसिद्ध विद्वान् वाल्टेअर ने कहा है कि—"ईश्वर को प्यार करना और मनुष्य से घृणा करना ही शायद सब धर्मों के सिद्धान्तों का सार है।"

धर्म की यह संकीर्णता मनुष्य के हृदय में रहने वाली सहानुभूति, प्रेम और करुणा की भावनाओं को समूल नष्ट कर उसके हृदय को उद्दण्डता और जिहालत से ओतप्रोत भर देती है। उदार से उदार और दयालु मनुष्य भी इसके फेर में पड़ कर महा निष्ठुर और कुटिल हो जाता है। इसी सङ्कीर्ण भावना के वश होकर ब्राह्मणों के समान उदार सात्विक जाति ने भी जो भीषण अत्याचार किये हैं उन्हें सुनकर आज भी रोमाञ्च हो आते हैं। इसी संकीर्णता ने रामचन्द्र के समान उदार, दयालु

और परोपकारी राजा के हाथ से शूद्रक के समान परम सात्विक राजा का वध करवाया। पवित्र लोगों तक को इस मजहब ने इतना निष्ठुर बना दिया तब साधारण लोगों की बात ही क्या? इसी नाशक धर्माभिमान ने निरपराध शूद्रों के कानों में केवल इसलिए खीले ठुकवाये थे कि उनके कानों पर कहीं वेद-मंत्र की झंकार न पड़ जाय। दयालु ईश्वर के नाम पर यज्ञ की बलिवेदी पर पवित्र पुरुषों के हाथ से हजारों मूक पशु तलवार के घाट उतार दिये जाते थे। इसी धर्म की रक्षा के नाम पर मन्सूर के समान मस्ताने की खाल उधेड़ी गई, इसी अपूर्ण धर्म के नाम पर यूरोप में इन्क्वीजीशन नामक धार्मिक अदालत की मध्ययुग में स्थापना हुई थी जिसकी रोमाञ्चकारी कहानियाँ पढ़ कर आज भी कलेजा काँप जाता है। जरा नमूना देखिए।

इन्क्वीजीशन एक प्रकार की धार्मिक अदालत थी। इसमें न्यायासन पर पादरी लोग काम करते थे। इस अदालत पर किसी प्रकार की अपील नहीं थी। जो लोग रोमन कैथलिक मजहब को नहीं मानते थे, उसमें अविश्वास करते थे, या उसके विधानों में किसी प्रकार की शङ्का करते थे, या पोप की आज्ञाओं का उल्लंघन करते थे, वे अपराधी करार दिये जाकर इस अदालत में विचारार्थ पेश किये जाते थे। पादरी लोग उनके लिए दण्ड की व्यवस्था देते थे। इस अदालत के विधान के अनुसार थोड़ा सा सन्देह होते ही मनुष्य गिरफ्तार कर लिया जाता था. और जब तक वह अपना अपराध स्वीकार न कर लेता तब तक नाना प्रकार की यंत्रणाओं के द्वारा सताया जाता था। इस प्रकार यंत्रणाएँ पहुँचाने के लिए कई यंत्र भी तैय्यार किये गये थे।

इनमें "रैक" "कॉलर ऑफ टौरचर" और "स्कैवेंजर्स रोटर" नामक यंत्र बहुत मशहूर थे। इन यंत्रों में अपराधी को फिर वह नवयुवक, वृद्ध या कोमलाङ्गी युवती ही क्यों न हो-नङ्गा करके फंसा दिया जाता था और फिर इन्हीं के द्वारा उसे भीषण यंत्रणा दी जाती थी।

रैक अभियुक्तों के अङ्गों को खींचने का एक यंत्र था, इस यन्त्र के द्वारा अभियुक्त की उँगलियाँ, हाथ, पैर तथा और अङ्ग खींचे जाते थे। कभी इस खिंचाव में आकर ये अङ्ग उखड़ भी जाते थे। इससे मनुष्य को भीषण यंत्रणा होती थी। 'कॉलर ऑफ टौरचर' एक दूसरा भीषण यंत्र था। इसमें एक कॉलर रहता था जिसमें सैकड़ों सुइयाँ लगी रहती थीं, यह कॉलर अविश्वासियों के गले में लगाया जाता था। जिससे वे लोग अपनी गर्दन, इधर उधर नहीं हिला सकते थे। इधर उधर हिलाते ही वे सुइयाँ उन के चुभने लगती थीं। अन्त में कुछ समय बाद उसकी गर्दन सूज जाती और वह मौत का मेहमान हो जाता था। इसी प्रकार 'स्कैवेन्जर्स रोटर' एक कैंची की तरह होता था, इसमें अपराधी के हाथ पैर और सिर को कसने के अलग अलग खांचे बने होते थे। इस यंत्र में अपराधी के हाथ, पाँव, और सिर फँसा कर कस दिये जाते थे, जिससे वह जैसा का तैसा जड़ वस्तु की तरह कस जाता था। अन्त में उसके हाथ-पैर जीवनी-शक्ति-हीन हो जाते थे। कई लोग तो इसी में बड़े कष्ट के साथ अपने जीवन का अन्त कर देते थे।

इन भीषण यंत्रणाओं से दुःखी होकर अपराधी और बहुत से निरपराधी भी अपराधों को स्वीकार कर लेते थे। बस स्वीकार

करते ही वे लोग 'स्टेक' से बांध कर जीते ही जला दिये जाते थे। यहां पर यह बतला देना आवश्यक है कि अपराध को सिद्ध करने के लिए केवल दो गवाहों का प्रमाण काफी समझा जाता था।

इन्क्वीजीशन से सजा पाए हुए मनुष्य एक एक कर के नहीं जलाए जाते थे। बल्कि बहुत से इकट्ठे हो जाने पर एक साथ जला दिये जाते थे। जो दिन इनको जलाने के लिए निश्चित होता था उस दिन सब लोग त्यौहार मनाते थे। स्वयं बादशाह भी ठाट-बाट के साथ इस अवसर पर उपस्थित होते थे। निश्चित समय पर सब अपराधी कैदखाने से बाहर निकाले जाते थे। सब कैदियों के बदन पर एक पीले रँग का अँगरखा रहता था इस वस्त्र पर भूत-प्रेतादि के बीभत्स चित्र बने हुए रहते थे। उनके सर पर एक त्रिकोणाकार बहुत ऊँची टोपी लगी हुई रहती थी। नियत स्थान पर पहुँच जाने पर सब अपराधियों की जिव्हाएँ कस कर बांध दी जाती थीं। इसके पश्चात् नाना प्रकार के व्यञ्जनों से भरे हुए थाल उनके सामने लाये जाते थे, और उन्हें व्यङ्ग पूर्वक जठराग्नि शान्त करने के लिए कहा जाता था। इस के पश्चात् प्रधान पादरी का भाषण होता था, जिसमें वह इन कैदियों को मन भर के गालियाँ देता था। अनन्तर वे सब कैदी एक चबूतरे पर चढ़ाये जाते थे, जहाँ कि जल्लाद उन्हें धधकती हुई अग्नि में डालने के लिए प्रस्तुत रहते थे। जो अपराधी अंतिम समय तक अपने विचारों पर दृढ़ रहते थे वे तो जिन्दा ही आग में फेंक दिये जाते थे। मगर जो इन भीषण यंत्रणाओं से घबरा कर अपने दोष को स्वीकार कर लेते थे, उन्हें पहले गला दबा कर

मार डाला जाता था और फिर उनका शव आग में फेंक दिया जाता था।

जो लोग बाइबिल को किसी भी भाषा में पढ़ लेते, जो लोग पोप की आज्ञाओं में किसी प्रकार का तर्क वितर्क कर लेते अथवा जो गिरजे में न जा कर घर पर ही ईश्वर की आराधना कर लेते वे सब अभागे इसी प्रकार कत्ल किये जाते थे। एक मनुष्य ने कुछ धार्मिक भजनों की नकल कर ली थी इस अपराध में उसका शरीर एक भोथरी तलवार से टुकड़े टुकड़े कर दिया गया।

ये सब अत्याचार—जिनके वर्णन को सुनकर शैतान की आत्मा भी कांप उठती है—प्रभु ईसामसीह के—जिनकी दया और क्षमा की कहानियां जगत् में मशहूर हो रही हैं—और ईसाई धर्म के नाम पर हुए हैं। अपने पहले ही वर्ष में इस अदालत ने केवल एक प्रांत में दो हज़ार यहूदियों को स्टेक से बांधकर जिन्दा जला दिया। इसके सिवाय इसके भय से भयभीत हो कर हज़ारों यहूदियों ने स्वयं ही आत्मघात कर लिया। लौरण्टी का कथन है कि अकेले टौर्की तेडा नामक राजा ने अपने राजत्व-काल के अठारह वर्षों में एक लाख चौदह हज़ार चारसौ एक कुटुम्बों का सर्वनाश किया। इसके अतिरिक्त पंचम चार्ल्स के राजत्वकाल में एक लाख से अधिक अविश्वासियों को प्राण दण्ड दिया गया। मतलब यह कि इस इन्कीजीशन से तथा ईसाई सम्प्रदाय के पारस्परिक कलह के द्वारा एक करोड़ से अधिक आदमियों की मृत्यु हुई। इसके अतिरिक्त इस बलिवेदी पर अप्रत्यक्ष रूप से कितनी जानें दी गई होंगी इसका कौन अंदाज कर सकता है!

यह वर्णन अकेले ईसाई धर्म का है। इसी प्रकार की घटनायें न्यूनाधिक रूप से प्रत्येक मजहब के अन्दर हुई हैं। इसी मजहब के नाम पर मुसलमान लोगों ने जो खून की नदियाँ बहाई हैं उसकी कौन गणना कर सकता है? इसी मजहब के नाम पर शैव और वैष्णवों में, हिन्दू और बौद्धों में जो घात प्रतिघात चला है, जो गुप्त षड्यन्त्र चले हैं, उनका अनुमान कैसे लग सकता है? युद्धों के द्वारा, बिमारियों के द्वारा दुनियाँ में जितनी मौतें हुई हैं, उससे अधिक हत्याएँ मजहब और ईश्वर के नाम पर हुई हैं।

इसका कारण यह नहीं है कि, ईसाई, बुद्ध, महावीर, अथवा अन्य धर्म संस्थापकों की ऐसी आज्ञा थी। उनकी आज्ञाएं चाहें कितनी ही उदार रही हों, पर अज्ञानी लोगों के हाथों में जाते ही उनका रूप दूसरा हो जाता है। अनुयायी लोग स्वभावत: ही संकीर्ण होते । इन लोगों का विश्वास रहता है कि केवल हमारा ही धर्म ईश्वर-प्रणीत है, हमारा ही ईश्वर सब की रक्षा करता है, हमारे धर्मग्रन्थ ईश्वर प्रणीत हैं, शेष सब झूँठे हैं। इस लिए जो लोग हमारे मजहब के विरुद्ध लिखते पढ़ते या आचरण करते हैं वे हमारे और ईश्वर के अपराधी हैं। ऐसे पापियों के भार से दुनियां को हलका करने में कोई पाप नहीं है। इस प्रकार का विश्वास जहाँ पर प्रचलित हो, वहां यदि हत्या और रक्तपात के भीषण से भीषण दृश्य दिखाई दें तो क्या आश्चर्य?

(७) पाठकों को यह जान कर बड़ा आश्चर्य होगा कि गुलामी और दासता के घृणित व्यापार का जन्म भी धर्म से ही होता है। धर्मान्ध लोग समझते हैं कि

हमारे सिवाय दुनिया में जितनी असभ्य जातियाँ हैं वे सब हमारे उपयोग के लिए ईश्वर ने पैदा की हैं, अहा। ईश्वर भी कितना न्यायी और दयालु है। उसे अपने भक्तों का कितना खयाल रहता है। इसी विचार के फल-स्वरूप भारतवर्ष में आकर आर्यों ने यहाँ की मूल-जातियों को अपना गुलाम और सेवक बना लिया। उन्हें अनार्य, राक्षस, दस्यु के नाम से सम्बोधित किया। इन पर यहाँ कितने भयंकर जुल्म हुए हैं वे इतिहास के पृष्ठ पर अङ्कित हैं, उन्हें बार बार दोहराने की आवश्यकता नहीं। और इसी विचार के फल-स्वरूप यूरोप में इससे भी अधिक भयंकर गुलामी की प्रथा का आविर्भाव हुआ। सेण्ट आगस्टाइन तथा और और क्रिश्चियन साधुओं ने इस गुलामी की प्रथा का समर्थन किया है। इन गुलामों के ऊपर कैसे कैसे भीषण अत्याचार होते थे इसका हृदय-विदारक वर्णन अमेरिका की एक लेखिका ने अपने 'टाम काका की कुटिया' नामक उपन्यास में किया है। ये अभागे पशुओं की तरह खरीदे और बेचे जाते थे। बहुतसे पादरी भी इन गुलामों को रखते थे। जब ये एक देश से दूसरे देश में भेजे जाते, तब बड़ी बड़ी हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ डाल कर उन्हें जहाज के नीचे के खण्ड में ठूँस दिया जाता था। अत्यन्त दुःखी होकर ये मृत्यु की कामना करते थे, मगर इनको मरने भी नहीं दिया जाता था। यदि ये खाना नहीं खाते तो एक यंत्र के द्वारा इनका मुँह फाड़ कर उसमें खाना डाल दिया जाता था। व्यायाम के लिए इन्हें हथकड़ी-बेड़ी पहने ही उछलने कूदने की आज्ञा दी जाती थी। यदि ये इस प्रकार व्यायाम न करते तो चाबुकों से इनकी खबर ली जाती थी, चाबुक लगते ही ये उछलते जिससे उनका व्यायाम हो जाता था।

इन गुलामों को यन्त्रणा देने या इनकी हत्या कर डालने के विरुद्ध कोई कानून न था। यदि गुलाम के हाथ से भोजन जल जाता तो उनकी मालकिन उसे चूल्हे में झोंक देती, शक्कर की चासनी में कोई ग़लती होती तो उसका मालिक उसे उस चाशनी की कढ़ाय में डाल देता। मुँहजोरी करने के अपराध में गुलाम कुत्तों से नुचवाया जाता। और इसके लिए कानून में कोई सज़ा न थी। बहुत से लोग तो अपनी टोपियों को इन गुलामों के रक्त से रङ्गते थे और उनका मेजा निकालकर उसका साबुन बनाते थे। कई लोग अपने मनोरञ्जन के लिए इनकी हत्या करते थे। एक मनुष्य ने सिर्फ अपने विनोदार्थ नदी में रहने वाले घड़ियालों का तमाशा देखने के हेतु एक गुलाम उसकी पत्नी और और उसके बच्चों को नदी में डाल दिया था। बहुत से श्वेताङ्ग, ईसाई, रेडइण्डियनों के बच्चों का निशाना ताक ताक कर बन्दूक चलाने का अभ्यास कराते थे।

ये सब घटनाएँ दब छिपकर नहीं प्रत्युत खुले आम होती थीं। इसका कारण धर्मान्धों का यह विश्वास था कि हम खुदा के प्यारे हैं और ये लोग हमारे उपभोग के लिए ही पैदा हुए हैं।

ईश्वर और मजहब के नाम पर दुनियां में जो अत्याचार घटित हुए हैं उन सब का वर्णन करने के लिए एक ग्रंथ ही की नहीं प्रत्युत एक स्वतन्त्र साहित्य की आवश्यकता है। फिर भी इतना वर्णन इस बात को सिद्ध करने के लिए काफी है कि मजहब की संकीर्णता अब तक सैद्धांतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से समाज के लिए कितनी भयंकर साबित हुई है। समाज में जब तक इस संकीर्ण मजहब का अस्तित्व है, तब तक उस समाज में

सामाजिकता और राष्ट्रीयता पैदा नहीं हो सकती, तब तक उसमें विश्वप्रेम, सहानुभूति और करुणा के भावों को आश्रय नहीं मिल सकता। तब तक उसमें से भेदभाव, जातिपांति, छूआछूत और ऊँच नीच की भावनाएँ नष्ट नहीं हो सकतीं। मतलब यह कि तब तक वह उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता।

इसका प्रत्यक्ष उदाहरण यूरोप है। जब तक वहाँ पर इस अपूर्ण मज़हब का बोलबाला रहा तब तक वहां की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। लोग मानसिक गुलामी के एक अज्ञात बन्धन में जकड़े हुए थे। वे स्वाधीनता पूर्वक सोच नहीं सकते थे। बोल नहीं सकते थे। लिख नहीं सकते थे। एक मशीन की तरह उन्हें काम करना पड़ता था। उस समय का जीवन साहित्य, भाव और भाषा भी निर्जीव थी। उस समय यूरोप में आज कल की तरह रोज नये आविष्कार न होते थे। पर जब यूरोप के निवासियों ने मज़हब के बन्धनों को ताड़ दिया। उसने स्वाधीनता के वायु-मण्डल में एक खुली सांस ली, तभी से वहां पर एक नवीन जीवन-स्रोत का प्रादुर्भाव हुआ, वहां का साहित्य एकदम प्रकाशमान हो गया, वहां के भाव और वहां की भाषा एकदम सजीव हो उठी। वहां का ज्ञान उत्साहित हो उठा। दुनिया को आश्चर्य्य में डालने वाले आविष्कार वहां नित्य होने लगे। और यद्यपि आज यूरोप साम्राज्य वाद और विकृत विज्ञान तथा सैनिक प्रबलता के कारण पिस रहा है तथापि आज वह संकीर्ण धार्मिकता से तो निःसन्देह छूट गया है।

दूसरा उदाहरण टर्की का लीजिए। जब तक वहां खुदा, खिलाफत और मज़हब का एक तंत्री साम्राज्य था तब तक वहां

की जनता दुनिया की पिछड़ी हुई जनताओं में से एक मानी जाती थी। तब तक वहां का जीवन एक गुलाम जीवन हो रहा था। पर ज्यों ही कर्म्मवीर कमाल पाशा ने उस मज़हबी इन्द्रजाल को तोड़ कर नष्ट भ्रष्ट कर दिया, ज्यों ही वहां की ख़िलाफत का अन्त हुआ, ज्यों ही वहांके विकृत मजहब के ताने बाने बिखर गये, वहां पर ज्ञान और स्वाधीनता का सूर्य्य अपनी पूर्ण प्रतिभा से एक साथ चमकने लगा। त्योंही राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से उसका आसन दुनिया के उन्नत राष्ट्रों की श्रेणी में हो गया। यह परिवर्तन इतना शीघ्र और एकाकी हुआ कि दुनिया इसे देख कर आश्चर्य्य और विस्मय से अभिभूत हो गई।

सच बात तो यह है कि ईश्वर विषयक अपूर्ण कल्पना और अपूर्ण मज़हब ज्ञान और आनन्द के पूरी तौर से शत्रु होते हैं। क्योंकि इन अपूर्ण वस्तुओं के कर्त्ताओं का यह निश्चित विश्वास रहता है कि जब तक मनुष्य जाति अज्ञान और नैराश्य में है, जब तक उसमें सोचने और समझने की शक्ति का उदय नहीं होता है, तभी तक उसे उस अपूर्णता का भान नहीं हो सकता। ज्ञान और आनन्द का उदय होते ही मनुष्य-जाति इनकी अपूर्णता से अपरिचित नहीं रह सकती, और अपूर्णता से परिचय होते ही इनका पटरा बिखरने में देर नहीं लग सकती।

मनुष्य-जाति को ज्ञान और आनन्द के लाभ से वंचित रख कर अपने क्षुद्र अस्तित्व की रक्षा करने के लिए मज़हब ने कितना घृणित प्रयत्न किया है। जो जो जातियां इसके फौलादी पंजे में फँस गईं उनका सर्वस्व नष्ट हो गया है। उनका ज्ञान, उनका आनन्द उनका वैभव, उनकी स्वाधीनता, उनका मनुष्यत्व सब

परलोक के धुंधले प्रकाश में नष्ट हो गये हैं। उनका जीवन निर्माल्य हो गया, दिन रात गुलामी के कीचड़ में रहते रहते उनका अस्तित्व जड़ हो गया है। हज़ारों वर्षों से ये जातियां राजनैतिक दृष्टि से दूसरों की और सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से अपने आपकी गुलामी कर रही हैं। मगर फिर भी उन्हें अपनी दुर्दशा का भान नहीं है। दुःख हो रहा है, असह्य यंत्रणा हो रही है, बेचैनी के मारे तड़फ रहीं हैं, फिर भी निरुपाय हैं। मनुष्य-जाति का यह कितना भारी अधःपतन है।

वास्तव में हम धर्म और ईश्वर-भक्ति के विरोधी नहीं हैं उसने मानव-समाज को ऊँचा उठाने में जितना काम किया है उससे कोई इन्कार नहीं कर सकता परन्तु साथ ही समाज में धर्म के नाम पर जो अधर्म और अज्ञान फैला हुआ है वह भी तो भयंकर है और एक सामाजिक बुराई की दृष्टि से हमें उसकी निन्दा करना प्राप्त है। हमारी समझ में यह नहीं आता कि जहां एक ओर छोटे छोटे प्राणियों तक के प्रति दया, अहिंसा आदि के भावों की शिक्षा दी जाती है तहां अन्य धर्मियों के प्रति इतनी असहिष्णुता कैसे बरदाश्त की जा रही है? भक्ति नाम पर इतना पाखण्ड समाज में कैसे फैला हुआ है। समाज के नेताओं को चाहिए कि वे इन महत्त्व पूर्ण प्रश्नों पर ध्यान पूर्वक विचार करें और अपने अपने धर्मों को अब ऐसा रूप दें जिससे वास्तव में मानव-समाज का कल्याण हो जिससे मनुष्य संसार को और अपने जीवन को एक आफत नहीं परमेश्वरी देन समझ कर अपने अन्य भाइयों और प्राणियों की सेवा करने ही में अपने जीवन धर्म की कृतार्थता समझे।

चौथा अध्याय

दर्शनप्रणीत अध्यात्मवाद

ईश्वरवाद का विकास दर्शन प्रणीत अध्यात्मवाद में होता है। जब समाज के विचारक लोग ईश्वर के स्वरूप पर विचार करने लगते हैं और उनको इस तत्त्व के गर्भ में रही हुई कमजोरी दृष्टिगोचर होने लगती है तब वे बड़े निराश होते हैं और स्वतन्त्र रूप से जगत् के आदि कारण की खोज करके समाज रचना के लिए उपयोगी तत्त्व का आविष्कार करते हैं। इनके विचारों का संग्रह "दर्शन शास्त्र" कहलाता है और इसीलिए वह धर्म दर्शन-प्रणीत धर्म कहलाता है।

ईश्वरवाद की अपेक्षा यह धर्म बहुत अधिक विकसित होता है। इसमें आत्मा, पुनर्जन्म, सृष्टि, ईश्वर, आदि सभी बातों पर गम्भीरतापूर्वक विचार होता है। प्रत्येक विषय को अन्धश्रद्धा से प्रेरित होकर नहीं प्रत्युत तर्क और विज्ञान से सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है जो बात तर्क और विज्ञान की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती वह फौरन अस्वीकृत कर दी जाती है, फिर चाहे मानव-जाति के मनोभावों में उसके प्रति कितनी ही अनुकूलता क्यों न हो। इसी भाव से प्रेरित होकर तत्कालीन समाज में ईश्वर के अनुकूल बहुमत का अस्तित्व जानते हुए भी मुनिवर कपिल ने अपने सांख्य दर्शन में ईश्वर को स्पष्ट रूप से असिद्ध साबित कर दिया है (ईश्वरासिद्धेः)। इसी भावना से प्रेरित

हो कर महा मुनि कणाद ने सृष्टि रचना की जड़ में से ईश्वरवाद को हटा कर परमाणुवाद को प्रतिष्ठित किया है। इसी प्रकार प्रकृति वाद, आत्मवाद, कर्मवाद, अद्वैतवाद, सदाचारवाद, आदि भिन्न भिन्न तर्कसिद्धवादों का जन्म इस दर्शन प्रणीत धर्म में से होता है। इस धर्म में शुद्ध श्रद्धा और शुद्ध बुद्धि का उपयोग किया जाता है। इसकी जड़ में किसी प्रकार के दुराग्रह, हठवाद, और बलात्कार को स्थान नहीं रहता।

नैतिक दृष्टि से भी यह धर्म बड़ा महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक प्राणी आत्मा है, अतः आत्मा की दृष्टि से संसार में सब को समान अधिकार है-समान रूप से जीने का हक़ है। इसलिए हर एक में आत्मभाव रखना ही मनुष्य का परम कर्तव्य है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य आदि बातें मनुष्य के शरीर आत्मा और बुद्धि को शुद्ध करने वाली हैं; इन बातों से मनुष्य के आनन्द की वृद्धि होती है, इसलिए इनका पालन करना चाहिए इत्यादि नीति मूलात्मक सिद्धान्त इस धर्म में रक्खे गये हैं। पर मज़हब वाद की तरह इस धर्म में भय दिखला कर इन सिद्धान्तों का पालन नहीं करवाया जाता, प्रत्युत तर्क के आधार पर इनका सौन्दर्य्य परिस्फुट करके इनकी ओर मनुष्य जाति को आकर्षित किया जाता है। ईश्वरवाद की और इसकी नीति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भेद यह है कि उसका अस्तित्त्व निषेधात्मक (Negative) नीति पर है और इसका स्वीकारात्मक नीति (Positive) पर।

सामाजिक दृष्टि से भी यह धर्म बहुत महत्त्वपूर्ण है। सामाजिक सदाचार और बन्धुत्व के सिद्धान्तों का इसमें बहुत उपयोग किया जाता है।

इतना सब कुछ होने पर भी व्यावहारिक दृष्टिसे इस धर्म में एक बहुत बड़ी त्रुटि पाई जाती है। वह यह कि यह धर्म केवल संसार के चुने हुए मुट्ठी भर विद्वानों का ही हो सकता है, सर्व साधारण का नहीं। इस भयङ्कर व्यावहारिक त्रुटि ने आज तक इस धर्म को सर्वव्यापी न होने दिया। इस धर्म के तत्त्व इतने गूढ़, गम्भीर और कठिन होते हैं कि साधारण मनुष्य की बुद्धि इसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सकती। दूसरी एक और त्रुटि इस धर्म में यह है कि यह भी अभीतक अपूर्ण है। बड़े-बड़े दार्शनिकों ने इसके तत्त्व को समझने का प्रयत्न किया पर इन तत्त्वों का एक निश्चित और सत्य रूप अभी तक निश्चित न हो सका। दर्शन-शास्त्र के मुख्य विषयों का जैसे आत्मा, पुनर्जन्म, सृष्टि, ईश्वर, आदि का सर्व मान्य सिद्धान्त अभी तक कोई नहीं निकाल सका। सभी लोग एक कल्पित और अप्रत्यक्ष वस्तु के पीछे दौड़ने को कहते हैं, पर उस अप्रत्यक्ष में अन्धकार के सिवाय प्रकाश की एक रेखा भी नहीं दिखलाई देती। दार्शनिक धर्मों में अद्वैत वेदान्त सब से अधिक विकसित धर्म माना जाता है और सचमुच उसके सिद्धान्त हैं भी बड़े गम्भीर सुन्दर पर वे भी अभी तक सर्वमान्य नहीं हो सके हैं। क्योंकि वेदान्त भी प्रत्यक्ष के पीछे नहीं प्रत्युत एक सुन्दर कल्पना के पीछे दौड़ रहा है।

मतलब यह कि दर्शन प्रणीत आध्यात्मिक धर्म अधिक वैज्ञानिक और अधिक नैतिक होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से बहुत अपूर्ण है यह धर्म मुट्ठी भर विद्वानों का धर्म हो सकता है विश्वव्यापी धर्म होने के गुण इसमें नहीं है ?

पांचवां अध्याय

धर्म कैसा हो ?

धर्म की उपर्युक्त अपूर्णताओं पर मनन करने पर यह एक मुख्य तत्त्व दृष्टिगोचर होता है कि जो धर्म एक अप्रत्यक्ष और अगोचर कल्पना के पीछे चलता है वह पूर्णतः प्रामाणिक नहीं हो सकता। यह सत्य है कि तर्कशास्त्र में से अनुमान-प्रमाण का बहिष्कार नहीं किया जा सकता, और न इस प्रमाण की आवश्यकता ही नष्ट हो सकती है; यह भी सत्य है कि प्रकृति की बहुतसी शक्तियाँ और बहुत से नियम अपना अस्तित्व रखते हुए भी—अभीतक मानव दृष्टि से अप्रत्यक्ष हैं, इसके साथ यह भी चाहे सत्य हो कि मनुष्य जीवन का अन्त यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता, आगे भी उसका अस्तित्व है, और सम्भव है यहां के किये हुए भले बुरे कामों का अच्छा बुरा फल उसे अन्यत्र भोगना भी पड़े। फिर भी इन सब बातों को स्वीकार करते हुए भी, इनकी बलिवेदी पर प्रत्यक्ष सत्यों का-ठोस दैनिक जीवन का—बलिदान देना सरासर गलत है, अन्याय है।

इसलिए यह आवश्यक है कि समाज में ऐसे धर्म का आविष्कार हो जो अधिक से अधिक प्रामाणिक हो। जिसका आधार किसी अप्रत्यक्ष और अगोचर कल्पना पर नहीं प्रत्युत प्रत्यक्ष सत्य पर हो। यह धर्म श्रेय और प्रेय गुणों से युक्त तथा शुद्ध श्रद्धा और शुद्ध बुद्धि से ओतप्रोत हो। अच्छा हो यदि इसका

प्रधान लक्ष्य सदाचार और इसका मुख्य देवता मनुष्य माना जाय। इससे अधिक सौभाग्य की बात मनुष्य जाति के लिए दूसरी नहीं हो सकती कि वह स्वाभाविक रूप से सदाचार की उपासक हो जाय और मनुष्य का मनुष्य के प्रति कर्त्तव्य है उसे भली प्रकार समझ ले। धर्म का इससे दूसरा सुन्दर आदर्श नहीं हो सकता। यदि यह आदर्श मनुष्य-जाति प्राप्त कर ले तो उसे फिर स्वर्ग के लिए तपस्या करने की या उसे पकड़ने के लिए चेष्टा करने की आवश्यकता न पड़े। उस समय तो स्वयं स्वर्ग ही इस मर्त्यलोक में उसका दर्शन करने के लिए उतर आवेगा। उस समय धर्मगुरुओं को परलोक की दुहाई देकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य आदि का उपदेश देने की आवश्यकता न पड़ेगी, उस समय ये सब बातें मनुष्य का स्वाभाविक धर्म हो जायंगी, यदि परलोक नाम की कोई वस्तु होगी भी तो ऐसे मनुष्यों को अनायास ही वहां स्थान मिलेगा।

अब हम यह देखना चाहते हैं कि कौनसा धर्म मनुष्य जाति के लिए अभीष्ट और अभिनन्दनीय हो सकता है। हमारे ख़याल से ऐसे धर्म में निम्नांकित गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है।

(१) मानव-जाति में समष्टिगत होने वाले धर्म में सबसे पहला यह गुण होना चाहिए कि वह किसी भी अंश में शक्ति का विरोधी न हो। मनुष्य के अन्तर्गत कई शक्तियाँ तो सद्गुणों के रूप में रहती हैं मगर बहुत सी शक्तियाँ ऐसी भी रहती है जो काम, क्रोध, मद, मोह आदि दुष्प्रवृत्तियों के रूप में रहती हैं। अभी तक के धर्म इस प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों को दबोच डालने का उपदेश देते आ रहे हैं। इस प्रकार के उपदेशों से अब तक

मनुष्य-समाज की कितनी बहुमूल्य शक्तियाँ नष्ट हुई होंगी इसका अनुमान करना भी कठिन है। यही दुष्प्रवृत्तियाँ समय आने पर सत्-प्रवृत्तियों के रूप में बदली जा सकती हैं, और उनसे दुनिया के बड़े बड़े काम संपन्न हो सकते हैं। इनका मार्ग-परिवर्त्तन करने की उनका समुचित विकास करने की आवश्यकता होती है। धर्म का प्रधान कार्य यही होना चाहिए कि वह मनुष्य के अन्तर्गत भिन्न भिन्न रूप में रहने वाली इन शक्तियों को सात्विक ओज में परिणत कर दे। न कि इनके भयंकर रूप से दुनिया को भयभीत करके उनको बिलकुल ही नष्ट कर डाले। शक्ति का सदुपयोग ही धर्म का अन्तिम लक्ष्य है।

(२) दूसरी विशेषता इस धर्म में यह होनी चाहिए कि इसके सिद्धांत निष्काम कर्म की नीति से ओत प्रोत हों। सकाम धर्म का क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण रहता है। इस धर्म की भित्ति प्रेम की अपेक्षा स्वार्थ पर अधिक रहती है। एक स्थिति में जहाँ इस धर्म से कुछ लाभ हो सकता है, वहाँ दूसरी स्थिति में इसी से बड़ी भयंकर हानियाँ मी हो जाती हैं। ऐसे धर्म से मनुष्य-समाज बहुत छोटे छोटे दायरों में बँट जाता है। निष्काम धर्म से मनुष्य की आकांक्षाएँ उन्नत और विशाल होती हैं। यदि धर्म का आदर्श अब तक निष्काम रहा होता तो मनुष्य-जाति के अन्तर्गत वे दुर्घटनाएँ कदापि न घटतीं जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है।

(३) धर्म का मार्ग आनन्द और आशा से परिपूर्ण होना चाहिए। क्योंकि जो धर्म मनुष्य को निराशावादी बनाता है। जो मनुष्य को पापी बताकर उसका तिरस्कार करता है। जो उसको अपनी बुद्धि के प्रति अविश्वास, अपमान और अवहेलना करना

सिखाता है, जो स्वर्ग और नरक तथा सुख और दुःख के माया मय चित्रों से मनुष्य को लुब्ध या भयभीत करना चाहता है, जो उसकी इच्छाशक्ति और विचारशक्ति को जड़ कर देता है। वह धर्म कभी मनुष्य-जाति का व्यापक धर्म नहीं हो सकता। अर्थात् प्रत्येक धर्म की कोशिश यह हो कि मनुष्य अपने प्रत्यक्ष सांसारिक कर्तव्यों की तरफ से उदासीन होकर काल्पनिक और पारलौकिक सुखों के पीछे मारा मारा न फिरे।

संक्षेप में धर्म का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप वही है जो सत्य, शिव और सुंदर इन तीन गुणों से युक्त हो।

———

छटा अध्याय

सदाचार

ऊपर के अध्याय में धर्म की मीमांसा करते हुए हम लिख आये हैं कि धर्म का वही स्वरूप उत्तम हो सकता है जिसका मुख्य लक्ष्य सदाचार और जिसका मुख्य देवता मनुष्य हो।

यह स्वरूप ऐसा है जिसको कोई भी विचारवान एकदम अस्वीकार नहीं कर सकता। फिर भी इस व्याख्या में एक बड़ी ही जबरदस्त त्रुटि रह जाती है, यद्यपि सदाचार को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता तथापि सदाचार क्या है? उसका स्वरूप कैसा है? सदाचार की व्याख्या यद्यपि देश, काल और व्यक्ति के अनुसार बदलती रहती है तथापि उसके मार्ग दर्शक सिद्धान्त तो प्रत्येक देश, समय और व्यक्ति के लिए वही सनातन है।

हाँ, मानव-समाज के भिन्न भिन्न अंगों में जो आचारवैचित्र्य पाया जाता है उसे देखकर आदमी चक्कर में जरूर पड़ जाता है, पर, इस मत के मूल कारणों पर विचार करने पर इसकी राह में दो तत्त्व प्रधान दिखाई देते हैं। पहला यह कि प्रत्येक देश और जाति की बाहरी तथा भीतरी परिस्थिति भिन्न भिन्न होती है। उस परिस्थिति के अनुसार आचार-नीति भी जुदा जुदा होती है। दूसरे यह कि अभी तक सदाचार के जितने स्वरूप निश्चित हुए हैं उन पर धर्म या मजहब की मुहर लगी हुई है। यद्यपि प्राचीन

काल में सदाचार के नियमों पर धर्म की मुहर इसलिए लगाई गई थी कि कोई सहसा उनका निरादर न करे परन्तु अब तो वे पत्थर की लीक से हो गये हैं।

परिस्थिति के बदलने के कारण उनमें से कितने ही नियम अनावश्यक और कितने ही तो उलटे हानिकर एवं बाधक भी हो गये हैं फिर भी उन पर धर्म की मुहर लगी होने के कारण किसी की हिम्मत नहीं होती कि उनका उल्लंघन या निरादर करे। इसी लिए हम देखते हैं प्रत्येक प्राचीनता-प्रेमी समाज संसार में पिछड़ रहा है और प्रगतिशील राष्ट्रों का गुलाम बना पड़ा है।

यूरोप ने इस सत्य को सबसे पहले पहचाना और आज वह अनेक बातों में संसार का अगुआ हो रहा है। आचार पर से धर्म की कैद उठकर समाज हित की प्रत्यक्ष कसौटी कायम होते ही वहाँ एकाएक परिवर्तन हो गया।

सदाचार की अब तक कोइ स्वतन्त्र कसौटी न होने के कारण समाज के सर्वाङ्गण विकास में बड़ी बाधा पड़ी है।

भारत में आचार की भीति धर्म रक्खा गया था। परन्तु जब तक लोगों की नजर में धर्म तत्वों का महत्व बना रहा, तब तक तो मनुष्यों के आचार भी समाज के एवं उनके लिए भी फायदेमन्द रहे, परन्तु जब से धर्म का बुद्धिपूर्ण पालन बन्द हुआ, जब से बदलती हुई परिस्थिति की ओर से मनुष्य ने आँखें मूंदना शुरू किया उसका सदाचार और धर्म दोनों निष्प्राण हो गये। प्राचीन विधायकों ने आचार की भित्ति स्वास्थ्य और समाज हित की नींव पर स्थापित की थी और स्वास्थ्य को ही धर्म का

सारभूत सौन्दर्य माना था। पर मज़हबवादियों ने आचार का सम्बन्ध स्वास्थ्य से तोड़ कर धर्म के साथ जोड़ दिया। धर्म जन साधारण के लिए एक गूढ वस्तु होने के कारण बेचारा सदाचार निरालंब हो गया। मनुष्य पराधीन हो गया। बुद्धि पर ताले पड़ गये। फलां आचरण सदाचार युक्त है या नहीं इसे जानने के लिए उसे धर्म शास्त्रियों को जाकर पूछने की जरूरत खड़ी हो गई। धर्म का तो वही—शास्त्री—जानकार हो सकता है न? वह जो कहे सो धर्म मना करे तो अधर्म हो गया। ऐसी अवस्था में कभी सदाचार की रक्षा नहीं हो सकती।

छूआछूत और खान पान की ही बात लीजिए फ़लां जाति के आदमी के हाथ का भोजन पाना बुरा है। फलां जातिको छूना पाप हैं। वास्तव में इन बातों से कोई नीति अनीति का सम्बन्ध न होने पर भी समाज में इनका सदाचार से गहरा सम्बन्ध समझा जाता है। धर्म जो मनुष्य और ईश्वर के बीच की वस्तु होनी चाहिए, हमारे समाज में खान-पान छुआछूत और चूल्हा चक्की में कैद कर दिया गया।

सदाचार के नियमों का अन्ध पालन करने से जो हानि होती है उसका यदि पूरा वर्णन किया जाय तो पोथे के पोथे लिखे जा सकते हैं। हमारे देश में पातिव्रत को बड़ा महत्व दिया गया है। इतना कि स्त्री को पति का गुलाम बना दिया है। उसका कोई स्वतंत्र्य व्यक्तित्व नहीं रक्खा। विचार-स्वातंत्र्य तक उससे छीन लिया। अपने अयोग्य पति की अनुचित आज्ञाओं का उल्लंघन या पालन करने से इन्कार करने का अधिकार भी स्त्रियों

से छीन लिया गया। और कोई कल्पना कर सकता है कि इससे देश की कितनी शक्ति कितनी प्रतिभा और कितनी नीति का नाश हुआ है, वृन्दा और अहल्या के सतीत्व का बलिदान तो प्रत्यक्ष पातिव्रत की वेदी पर ही हुआ। यदि उनके सामने वह अन्ध आदर्श न होता तो वे स्वाभिमान पूर्वक असमय विषयोपभोग करने से इन्कार अवश्य कर सकती थीं।

स्त्री अपने पति के प्रति और पति अपनी स्त्री के प्रति अवश्य वफ़ादार रहे। परन्तु अन्धा होकर एक दूसरे में अपने सारे व्यक्तित्व को डुबो देना न व्यक्ति के विकास के लिए हितकर है न समाज के लिए। एकांगी अंध और निस्तेज पातिव्रत के उपदेश ने भारतीय स्त्री समाज को नितांत प्राण हीन और तुच्छ बना दिया है। यदि इस अग्नि को जागृत रक्खा जाता तो आज शायद हमारा देश ऐसा पराधीन न होता।

इसी प्रकार "युद्धे चाप्यपलायनम्" इस वाक्य का भी हमारे राजपूत योद्धाओं द्वारा भयंकर दुरुपयोग हुआ है। राजपूत योद्धाओं ने जितनी वीरता दिखाई वह प्रशंसनीय थी। किन्तु उसके साथ ही यदि वे कुछ बुद्धि का उपयोग भी करते तो आज भारत का इतिहास कुछ और ही होता। इसी प्रकार भारतीयों के स्वामिभक्ति के आदर्श ने भी उनकी बड़ी खराबी की है। देश पराधीन हो जाने पर भी अपने देश के प्रति बेवफ़ा हो कर देश और समाज के द्रोही विदेशी स्वामी के प्रति स्वामिभक्ति की डींग हांकना प्रकृत गुलामों को ही शोभा देता है।

मतलब यह कि ये उपर्युक्त तीनों बातें सदाचार के श्रेष्ठ नियमों में शामिल हो सकती हैं परन्तु देशकाल और पात्र का

ख्याल न करने के कारण उनका अंध और निर्बुद्ध आचरण मानव-समाज को महान आपत्तियों में भी डाल सकता है। सिद्धान्त अवश्य त्रिकालाबाधित हो सकते हैं परन्तु उनके व्यवहार सदा सर्वदा एक से नहीं हो सकते।

इसी प्रकार चरित्र की मीमांसा करते हुए यहां के शास्त्रों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, स्नान, संध्या, व्रत, उपवास, अध्ययन, मनन आदि बातों की अनिवार्य्य रूप से आवश्यकता बतलाई है। ये सब बातें ऐसी हैं जिनका कोई भी विचारक किसी भी अंश में विरोध नहीं कर सकता। इन सब बातों से व्यष्टि और समष्टि सभी का चरित्र उज्वल होता है। पर यहाँ पर इनके पालन का भी वही ढङ्ग रक्खा है। पालन करो, पुण्य होगा, स्वर्ग मिलेगा। न पालन करोगे, पाप होगा, ईश्वर दण्ड देगा। इन बातों का परिणाम यह हुआ कि इनसे होने वाले प्रत्यक्ष लाभों पर तो विचार करना यहां की जनता ने छोड़ ही दिया। परिणाम यह हुआ कि हम न अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि की रक्षा कर सके न अपनी।

यदि हम सदाचार के सम्बन्ध में निर्वाचित की हुई इस उत्पत्ति की असफलता का विवेचन एक ही वाक्य में करना चाहें तो कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष को छोड़ कर अप्रत्यक्ष के साथ इस नीति का सम्बन्ध जोड़ देने ही से यह असफलता घटित होती है। सदाचार के जो प्रत्यक्ष फल हैं इसके जो सुन्दर परिणाम आंखों के सामने घटित होते हैं उनकी अवहेलना करके स्वर्ग और नरक की निराधार और अप्रत्यक्ष कल्पनाओं के पीछे मनुष्य

जाति को दौड़ाना यही इस असफलता का मूल कारण है। वास्तव में देखा जाय तो यह स्पष्ट मालूम होगा कि स्वर्ग और नरक की इन कल्पनाओं का नैतिक परिणाम मानव-समाज पर बहुत बुरा हुआ है। इसके प्रताप से दुनिया में सदाचार की दूकानदारी लग गई है। हम मानते हैं कि इन कल्पनाओं के भय से बहुत से लोग उनकी दृष्टि में जो पाप हैं उनको करने में हिचकते हैं और आगे जाकर स्वर्ग लाभ होगा इस लोभ से वे दुनिया में अपने निश्चित धोरण के अनुसार कुछ अच्छे काम भी कर डालते हैं। पर ऐसे लोगों के किये हुवे पाप और पुण्य दोनों ही जीवनी शक्ति से शून्य होते हैं। ये सदाचार के सौन्दर्य्य को देख कर, उस पर मुग्ध होकर उसका पालन नहीं करते। भूखे के मुख में अन्न का ग्रास देने में, प्यासे को पानी पिलाने में, दुःखी को सान्त्वना देने में, सताई हुई स्त्री की रक्षा करने में, सत्य बोलने में, लोक-सेवा करने में जो एक स्वाभाविक आनन्द होता है, जो एक जबर्दस्त मानसिक सन्तोष मिलता है, जो एक मधुर तृप्ति होती है, जो सदाचार का प्रत्यक्ष परिणाम है उसकी ओर इनका लक्ष्य नहीं रहता, उसका इन्हें अनुभव नहीं होता। यदि इन्हें कोई जबर्दस्त व्यक्ति इस बात का विश्वास दिला दे कि इन बातों का परिणाम बुरा है। और इनके विपरीत करने से स्वर्ग मिलेगा तो ये लोग वैसा ही करने लग जायंगे। क्योंकि प्रत्यक्ष से तो इनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इस प्रकार के उदाहरण दुनिया में रोज़ मिलते हैं। सदाचार का महान् आदर्श रखने वाली हिन्दू जाति ने भी शूद्रों और स्त्रियों पर भीषण अत्याचार करके इस प्रवृत्ति का परिचय दे

दिया। मुसलमान और ईसाई धर्म के इतिहास तो इसी नीति के फलस्वरूप खून से रंगे हुए हैं।

इसलिए समाज हित की दृष्टि से सदाचार का वही स्वरूप श्रेष्ठ हो सकता है जिसका सम्बन्ध किसी प्रकार अप्रत्यक्ष स्वर्ग, नरक के साथ न हो, जिसके सुन्दर परिणाम मनुष्य जाति को हाथ में रक्खे हुए आंवले की तरह प्रत्यक्ष दिखलाई दें। इसका स्वरूप इतना सुन्दर और आनन्दमय होना चाहिए कि जिसके आकर्षण से मनुष्य-समाज अपने आप उधर दौड़ा हुआ चला आये।

लेकिन प्रश्न यह होता है कि ऐसी प्रत्यक्ष वस्तु क्या है जो सदाचार के सब उद्देश्यों की पूर्ति कर सकती हो, और जिसे सब लोग एक मत से स्वीकार करते हों। उत्तर में यदि हम अपनी ओर से कहना चाहें तो कह सकते हैं कि वह वस्तु "स्वास्थ्य" है। स्वास्थ्य के मानी हैं शारीरिक मानसिक और सामाजिक स्वास्थ्य भी। स्वास्थ्य ही आचार का मुख्य लक्ष्य होना चाहिए। यह शब्द इतना प्रत्यक्ष और इतना व्यापक है कि इसमें सदाचार के कुल उद्देश्य एक ही साथ केन्द्रीभूत हो जाते हैं। इसके साथ ही यह शब्द इतना सुन्दर है कि दुनिया के किसी भी व्यक्ति को इसमें मतभेद नहीं हो सकता।

फिर यह सिद्धांत नया नहीं है। यह बात बहुत पुरानी है। मूलतः सदाचार की भित्ती स्वास्थ्य पर ही रक्खी गई थी। धर्म और आचार अपने असली रूप में थे तब स्वास्थ्य ही उनका मूल उद्देश्य समझा जाता था। पर जब देश, काल परिस्थिति के अनु

सार धर्म-शास्त्रों में परिवर्तन होना बंद हो गया—तो धर्म का रूप जड़ हो गया, और सदाचार का सम्बन्ध भी स्वास्थ्य से टूट गया और तभी से संसार में अनिष्ट का विष बीज बोया गया। समाज की रक्षा के लिए फिर से इस सिद्धांत को जीवित करने की आवश्यकता है।

सबसे पहले हम इसके व्यक्तिगत परिणामों पर विचार करें। प्रत्येक व्यक्ति हृदय से इस बात का इच्छुक होता है कि उसका शरीर स्वस्थ्य और मन प्रसन्न रहे। उसके जितने भी कार्य होते हैं, उसके जितने भी उद्योग होते हैं (फिर उसकी गलती से उनका परिणाम चाहे जो होता हो) सब में यही एक उद्देश्य गर्भित रहता है। सदाचार का संबन्ध स्वर्ग और नरक से होने की वजह से कभी कभी उसे अपने शरीर और मन के विरुद्ध भी काम करना पड़ता है। पर, जब सदाचार का सम्बन्ध उसकी इसी प्रवृत्ति के अनुकूल हो जायगा तो वह बड़ी ही प्रसन्नता के साथ इसको ग्रहण करेगा। उस समय वह सदाचार का पालन उसके सौंदर्य से मुग्ध हो कर करेगा। उस समय वह ब्रह्मचर्य का पालन इस लिए नहीं करेगा कि उससे उसे कभी स्वर्ग मिलेगा, प्रत्युत इस लिए करेगा कि उससे उसके शरीर और मन को स्फूर्ति मिलती है। उस समय वह हिंसा, काम, क्रोध, लोभ पर इसलिए अधिकार नहीं रक्खेगा कि कहीं ईश्वर उसे नरक में न डाल दे, प्रत्युत इसलिए रक्खेगा कि इन बातों से प्रत्यक्ष में उसे मानसिक अशान्ति का अनुभव होता है। इस प्रकार के सदाचार का पालन करने वाला मनुष्य अपने स्वास्थ्य की रक्षा के लिए अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, स्नान, संध्या आदि सब बातें कुछ परिवर्तन के साथ

इसी प्रकार करेगा जिस प्रकार धार्मिक भाव को लेकर लोग करते हैं। पर उसके करने में एक बड़ा महत्त्व का भेद रहेगा। धर्मवादी अप्रत्यक्ष भय और प्रलोभन के लिए ये सब काम करते हैं। इस प्रकार के काम करते समय उनके हृदय में बड़े डर, बन्धन और गुलामी के भाव रहते हैं। पर स्वास्थ्य को ही आदर्श समझने वाला मनुष्य किसी भी भय या प्रलोभन से ऐसा नहीं करता। वह तो पूर्ण आज़ादी और आनन्द के साथ अपने शरीर और मन को स्वस्थ करने के लिए इन कामों को करता है।

इस सम्बन्ध में किसी सामयिक पत्र में एक बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त प्रकाशित हुआ था। पाठकों के मनोरञ्जनार्थ हम उसका भाव यहां पर देते हैं। यद्यपि यह बिलकुल कल्पित है फिर भी इससे इस सिद्धान्त की पुष्टि में बड़ी सहायता मिलेगी।

एक पादरी के साथ एक ऐसे मनुष्य की मित्रता थी जो परलोक और ईश्वर पर विश्वास नहीं करता था। वह स्वभाव से ही आनन्द और स्वास्थ्य का उपासक था। इसका शरीर हमेशा स्वस्थ और मन निर्मल रहता था। वह पादरी इसे हमेशा ईश्वर में विश्वास लाने को कहता था। पर यह पादरी की बातें सुन कर हमेशा हँस देता था। और कहता था "पादरी साहब मेरे मन के अन्दर ईश्वर की कल्पना आते ही मेरे मन की निर्मलता नष्ट हो जाती है।" यह सुनकर पादरी तोबा करता और कहता "ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे, तुम्हारे ऊपर उसका बहुत कोप मालूम होता है।"

दैवयोग से वह मनुष्य बीमार पड़ा, और बीमार भी इतना कि मृत्यु के एकदम समीप पहुँच गया। उस समय भी पादरी

साहब अपने मित्र का उपकार करने के लिए उसके घर पहुँचे। उन्होंने कहा—"मित्र ! अब भी तुम खुदा को याद कर लो। वह अब भी तुम्हें माफ़ कर देगा। आखिर के वक्त की तोबा बड़ी कीमती होती है ! यह सुन कर उसने उस समय भी हँस दिया और पादरी के कहने की उपेक्षा कर दी। कुछ समय पश्चात् उस की मृत्यु हो गई। पादरी भी उसकी भावी दुर्गति पर अफ़सोस करता हुआ चला गया।

कुछ दिनों बाद पादरी की भी मृत्यु हुई, वह जन्नत में पहुँचा वहां पर उसे बहुत से देवी देवता और दास-दासी मिले। एक दिन उसने अपने एक साथी से उस नास्तिक का हाल पूछा। उसने कहा—"मित्र! उसको क्यों याद करते हो ? वह तो भीषण नरक में पड़ा हुआ है। "पादरी ने कहा कुछ भी हो, एक बार तो उसे देखना ही चाहिए।" उसके साथी ने कहा—"वहां का रास्ता बड़ा ही भयङ्कर है, बदबू के मारे नाक फटने लगेगी, क्यों हठ करते हो" ? पर पादरी ने एक न मानी। खैर, वे दोनों वहां से चले। दोज़ख में उतरते भीषण गर्मी, और बदबू के मारे उनकी सांस बन्द होने लगी। पादरी घबराया। उसके साथी ने कहा 'अभी से ही क्या घबराते हो ? अभी तो इससे भी भीषण रास्ते तय करने पड़ेंगे। खैर, किसी प्रकार वे लोग वहां से चलकर दूसरी श्रेणी पर पहुँचे यहाँ की गर्मी और बदबू वहाँ से भी असह्य थी। तीसरी श्रेणी उससे भी भयंकर, चौथी और भी अधिक भयंकर। चलते चलते पादरी की नाकों में दम हो गया। उसने कहा "ओहो, यहाँ रहने वाले प्राणी कितनी भीषण यन्त्रणाएँ उठाते हैं ? क्या मेरा मित्र इससे भीं अधिक भयंकर यंत्रणा

में है ? उसके साथी ने कहा—"वहां की भयङ्करता तो इससे अधिक है। पादरी ने मन ही मन अपने मित्र के लिए तोबा की। आखिर वे चलते चलते उस जगह पर पहुँच गये जहाँ से उनके मित्र का स्थान थोड़ी ही दूरी पर था। यह स्थान बहुत ही भीषण था। पर यहां से आगे चलते ही पादरी को कुछ ठण्डी हवा का और कुछ मीठी खुशबू का अनुभव होने लगा। इस भयङ्कर स्थान में यह देख कर उसे बड़ा आश्चर्य्य हुआ। उसके साथी को भी यह दृश्य देख कर बड़ा आश्चर्य्य हुआ। वे ज्यों ज्यों आगे बढ़ने लगे, त्यों त्यों वह खुशबू और प्रकाश बढ़ता गया। आगे जाकर उन्हें यह देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि उस निकृष्ट स्थान में भी एक बड़ा सुन्दर बगीचा लगा हुआ है। उस में कई प्रकार के फल, फूल लग रहे हैं। एक सुन्दर वाटिका बनी हुई है, चारों ओर से सुन्दर शुद्ध वायु आ रही है। और उस समय तो उनके आश्चर्य्य का पार ही नहीं रहा, जब उन्होंने देखा कि उनका वही मित्र गले में फूलों के हार डाले हुए उस बगीचे की शुद्ध हवा में घूम रहा है। पादरी दौड़ कर उसके पास गया और कहा—"मित्र ! तुम बड़े दुःखी हो।" उसने आनन्द से प्रफुल्लित हो कर "मित्र ! मैं बड़े आनन्द में हूँ। मुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। यहाँ आने पर मैंने देखा कि यहाँ पर बड़ी बदबू आती है, बड़ी गरमी पड़ती है, और यहाँ के लोग चुपचाप उसे सहन कर रहे हैं। तब मुझे बड़ा क्रोध आया, मैंने सबको समझा बुझा कर सफाई के काम करवाने में लगा दिया। वायु के लिए दीवालों को तोड़ कर रास्ते करवा दिये। शुद्ध जल के लिए बावड़ी खुदवा ली। मेरे उत्साह

को देख कर सभी लोग दिलो जान से काम करने लगे। और कुछ ही समय में मैंने अपने अनुकूल स्थिति पैदा कर ली। पादरी ने कहा—"मित्र! यह दोजख है।" उसने हँस कर कहा—कैसी मजाक करते हो, पादरी! जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ दोजख आ ही कैसे सकता है? मेरा और दोजख का कोई सम्बन्ध नहीं है।"

मतलब यह कि स्वास्थ्य की नींव पर स्थापित किया हुआ सदाचार मनुष्य के जीवन को बन्धन में नहीं डालता प्रत्युत उस को आनन्दमय स्वस्थ और उन्नत बनाता है।

सदाचार के अन्तर्गत दूसरा गुण यह होना चाहिए कि उसका पालन करने वाला मनुष्य दिन प्रति दिन अधिकाधिक स्वाधीन होता जाय। आडम्बरों के जंजाल से मुक्त होकर वह दिन प्रति दिन सत्य के अधिकाधिक समीप पहुँचता जाय। स्वास्थ्य के ऊपर सदाचार की नींव रखने से वह उद्देश्य भी पूर्णतया सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार के सदाचार को पालन करने वाले मनुष्य के सम्मुख ईश्वर, परलोक, स्वर्ग तथा नरक का भय नहीं रहता, वह किसी प्रकार के अप्रत्यक्ष दबाव से दबा हुआ नहीं रहता। वह जितना भी काम करता है अपने लिए करता है, अपने समाज के लिए करता है। वह सदाचार के विराट् या भयानक रूप को देख कर उसकी उपासना नहीं करता, प्रत्युत उसके महत् और सुन्दर रूप को देख कर उसकी उपासना करता है। हाँ, असमय में अचानक उठने वाली और उसके तथा समाज के सदाचार को भ्रष्ट करनेवाली उच्छृंखल प्रवृत्तियों के लिए, उस पर राज्य और समाज के कुछ बन्धन अवश्य रहते हैं, पर ये बन्धन उतने ही रहते हैं, जिससे उसके सदाचार और उसकी स्वाधीनता को पुष्टि

मिले। ये बन्धन इतने सख्त नहीं होते जो उसकी मूल शक्तियों का ही उच्छेद कर दें।

इसके अतिरिक्त सदाचार के इस स्वरूप के अन्तर्गत धार्मिक सदाचार की अच्छी अच्छी बातों का भी समावेश हो जाता है। पातिव्रत, एक पत्नीव्रत, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि यम-नियमों का यह सदाचार भी इतनी ही पुष्टि करता है, जितना मज़हबी सदाचार करता है। इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण का भी यह कट्टर विरोधी है। क्योंकि यह सब बातें मनुष्य के स्वास्थ्य को नष्ट करने वाली हैं। अन्तर केवल इतन ही होता है कि स्वास्थ्य की नींव पर स्थापित किया हुआ सदाचार इन सब बातों का सम्बन्ध परलोक से हटाकर प्रत्यक्ष से कर देता है। वह इनके स्वरूप में से भय को निकालकर उनमें सौंदर्य की स्थापना कर देता है।

अब स्वास्थ्य पर अवलम्बित आचार-नीति के सामाजिक परिणामों पर भी कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। हम ऊपर लिख आये हैं कि व्यक्तिगत स्वास्थ्य का भी पूरा पूरा खयाल रक्खा जायगा। जो बातें सामाजिक स्वास्थ्य में हानि पहुँचाने वाली होंगी उनको रोकने का अनिवार्य विधान इसमें रहेगा। फिर जो आचार-नीति व्यक्तियों को स्वस्थ्य रक्खेगी, उससे समाज के स्वास्थ्य का स्वयमेव ही पोषण हो हो जायगा। अतएव समाज-नीति की दृष्टि से भी यह आचार-नीति उपयोगी सिद्ध होगी।

इस आचार-नीति की सफलता के लिए कई प्रकार के विशिष्ट नियमों, और विधानों की रचना करनी पड़ेगी। आधुनिक आचार

नीति के विधानों का सिर्फ धोरण बिलकुल बदल जायगा। पर कुछ परिवर्तन के साथ बिलकुल रहेगी वही फलतः नीति का असर भी बिलकुल पलट जायगा। आधुनिक आचार-नीति जहाँ भय-मूलक है वहाँ यह आचार-नीति आनन्दमूलक रहेगी।

इस स्थान पर परलोक के पक्षपाती कई लोग यह कहते हैं हैं कि यदि सदाचार के अन्तर्गत प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार का सौंदर्य रख दिया जाय तो उसका स्वरूप और भी सुन्दर हो जायगा। उसमें प्रत्यक्ष सौंदर्य तो नष्ट हो ही नहीं सकता, उलटे अप्रत्यक्ष सौंदर्य की विशेषता स्थापित हो जायगी। अपनी दलील को जोरदार बनाने के लिए वे लोग तो परलोक को तर्कशास्त्र की पद्धति से भी सिद्ध करने का प्रयत्न भी करते हैं।

हम यहाँ पर इस बात के पचड़े में पड़ना नहीं चाहते कि कि तर्कशास्त्र की पद्धति से परलोक सिद्ध है या नहीं। क्योंकि यह विषय दर्शन-शास्त्र का है समाज-विज्ञान का नहीं। फिर भी विज्ञान की आधुनिक गति विधि पर लक्ष्य देने से यह मालूम होता है कि किसी दिन उसे इसका (परलोक का) अस्तित्व अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। कुछ भी हो, हमारा कथन केवल यही है कि यदि परलोक के लिए किसी आचार-नीति का अस्तित्व रखा जाय तो बिलकुल स्वतंत्र रूप से रक्खा जाय। सामाजिक और राजनैतिक आचार-नीति इस आचार-नीति से बिलकुल स्वाधीन रक्खी जाय। इहलौकिक और पारलौकिक आचार-नीतियों की खिचड़ी कर देने का परिणाम यह होता है कि जहाँ भी कहीं प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष के बीच में किसी प्रकार का विरोध होता है, वहाँ पर तुरन्त कल्पनामय मोहक या भया-

नक अप्रत्यक्ष को महत्व देकर प्रत्यक्ष की उपेक्षा कर दी जाती है। क्योंकि प्रत्यक्ष में हम देख रहे हैं कि भारतवर्ष लाखों बाल विधवाएं अपनी तमाम आकांक्षाओं और वासनाओं को बलात्कार दबाये हुये, नरक यातना से भी भीषण दुःख उठा रही हैं। हम देख रहे हैं कि करोड़ों अछूतो की जबर्दस्त शक्ति को हिन्दू समाज ने अलग कर अपने आपको कमज़ोर बना लिया है। समाज हित की दृष्टि से इन विधवाओं के पुनर्विवाह की और इन अछूतों के उद्धार की प्रत्यक्ष आवश्यकता है। बिना इनका उद्धार हुए हिन्दू समाज में समाज-रचना के उत्कृष्ट धोरण की कल्पना भी नहीं हो सकती। इतनी जबर्दस्त आवश्यकता होने पर भी आज अधिकांश भारतीय समाज-नीति के इस विधान को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इन बातों का विचार करते समय उनकी दृष्टि तुरन्त परलोक की तरफ चली जाती है, और वे ज़ोरों के साथ इनका विरोध करते हैं। इस प्रकार के और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। मतलब यह है कि इस प्रकार पारलौकिक और इहलौकिक नीतियों को मिला देने से समाज की बड़ी हानि होती है। ये दोनों नीतियां बिलकुल भिन्न भिन्न हैं, और इनके अलग अलग रहने में ही कल्याण है

सम्पत्ति का उद्देश्य मनुष्य की आवश्यकताओं को पूर्ण करना है। इसके विरुद्ध जो सम्पत्ति मनुष्य को अपना गुलाम बना डालती है, वह समाज के लिए बड़ी भयंकर है।

ग्रन्थकार

पहला अध्याय

सम्पत्ति की उत्पत्ति

इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के प्रथम अध्याय में हम समाज-रचना के इतिहास का विवेचन करते हुए लिख आये हैं कि जब मनुष्य आदिम अवस्था में था, जब सामाजिक रूप से रहने की कल्पना का उसमें उदय नहीं हुआ था, तब उसके अन्दर सम्पत्ति, स्वामित्व और मिलकियत की भावनाओं का उदय भी नहीं हुआ था। यह चीज़ मेरी है, यह दूसरे की है, इसमें दस्तन्दाजी करने का मुझे हक़ नहीं है, इस प्रकार का किसी को स्वप्न में भी ज्ञान न था। लोग वृक्षों के फल और कन्द-मूल खाते थे, जानवरों को मारते थे और तालाब में से मछलियां पकड़ते थे। इन चीज़ों पर किसी का कोई हक़ नहीं था। चारों ओर साम्यवाद का दौर दौरा था। वह एक अद्भुत समय था। उस समय न जमींदार थे, न महाजन थे, न मज़दूर थे। न देन-लेन था और न कोई कचहरियाँ थीं।

लेकिन मनुष्य के प्रति दिन विकसित होने वाले ज्ञान ने इस समय को स्थिर न रहने दिया। ज्यों ज्यों मनुष्य के ध्यान में पशु-पालन के ज्ञान का उदय होने लगा, कृषि-कला का परिचय होने लगा, संक्षेप में यों कह लीजिए कि ज्यों ज्यों सभ्यता का संचार होने लगा, त्यों त्यों सम्पत्ति का अथवा मिलकियत का भाव लोगों के अन्दर उत्पन्न होने लगा। जैसे जैसे

सभ्यता बढ़ती गई, वैसे वैसे यह खयाल भी जड़ पकड़ता गया कि यह घर मेरा है, यह पशु तेरा है और यह जमीन अमुक की है। अर्थात् पशु, जमीन, खेत आदि को सब लोग सम्पत्ति के रूप में समझने लगे और इन पर अपना अपना हक़ कायम करने लगे। जो लोग बलवान् थे वे निर्बलों का हक़ छीन छीन कर अपने स्वत्व की मर्यादा बढ़ाने लगे। इस प्रकार कुछ समय तक तो "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत चरितार्थ होने लगी। पर उसके पश्चात् स्थिति समता पर आ गई। मनुष्य-समाज ग्रामों के रूप में बस गया, और जिसके पास जितनी सम्पत्ति थी, उस पर पुश्त दर पुश्त के लिए उसीका अधिकार हो गया।

लेकिन सम्पत्ति की भावनाओं की उत्पत्ति हो जाने पर भी उसका महत्त्व अस्तित्व में आ जाने पर बहुत दिनों तक इस विषय पर शास्त्रीय दृष्टि से अभी अभी तक किसी ने विचार नहीं किया था। इस देश में भी जहाँ आप और और बातों का सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचन पाएंगे, वहाँ सम्पत्ति के सम्बन्ध में तात्विक निरूपण करने वाला एकाध ग्रन्थ भी शायद ही आपको बहुत कठिनता से मिलेगा। संसार के साहित्य में अभी तक इस महत्त्व-पूर्ण विषय पर इतने दीर्घ काल तक विचार क्यों नही किया गया?

इसका सब से पहला और प्रबल कारण यह है कि अभी अभी तक अर्थात् आज से दो तीन सौ वर्ष पहले तक दुनिया पर मज़हब का अबाधित साम्राज्य रहा है। केवल भारत ही, नहीं, प्रत्युत संसार के सभी समाज और राज्य अभी तक मज़-हब ही की अधीनता में रहे हैं। यह वह समय था जब राजा

और राजशक्ति को न्याय और अन्याय का विना विचार किये, मजहब की और मज़हब के ठेकेदारों की आज्ञा का पालन करना पड़ता था। यह वह समय था जब समाज का तन्त्र मज़हब के इशारे पर नाचता था। और यह बतलाने की तो आवश्यकता है ही नहीं कि दुनियाँ में अब तक जितने भी मजहब प्रचलित हुए हैं उन सब का सम्पत्ति के साथ हित-विरोध रहा है। क्योंकि सम्पत्ति संसार की वस्तु है। क्या ईसाई और क्या मुसलमान. क्या बौद्ध और क्या जैन, क्या सांख्य और क्या वेदान्ती सभी ने मुक्तकण्ठ से इसकी निंदा की है; सभी ने इसको महापाप और अनर्थ का मूल बतलाया है। इनके उपदेशकों ने पण्डे, पुरोहित, पोप और मौलवियों ने अर्थ के द्वारा चाहे जितने मौज-मजे लूटे हों, चाहे जितने माल उड़ाये हों, चाहे जितना व्यभिचार किया हो—फिर भी प्रत्यक्ष में—अपने उपदेशों में भोली भाली जनता को ठगने के लिए उन्होंने अर्थ और संसार की मुक्त-कण्ठ से निन्दा ही की है। इनके चक्कर में आकर और जनता ने भी अर्थ संसार से सम्बन्ध तो रक्खा,मगर उनके प्रति हमेशा घृणा के भाव रक्खे, और उसकी नागपाश से निकलने में ही उन्होंने अपना उद्धार समझा। जिस समय अर्थ के प्रति जनता के अन्दर इतनी घृणा के भाव उत्पन्न हो रहे हों, जिस काल में वह उसे इतना पाप का मूल समझती हो, उस जमाने में यदि विद्वानों का ध्यान उधर न जाय तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं है।

दूसरी बात यह है कि अभी तक दुनिया में अर्थिक प्रश्न ने इतना महत्त्व कभी पकड़ा भी नहीं। कोई भी विज्ञान का आवि-

ष्कार तब होता है, जब उसकी अवश्यकता का लोगों के दिलों में अनुभव होने लगता है। जब समाज में अराजकता का प्रचार हुआ "जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली" कहावत चरितार्थ होने लगी तब लोगों के दिलों में राज-सत्ता की आवश्यकता अनुभव होने लगी और तदनुसार राज्य तथा राजनीति का जन्म हुआ। पर अर्थ-शास्त्र की उत्पत्ति का ऐसा कोई कारण अभी तक उत्पन्न भी नहीं हुआ था। इसकी उत्पत्ति का कारण तभी उत्पन्न होता जब समाज में अर्थ की कमी या उसका अभाव दृष्टिगोचर होता। पर एक तो तब तक जमीन की उर्वरा शक्ति भी नष्ट या कमजोर नहीं हुई थी और दूसरे जन-संख्या की वृद्धि के प्रश्न ने भी इतना महत्व नहीं पकड़ता था, तीसरे राज्य की ओर से भी सम्पत्ति की इतनी भूख न रहती थी। जितना अन्न और कपास जमीन से उत्पन्न होता था उसका कुछ हिस्सा राज्य को दे देने के उपरान्त भीजो बचता था उससे सब लोग खूब आनन्द के साथ अपनी जीविका-निर्वाह कर सकते थे; इतना ही नहीं, जीविका निर्वाह के उपरान्त भी बहुतसा माल लोगों के संग्रहालयों में बच जाता था। उधर पशु भी खूराक मिलने से स्वस्थ रहते थे, जिससे दूध और घी भी लोगों को व्यवहार करने के लिए प्रचुरता के साथ मिलता था। मतलब यह कि इस समय खाने वाले तो बहुत कम थे, और उत्पन्न बहुत होता था, ऐसी स्थिति में यदि इस शास्त्र का जन्म न हुआ हो, यदि लोगों के ध्यार में अर्थ का महत्व न आया हो तो इसमें क्या आश्चर्य ? यही दो कारण ऐसे प्रबल हैं जिन्होंने अभी (दो तीन सौ वर्ष पूर्व) तक अर्थ का तात्विक-विवेचना न होने दिया।

पर धीरे धीरे समय बदला। स्त्री और पुरुष के अति सम्बन्ध, विवाह-पद्धति की भ्रष्टता, और सामुदायिक व्यभिचार की वजह से समाज में मनमानी सन्तानें उत्पन्न होने लगीं। समाज की जन-संख्या में एकदम बाढ़ आने लगी। इस सन्तान-वृद्धि के साथ सम्पत्ति का खर्च भी बेहद बढ़ चला। उधर जमीन की उर्वरा शक्ति भी कुछ तो स्वाभाविक रूप से और कुछ लोगों के परिश्रम की कमी के कारण एकदम घटने लगी। परिणाम यह हुआ कि जहां सौ मन का खर्च और सवा सौ मन की उपज थी, वहां सवा सौ मन का खर्च और सौ मन की उपज होने लग गई। इधर राज्य ने भी अपना टैक्स बढ़ा दिया। जहां आठवां और छठा हिस्सा कर के रूप में लिया जाता था वहां आधा और तीन चौथाई लिया जाने लगा। सम्पत्ति की इस भीषण कमी से लोगों को भूखों मरने की नौबत आई। सारी दुनियां में अर्थ की इस कमी ने अर्थ के प्रश्न का महत्त्व बढ़ा दिया। और अब तो यह कहना चाहिए कि दुनिया पर राज्य और धर्म का नहीं प्रत्युत अर्थ का ही समाज्य है। अब तो जिसके पास अर्थ है, राज-शक्ति भी उसी की दासी है। और न्याय उसके सामने हाथ जोडे खड़ा रहता है। सदाचार और धर्म के सिद्धान्त भी उसीके आचरण में से जन्म लेते हैं। अर्थ की इस कमी को देख कर बड़े-बड़े विचारकों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। उन्हीं की विचार-परम्परा की जड़ में से सम्पत्ति-शास्त्र, अर्थशास्त्र या अर्थ विज्ञान की उत्पत्ति हुई। सब से पहले अर्थात् दो तीन सौ वर्ष पूर्व इस शास्त्र का जन्म यूरोप में हुआ, मगर इतने थोड़े समय में ही वहां के साहित्य में इस सम्बन्ध की सैकड़ों पुस्तकें

दृष्टिगोचर होने लगीं। और अब तो इस शास्त्र के बहुत से सिद्धान्तों को शास्त्रीय स्वरूप भी प्राप्त हो गया हैं।

जहां राज सत्ता और धर्म ने समाज के रूप में अनेक परिवर्तन किये हैं तहाँ अर्थ-सम्पति–ने भी उस पर बड़ा प्रभाव डाला है। बल्कि आज तो सारे समाज पर राज्यसत्ता और धर्मों पर भी सम्पति ने स्वामित्व प्राप्त कर लिया है। सारे समाज का संगठन नये सिरे से होने लग गया है। अतः आइए हम भी देखें कि सम्पत्ति का समाज पर कैसा और कितना प्रभाव पड़ा है। तथा वह किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है।

दूसरा अध्याय

सम्पत्ति का स्वरूप

मनुष्य की जीवन-यात्रा को चलाने के लिए जिन जन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, जो वस्तुएँ प्रचुर परिणाम में बिना परिश्रम के प्राप्त नहीं हो सकतीं हैं, जिन वस्तुओं को प्राप्त करने में परिश्रम करना पड़ता है और जिनके बिना मनुष्य का काम नहीं चल सकता, साधारणतया उनकी गिनती सम्पत्ति में होती है ।

पर खास तौर से सम्पत्ति का प्रधान लक्षण उसका "विनिमय साध्य" होना माना जाता है । जो वस्तुएँ "विनिमय साध्य" नहीं है, अर्थात् जिनके बदले में दूसरी आवश्यक वस्तुएँ नहीं मिल सकतीं, वे वस्तुएँ चाहे परिश्रम से प्राप्त हुई हों, चाहे उनके प्राप्त करने में कुछ भी परिश्रम न लगा हो, सम्पत्ति नहीं कही जा सकतीं । उदाहरणार्थ एक मनुष्य के पास दस हजार रुपये की पुस्तकें हैं, यदि यह उनको बम्बई में या और किसी शहर में बेचें तो उनके उसे दस हजार रुपये मिल सकते हैं। पर वह उनको एक ऐसे गांव में ले आया, जहां पर एक भी मनुष्य पढ़ा लिखा नहीं, अथवा जहां पढ़े लिखे मनुष्य तो हैं मगर उनके पास सम्पत्ति का अभाव है । ऐसी स्थिति में उसकी पुस्तकों के कोई दो रुपये देने वाला भी वहां नहीं मिलता । यहां तक कि उनके बदले में उसे शायद कोई दो दिन का खाना देने को भी तैय्यार नहीं ।

अतः ऐसे स्थानों के लिए पुस्तकें सम्पत्ति नहीं समझी जाएँगी। क्योंकि यहां पर उनकी कुछ भी उपयोगिता नहीं है। इसी प्रकार, मान लीजिए, एक गांव में पहाड़ है उस पहाड़ में मनमाने पत्थर और ईंधन उत्पन्न होता है, वह वहां इतने प्रचुर परिमाण में पैदा हाता है कि वहां के लोगों को मुफ्त में ही वह खूब मिल जाता है। अतः उस गांव में उसकी कुछ भी कीमत नहीं। ऐसी स्थिति में वहां पर ये वस्तुएँ सम्पत्ति नहीं मानी जाएँगी। मगर यदि ये ही वस्तुएँ किसी ऐसी जगह में ले जाई जायँ जहां पर पत्थर और ईंधन बहुत कम तादाद में मिलता है, तो वहां पर जाकर वे वस्तुएँ भी विनिमय साध्य हो कर सम्पत्ति में शुमार होने लगेंगी। और बातों को छोड़ दीजिए, जल तो एक ऐसी वस्तु है न जो प्रायः सभी जगह मुफ्त में मिलती है? उसकी गणना कहीं भी सम्पत्ति में नहीं होती। मगर यही जल गर्मी के दिनों में यदि मरुभूमि के किसी जल-विहीन प्रान्त में ले जाया जाय, तो वहां पर वह भी सम्पत्ति का रूप धारण कर लेगा। वहां उसी के पैसे आने लग जाएँगे। मतलब यह कि आवश्यकता अ-प्रचुरता और परिश्रम ये तीनों ही मिलकर वस्तु को सम्पत्ति का रूप दे देते हैं।

कई लोग समझते हैं कि रुपये पैसे ही का नाम सम्पत्ति है। क्योंकि इसके बदले में वस्तुएँ मिल जाती हैं। मगर वास्तव में यह बात नहीं है। सिक्का तो केवल विनिमय के सुभीते के लिए बनाया गया है। यदि सिक्का न हो तो मनुष्यों को आवश्यक वस्तुओं का अदला-बदल करने में बड़ी कठिनाई हो। जैसे एक मनुष्य के पास कपास है। वह उसके बदले में एक बैल चाहता है।

मगर बैलवाले को कपास की जरूरत नहीं है, उसे कपड़े की जरूरत है। इधर कपड़े वाला बैल लेना नहीं चाहता। कितनी झञ्झट है? बेचारा कपास वाला ऐसे आदमी को कहां खोजने जाय जिसे कपास की भी जरूरत हो, और जिसके पास उसे देने के लिए फालतू बैल भी हों? इसी झंझट को मिटा देने के लिए सिक्के की सृष्टि हुई है। यह सम्पत्ति के परिमाण का सूचक है। इसकी बदौलत जिस मनुष्य को कपास की आवश्यकता होगी उसे वह कपास बेच कर उसके बदले में रुपये ले आवेगा और जिसका बैल उसे पसन्द होगा उसे रुपये देकर उससे वह बैल ले जावेगा। बस केवल इस अदला-बदल, परिवर्तन, या विनिमय की सुविधा के ख्याल से ही सिक्के की सृष्टि हुई है।

अब हम यह देखना चाहते हैं कि सम्पत्ति कितने प्रकार की और उसको प्राप्त करने के कौन कौन से तरीके हैं।

संसार में साधारणतया दो प्रकार के पदार्थ पाये जाते हैं। एक प्राकृतिक और दूसरे अप्राकृतिक। पहले प्रकार के पदार्थ मनुष्य-प्रकृति की सहायता से उत्पन्न करता है, और दूसरे प्रकार के पदार्थ वह स्वयं अपनी शक्ति के बल से उत्पन्न करता है। कृषि, शिल्प, खनिज पदार्थ, वायु, ताप, प्रकाश, नदी, नाले, जंगल, चारागाह, पर्वत, बाग, कारखाने, दुकानें, सड़कें, रेल, तार, डाक घर इत्यादि सामान पहली प्रकार की सम्पत्ति में सम्मिलित हैं। इसी प्रकार वैद्य, गायक, अध्यापक, वकील, सैनिक, पुलिस मैन तथा दूसरे लोगों की सेवा, इन सेवाओं के बदले मिलने वाली प्रतिष्ठा आदि बातें अप्राकृतिक सम्पत्ति में सम्मिलित हैं। कई अर्थ शास्त्री इस दूसरे प्रकार की सम्पत्ति अर्थात्

सेवाओं को सम्पत्ति में शुमार नहीं करते। उनके मतानुसार सेवाएँ "विनिमय-साध्य" नहीं है, अतः उनको सम्पत्ति में शुमार नहीं किया जा सकता। पर वास्तव में देखा जाय तो सेवा से मनुष्य की बहुतसी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं, उसका उन्हें बदला भी मिलता है। ऐसी स्थिति में वे सम्पत्ति की सूचि से अलग नहीं की जा सकतीं।

यह सब प्राकृतिक और अप्राकृतिक सम्पत्ति दो प्रकार की होती है। एक वह जो जंगम हो—एक जगह से दूसरी जगह हटाई जा सके, जिसका आपस में बदला हो सके। और दूसरी स्थावर—वह जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जाई जा सकती। उदाहरणार्थ एक जंगल की लकड़ी काट कर दूसरे स्थान पर पहुँचाई जा सकती है, मगर किसी देश का जल-वायु या वहां का प्राकृतिक सौन्दर्य्य वहां से हटा कर दूसरे स्थानों पर नहीं पहुँचाया जा सकता। अतएव उस जल वायु से या उस प्राकृतिक सौन्दर्य्य से जो लाभ होता है वह दूसरे देश को नहीं दिया जा सकता। विश्वविद्यालयों से मिली हुई डिगरियाँ भी इसी प्रकार दूसरों को किसी वस्तु के बदले में नहीं दी जा सकतीं।

इन सम्पत्तियों में से जिन पर व्यक्ति का अधिकार होता है या हो सकता है वे व्यक्तिगत सम्पत्ति कहलाती हैं। इसी प्रकार सब प्रकार की प्राकृतिक और सार्वजनिक जायदाद जैसे जल, वायु, ताप, सड़कें, पुल, नहरें, राज्य की रेलें, डाकघर, तारघर, शिक्षा-भवन, नाटक-घर, चित्रशाला आदि वस्तुएँ जातीय सम्पत्ति

में शुमार होती हैं। इसके अतिरिक्त समुद्र या इसी प्रकार की दूसरी व्यापक वस्तुएँ सार्वभौमिक सम्पत्ति गिनी जाती हैं।

सम्पत्ति की उत्पत्ति के साधन

यह सब प्रकार की सम्पत्ति तीन प्रकार के साधनों से उत्पन्न होती है। (१) प्रकृति (२) श्रम और (३) पूँजी। कई विद्वान् इन तीन साधनों के अतिरिक्त व्यवस्था, साहस और राज्य को भी सम्मिलित करते हैं मगर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इन तीनों का अन्तर्भाव प्रकृति, श्रम, और पूँजी में ही हो जाता है। कई अर्थशास्त्रज्ञों ने प्रकृति के स्थान पर जमीन को उत्पत्ति के साधनों में माना है, पर विचार करके देखने से प्रतीत होगा कि पृथ्वी के अतिरिक्त वायुमण्डल, समुद्र, गर्मी, सर्दी, प्रकाश, वायु, भाफ, विद्युत आदि और भी कई प्राकृतिक वस्तुएँ ऐसी हैं जो सम्पत्ति में सहायता प्रदान करती हैं। यदि ये वस्तुएँ न हों तो भूमि, श्रम और पूँजी सब निरर्थक हो जायँ। ऐसी स्थिति में उत्पत्ति के साधनों में भूमि शब्द का प्रयोग अत्यन्त संकुचित है उसके स्थान पर "प्रकृति" शब्द का प्रयोग अधिक व्यापक और उपयुक्त है।

(१) प्रकृति—यदि प्राकृतिक जगत् की सहायता मनुष्य को न होती तो उसे अपना जीवन-व्यवहार चलाने में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। इसका अनुमान करना भी कल्पना-शक्ति के बाहर है। मनुष्य को जीवन निर्वाह की सब सामग्रियां प्रकृति से ही प्राप्त होती है। जमीन के द्वारा उसे खाने पीने और पहनने की वस्तुएँ मिलती हैं, समुद्र के तत्व से भी उसे कई प्रकार की जीवनोपयोगी चीजें मिलती हैं। वायुमण्डल

से श्वास लेकर वह जीवित रहता है। खनिज पदार्थों की सहायता से वह अपनी रक्षा के साधन उत्पन्न करता है। जल, वायु, भाफ और विद्युत के उपयोग द्वारा वह नाना प्रकार की जीवनोपयोगी सामग्रियां तैयार करता है।

मतलब यह कि मनुष्य का जीवन, उसकी उन्नति और उसकी सभ्यता का आधार प्रकृति पर ही निर्भर है। इन्हीं पदार्थों की बदौलत मनुष्य इस संसार में जीता है। ज्यों ज्यों सभ्यता का विकास होता है, त्यों त्यों मनुष्य इनका अधिक और बुद्धिमतापूर्ण उपयोग करता है। जो जाति इनका जितना ही कम उपयोग करती है वह उतनी ही दरिद्र और सभ्यता से विहीन रहती है। मतलब यह कि अपने बुद्धि-बल से प्रकृति पर मनुष्य-समाज जितना ही अधिकार करता है वह उतना ही अधिक उन्नत और समृद्धिशाली हो सकता है।

श्रम—परन्तु बिना परिश्रम के मनुष्य प्रकृति के इन महत्वपूर्ण साधनों से लाभ नहीं उठा सकता। यदि वह आलसी और अकर्मण्य हो जाय, श्रम करना छोड़ दे तो प्रकृति के इस भण्डार से उसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। श्रम ही के द्वारा यह मिट्टी में से सोना उत्पन्न करता है। श्रम ही के बल से वह एक लोहे के टुकड़े को हज़ारों की कीमत का बना सकता है। श्रम ही की बदौलत वह अपनी आय को दस गुना और बीस गुना बढ़ा सकता है।

श्रम दो प्रकार का होता है। एक बौद्धिक और दूसरा शारीरिक विज्ञानवेत्ता रसायनशास्त्री, लेखक, राजनीतिज्ञ आदि मस्तिष्क से काम करने वाले लोगों का परिश्रम बौद्धिक कहलाता है।

शारीरिक परिश्रम की अपेक्षा बौद्धिक परिश्रम समाज को अधिक लाभकारी और अधिक उत्पादक शक्तियुक्त होता है। वह राह बतलाता है और शारीरिक परिश्रम उसी राह का अनुकरण करता है।

पूँजी—उत्पत्ति का तीसरा प्रधान साधन पूँजी है। यदि प्रकृति के साधन भी हों और श्रम भी हों लेकिन इनका उपयोग करने के लिए पास में पूँजी न हो तो ये सभी बेकार हो जाते हैं। कल्पना कीजिए एक कृषक के पास काफी जमीन है और उसके कुटुम्ब में काम करने वाले आदमी भी काफी हैं। मगर उसके पास बीज, हल और बैल नहीं हैं। ऐसी स्थिति में जमीन और श्रम के रहते हुए भी इन चीजों के बिना उसे हाथ पर हाथ धरे बैठा रहना पड़ेगा मतलब यह कि पूँजी भी उत्पत्ति के साधनों में से एक प्रधान है।

सम्पत्ति की वृद्धि के लिए इन साधनों की उत्पादक शक्ति को बढ़ाना आवश्यक है। कृषि-विज्ञान, पशुपालन-विद्या, शिल्पकला, व्यापार व्यवसाय आदि की उन्नति से सम्पत्ति की वृद्धि होती है।

तीसरा अध्याय

समाज में सम्पत्ति का स्थान

मनुष्य आवश्यकताओं का पुतला है। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह भिन्न भिन्न प्रकार की आवश्यकताओं के जाल में फंसा हुआ रहता है जब तक उसका सामाजिक जीवन प्रारम्भ नहीं हुआ था, जब तक वह स्वच्छन्दतापूर्वक जङ्गलों में विचरण करता फिरता था, तब तक उसकी आवश्यकताएं बहुत कम थीं। वृक्षों के फल फूल और जङ्गली प्राणियों का मांस खाकर वह अपना पेट भर लेता था। और पेड़ों की छाल से, आग से तथा पहाड़ी गुफाओं में रहकर वह सर्दी, गर्मी से अपना बचाव कर लेता था। लेकिन ज्यों ज्यों उसका स्वाधीन जीवन सामाजिक जीवन में बदलने लगा, ज्यों ज्यों उसका सामाजिक जीवन विकसिक होने लगा, त्यों त्यों उसकी आवश्यकताएं बढ़ने लगीं। खाने के लिए अन्न की आवश्यकता होने लगी। अन्न में से तरह तरह के पकान बनाने लगे। पहनने के लिए भांति भांति के वस्त्रों की आवश्यकता हुई। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सम्पत्ति की ज़रूरत होने लगी। इस प्रकार सामाजिक जीवन में सम्पत्ति की विशेष स्थिति उत्पन्न हुई। और उसके विषय में निश्चित् सिद्धान्त स्थिर हुआ। अब हम इसी सिद्धांत पर थोड़ासा प्रकाश डालने की चेष्टा करते हैं।

सम्पत्ति का मुख्य सिद्धान्त और उसकी स्थिति का मुख्य

उद्देश्य यह है कि वह मनुष्य की जरूरी आवश्यकताओं को पूरी करे। सामाजिक जीवन की रक्षा के लिए-समष्टिगत शान्ति की स्थापना के लिए—यह आवश्यक है कि समाज के सब मनुष्य सुख पूर्वक अपनी आवश्यकताओं को पूरी कर सकें। किसी को खाने पहनने की चिंता से अपना जीवन भार-स्वरूप मालूम न हो। आवश्यकताओं को पूर्ण करने की चिंता किसी की उन्नति के मार्ग में बाधक न हो। जिस समाज के सदस्य शांतिपूर्वक अपनी आजीविका को संपन्न करते हुए उन्नति के मार्ग में अग्रसर हो रहे हों, समझना चाहिए कि उस समाज में सम्पत्ति का सिद्धांत सफल हो रहा है। सम्पत्ति की यही स्थिति समाज के लिए श्रेयस्कर है। इससे नीचे दर्जे की स्थिति भी समाज के लिए भयंकर है और इससे ऊँचे दर्जे की स्थिति भी उसके लिए अभीष्ट नहीं हो सकती। पहली स्थिति में समाज में सम्पत्ति का अभाव हो जाता है और दूसरी स्थिति में उसकी हद से अधिक वृद्धि हो जाती है।

जिस समाज में सम्पत्ति का अभाव होता है, जिसके सदस्यों को खाने के लिए पर्याप्त अन्न और पहनने के लिए पर्याप्त वस्त्र नहीं मिलते, उस समाज में स्थायी शांति का कभी उद्भव नहीं हो सकता। ऐसे समाज के सदस्य तमोगुणी हो जाते हैं। उनके जीवन का अधिकांश हिस्सा अन्न वस्त्र की चिन्ता में ही व्यतीत हो जाता है। नंगे शरीर और भूखे पेट न तो वे उन्नति की चिंता कर सकते हैं और न सामाजिक जीवन की रक्षा कर सकते हैं। ऐसे समाज में चोरी, डकैती, हिंसा रक्तपात का बाजार गर्म हो जाता है और सामाजिक जीवन भी पतित हो जाता है।

सम्पत्ति का अभाव बड़ा ही अनर्थकारी है। समाज

में समष्टिरूप से अर्थ का अभाव होते ही मान, ऐश्वर्य, विलास, विद्वत्ता, नीति सब अर्थ के पराधीन हो जाते हैं। अर्थात् ये सब बातें पैसे की गुलाम हो जाती हैं बड़े बड़े विद्वान् राजनीतिज्ञ और प्रतिभाशाली पुरुष निरक्षर और मूर्ख सम्पत्तिशालियों के द्वार पर नत-मस्तक होकर खड़े रह जाते हैं। सम्पत्ति के आगे सदाचार और स्वास्थ्य का कोई मूल्य नहीं रहता। तमाम सामाजिक विभूतियाँ अर्थ के पीछे मारी मारी फिरती हैं। अर्थ ही लोगों का धर्म, अर्थ ही कर्म, अर्थ ही स्वास्थ्य और सदाचार हो जाता है। अर्थ-सम्पन्न लोग अर्थ-विहीन व्यक्तियों पर मनमाने पाशविक अत्याचार करते हैं।

मतलब यह कि अर्थ का अभाव और उसका प्रभाव दोनों ही समाज के लिए हानिकारक हैं। अतएव सामाजिक जीवन की रक्षा के लिए उसके अभाव और प्रभाव दोनों को रोकना, उसको वश में रखना तथा उसके प्रति न अत्यन्त घृणा के और न अत्यंत गौरव के भाव होने देना आवश्यक है। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि अर्थ को उसकी मर्यादा में रखना सामाजिक उन्नति के लिए अनिवार्य है।

अर्थ को उसकी मर्यादा में रखने के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि समाज में वह प्रचुर परिमाण में दृष्टिगोचर हो। जिससे न तो उसका अभाव रहे और न उसका आवश्यकता से अधिक महत्त्व बढ़े। आजकल धन की प्रचुरता का अर्थ लोग द्रव्य की प्रचुरता समझ लेते हैं और इसी से वे बड़े भ्रम में पड़ जाते हैं जो मुख्य धन हैं—जैसे अन्न, वस्त्र

इत्यादि उनकी उपेक्षा करके वे गौण द्रव्य को—जैसे रुपया पैसा, सोना, चांदी आदि को—उपार्जित करने की ओर अधिक झुक जाते हैं। जिससे समाज में मुख्य धन का उत्पादन कम और गौण द्रव्य का उत्पादन अधिक होने लगता है। यह स्थिति बड़ी अनर्थकारक है। समाज की रक्षा के लिए जीवनोपयोगी धन की उत्पत्ति की अधिक आवश्यकता है। समाज को इसीकी उत्पत्ति की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। उसे इस बात का खयाल रखना चाहिए कि भोक्ताओं को अपेक्षा हमेशा उत्पादकों की संख्या अधिक रहे। ऐसा होने से हमेशा समाज में धन का प्राचुर्य रहेगा। जिससे उसका अनावश्यक अभाव और प्रभाव न बढ़ सकेगा।

इन सब बातों की सफलता के लिए निम्नाङ्कित बातों में उन्नति होना अत्यन्त आवश्यक है। ये बातें सामाजिक सम्पत्ति की वृद्धि के मुख्य साधन-रूप हैं। (१) विनिमय-प्रथा (२) कृषि (३) पशु-पालन (४) व्यापार। अतः इन सब बातों का वास्तविक महत्त्व जान लेना परम आवश्यक है।

(१) विनिमय-प्रथा।

पहले के जमाने में जब लोगों की आवश्यकताएं बहुत थोड़ी थीं। क्रय-विक्रय अर्थात् खरीदी-बिक्री की प्रथा का अस्तित्व न था। उस समय लोग अपनी आवश्यक वस्तुओं का परस्पर बदला कर लिया करते थे। यदि कृषक को हल की ज़रूरत है और उसके पास अनाज कुछ ज्यादा है तो वह अनाज को लेकर लुहार के यहाँ पहुँचेगा। और उसे अनाज दे कर हल ले आवेगा।

यह प्रथा तभी तक समाज में सफल हो सकती है जब तक उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की संख्या परिमित हो। लेकिन जब मनुष्य की आवश्यकताएं बहुत बढ़ जाती हैं और उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की संख्या अपरिमित हो जाती है तब यह पद्धति धीरे धीरे असफल होने लगती है और मनुष्य समुदाय को बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मान लीजिए एक कृषक के पास अनाज है। वह उसके बदले में हल चाहता है। मगर हल वाले लोहार के पास अब इतना अनाज है कि उसे अधिक अनाज की ज़रूरत नहीं, अब उसे वस्त्र की जरूरत है। इधर वस्त्रवाले को हल और अनाज दोनों ही की जरूरत नहीं है। उन्हें किसी चीज को प्राप्त करने और अपने पास की आवश्यक चीज की उचित व्यवस्था करने में बहुत भारी कठिनाई पड़ती है। यह कठिनाई उस समय और भी बढ़ जाती है जब अन्तर्प्रान्तीय, या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रारम्भ हो जाता है। इन्हीं सब कठिनाई को दूर करने के लिए समाज में सिक्के का आविष्कार हुआ है। सिक्के की उत्पत्ति से यह सब कठिनाई दूर हो गई। सिक्का विनिमय के मध्यवर्ती का काम करता है। यह एक प्रकार का ऐसा टिकिट या हुक्मनामा है, जिसके प्रभाव से मनुष्य को खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने की सामग्री आसानी से प्राप्त हो सकती है। कोई भी मनुष्य अपनी वस्तु के बदले या अपने परिश्रम के बदले इसे लेने में इन्कार नहीं करता। क्योंकि उसे इस बात का विश्वास रहता है कि इसकी जो कीमत बँधी हुई है वह किसी भी समय किसी भी बाजार में मिल सकती है। सिक्के के प्रभाव से अन्तर्जातीय व्यापार का मार्ग भी बड़ा आसान हो गया। अब आप

चाहे जहाँ से, चाहे जो माल मंगाइए और उसके बदले में सिक्के चुका दीजिए। न लेने वाले को आपत्ति होगी न देने वाले को। मतलब यह कि सिक्के के आविष्कार से मनुष्य का व्यावहारिक जीवन बड़ा सरल हो गया है।

लेकिन जहाँ सिक्के की उत्पत्ति से इतने लाभ होते हैं, वहाँ इससे हानियाँ भी बहुत होती हैं। सब से बड़ी हानि इससे यह होती है कि समाज में सिक्का चलते ही धन (मूल सम्पत्ति, अन्न वस्त्र आदि) की महत्ता घट कर द्रव्य (गौण सम्पत्ति रुपया पैसा, सोना चाँदी) की महत्ता बहुत बढ़ जाती है। सारी प्रजा द्रव्य-संचय की ओर झुकने लगती है। जिसका पहला परिणाम यह होता है कि समाज में उत्पादकों की अपेक्षा भोक्ताओं की संख्या अधिक बढ़ने लगती है। और लोगों की आजीविका कष्ट साध्य हो जाती है। और उनके अन्दर पेट की चिन्ता बहुत जोर पकड़ लेती है। जो लोग चालाकी, धूर्तता और परद्रव्य हरण में चतुर होते हैं, वे धनाढ्य हो जाते हैं, और जो उसमें चतुर नहीं होते, ईमानदारी पर आरूढ़ रहते हैं, वे दरिद्री रहते हैं। इस प्रकार समाज में पूंजीपति और श्रमजीवी या कृषक ऐसे दो विभाग हो जाते हैं। पूँजीपति लोग अपने द्रव्य के प्रभाव से इन कृषकों को चूसते रहते हैं। दूसरा परिणाम यह होता है कि सिक्कों के चलन से—ग्राम बरबाद होते जाते हैं और शहर आबाद होते जाते हैं।

सामाजिक जीवन की रक्षा के लिए इस भीषण विपत्ति को टालना आवश्यक है। पर सिक्के की उपयोगिता इतनी अधिक है कि

समाज से उसका अस्तित्व मिट नहीं सकता। फिर भी निम्नांकित उपायों से यह बाधा कुछ दूर हो सकती है।

(१) सिक्कों का अनाधिक्य—यह बात तो निश्चित् है कि समाज का व्यवहार चलाने के लिए सिक्कों के प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है फिर भी इनका अत्यधिक प्रचार होना अनिष्ट कारक है। अतः जहाँ पर इनकी अत्यन्त आवश्यकता हो वहीं पर इनका प्रचार होना चाहिए। जिससे केवल सिक्कों का संग्रह करने की ओर ही केवल लोगों का ध्यान न रहे। वास्तविक अर्थ को संग्रह करने की ओर भी उनका लक्ष्य रहे।

(२) नगरों की अपेक्षा ग्रामों में सिक्कों का कम प्रचार हो। वास्तव में देखा जाय तो नगरों की अपेक्षा ग्रामों में मुख्य अर्थ का उत्पादन बहुत अधिक होता है। ऐसी स्थिति में ग्रामों में सिक्कों का अधिक प्रचार हुआ तो वहाँ आलस्य और भोग-विलास की वृद्धि होगी। जिससे वहाँ मूल अर्थ का उत्पादन करने की तरफ से लोगों का ध्यान हट जायगा। अतः ऐसी जगह वस्तु-विनिमय प्रथा का ही अधिक प्रचार होना चाहिए।

(३) सिक्कों का मूल्य उनकी धातु के मूल्य के बराबर हो—सिक्कों का मूल्य उनकी धातु के मूल्य से अधिक होने से लोग बहुत से जाली सिक्के बना बना कर बाजारों को उनसे पाट देते हैं। भारत में सिक्के का मूल्य धातु के मूल्य से अधिक है। अतः यहाँ पर इस प्रकार के दृश्य अभिनीत होते हैं। कोर्टों में इस प्रकार के अभियोग चलते ही रहते हैं। इस कठिनाई को दूर करने का यही उपाय है कि सिक्कों का मूल्य उनकी धातु के मूल्य के बराबर ही कर दिया जाय। ऐसी स्थिति में सिक्के बनाने में

कुछ लाभ न रहने पर कोई उनके बनाने में सिर समय और शक्ति न खपाएगा। उदाहरणार्थ निकल धातु के सिक्कों के टकसाल से बाहर निकलते ही जाली सिक्कों की बहुतायत होने लगी। मगर ज्यों ही सोने का मूल्य गिन्नियों से बढ़ने लगा त्यों ही गिन्नियों का बाजार में अभाव होने लगा। मतलब यह है कि धातु से अधिक सिक्के का मूल्य रखने से बड़ी हानि होती है।

(४) अन्तर्देशीय व्यापार में केवल सिक्कों का प्रचार हो—इस पद्धति से अन्तर्वाणिज्य वाले देश एक दूसरे के आधीन नहीं होते। एक का अर्थ-संकट दूसरे को नहीं हड़प सकता। निर्बल देशों का आवश्यक माल निकाल कर बलवान देश उसमें अनुपयोगी वस्तुएं नहीं भर सकते।

उपर्युक्त नियमों का प्रचार होने से बड़ा लाभ तो यह होता है कि मुख्य अर्थ का उत्पादन न करने वालों का अथवा किसी दूसरे उपयोगी काम न करने वालों का समाज में निर्वाह होना कठिन हो जाता है। जिसके परिणाम-स्वरूप समाज में भोक्ताओं और उत्पादकों की संख्या का समीकरण हो जाता है। समाज में घुसी हुई विलासिता और आलस्य नष्ट हो जाते हैं, झूठ और जालसाजी बहुत कम हो जाती है और समाज आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र बना रहता है।

——————

तीसरा अध्याय

संपत्ति की वृद्धि

कृषि

सामाजिक जीवन के लिए कृषि की अनिवार्य आवश्यकता है। मानव-जीवन की रक्षा और व्यवस्था के लिए अन्न, रुई, सन, फल, फूल आदि जिन जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, वे सब कृषि ही से उत्पन्न होती हैं। सच पूछा जाय तो जिस दिन कृषि की कल्पना लोगों के अन्दर जागृत हुई, उसी दिन समाज व्यवस्था के स्थायी रूप का जगत् में उदय हुआ। इसकी वजह से लोगों को एक स्थान पर जमकर रहना आवश्यक प्रतीत हुआ। पहाड़ों को छोड़कर मैदानों की शरण लेनी पड़ी। सर्दी, गर्मी और वर्षा से बचने के लिए नाना प्रकार के उपायों का अवलम्बन करना पड़ा, और रक्षा के साधन बनाने पड़े। खास करके भारतवर्ष ने तो अपना जीवन ही कृषि पर निर्भर कर दिया। यहाँ की भूमि की उर्वरा-शक्ति अच्छी होने से उसने मांसाहार को करीब करीब छोड़ ही दिया।

संसार ने आवश्यकता के वश होकर कृषि को अपनाया तो अवश्य, मगर उसके विकास करने की ओर ध्यान नहीं दिया गया जो औजार प्राथमिक अवस्था में चल निकले वे ही अब तक काम में लाये जा रहे हैं। खाद का भी यही सिलसिला है। जिस खाद से एक फसल अच्छी फली फूली वही सब फसलों में समान रूप

से दिया जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि जब तक भूमि में स्वाभाविक रूप से उर्वरा-शक्ति रही, तब तक तो वह मनुष्य की इस लापर्वाही में भी बराबर फल देती रही। मगर लगातार फसलों के द्वारा उसका रस चूसा जाता रहने से और पर्याप्त खुराक न मिलने से उसकी उत्पादक शक्ति कम होने लगी। जिस धरती में बीस मन गेहूँ पैदा होता था उसी में क्रमशः बारह,दस और आठ ही मन पैदा होने लगा। इधर ईंधन के लिए जंगल के जंगल काट डाले गये और उनमें नये वृक्ष नहीं लगाये गये,परिणाम यह हुआ कि वृष्टि का होना भी कम हो गया। मनुष्य समाज ने ये सब घटनायें बड़े आश्चर्य के साथ देखीं। भारतीय समाज के धर्म-शास्त्रों में तो इसका बहुत समाधान पहले ही कर दिया गया था। कलियुग आवेगा, उसमें खेती वर्षा आदि सभी बातों का अभाव होगा। यहां का अन्धविश्वासी समाज इसी फेर में आकर हाथ पर हाथ रक्खे बैठ गया। ज्यादा से ज्यादा किया तो किसी देवता के आगे जाकर ढोल पीट लिया। बस, उसके कर्तव्य की इति श्री हो गई। उसने इसमें बुद्धि लड़ाना व्यर्थ समझा; 'जब कलियुग ही आ गया तो फिर मनुष्य के प्रयत्न से क्या हो सकेगा।' इस प्रकार भारतीय मनुष्य-समाज की बुद्धि पर तो यहां के अन्ध विश्वास ने कुल्हाड़ी मार दी।

यदि सब जगह यही हालत हो जाती, तब तो मनुष्य-जाति को कितनी भीषण कठिनाइयां उठानी पड़तीं इसका अन्दाज़ करना भी कठिन है। शायद कुछ दिनों पश्चात् मनुष्य समाज को कण-कण के लिए मोहताज होना पड़ता, और पुनः उसे अपनीआदिम अवस्था स्वीकार करनी पड़ती।

मगर बुद्धिवाद के युग ने, विज्ञान के उदय ने मनुष्य-समाज को इस भावी संकट से बचा लिया। प्रत्येक कार्य का कारण ढूँढने वाले वैज्ञानिकों ने भूमि की उत्पादक शक्ति के क्रमागत ह्रास के कारणों का ढूँढना प्रारम्भ किया। उन्होंने रसायन शास्त्र की दृष्टि से भूमि के और फसल के मूल तत्त्वों का पता लगाया; और देखा कि मनुष्य ही की तरह पौधे भी ऐन्द्रिक पदार्थ हैं। उनकी भी विशेष प्रकार की शारीरिक बनावट है। उनकी जीवन रक्षा के लिए (१) आक्सिजन (२) कार्बन (३) हाईड्रोजन (४) कैलशियन (५ मैगनेशियन (६) लोहा (७) गन्धक (८) पोटोशियम (९) फास्फोरस और (१०) नाइट्रोजन। इन दस तत्त्वों की प्रधान रूप से आवश्यकता है। इनमें से पौधों में नब्बे प्रतिशत ऑक्सिजन, कार्बन और हाईड्रोजन होते हैं। मगर जल-वायु में इनकी अधिकता होने से पौधों को यह तत्व प्राकृतिक रूप से मिल जाते हैं। कैलसियम, मैगनेशियम, लोहा और गंधक की पौधों को बहुत कम मात्रा में आवश्यकता होती है ये पदार्थ भी उन्हें आवश्यकतानुसार जमीन में से मिल जाते हैं। लेकिन पौटेशियम, फास्फोरस और नाईट्रोजन ये तीन तत्व ऐसे हैं जो पौधों को काफ़ी मात्रा में चाहिए मगर इनका जमीन में अभाव रहता है। ज्यों २ फसलें करती हैं त्यों त्यों जमीन में से ये तत्त्व निकलते जाते हैं और इससे जमीन की उर्वरा शक्ति कम होती है। अतः जमीन की उर्वरा-शक्ति को बनाए रखने के लिए जमीन को ऐसे खाद देते रहना चाहिए जिनमें ये तत्त्व उचित परिमाण में मौजूद हों। इन लोगों ने यह भी पता लगाया कि कौनसी फसल किस परिमाण में कौनसा तत्त्व जमीन में से

चूस लेती है और कौनसे खाद में कौनसा तत्त्व किस परिमाण में मौजूद होता है। उदाहरणार्थ उन्होंने बतलाया कि मकई की फसल में पौटेशियम की अधिक मात्रा होती है। गेहूँ की फसल फास्फोरस को अधिक चूसती है। इसी प्रकार प्रत्येक प्रकार के खाद का भी रासायनिक विश्लपेण करके उन्होंने बतला दिया कि अमुक खाद्य में अमुक तत्त्व की इतनी मात्रा होती है। जैसे मकई की फसल जमीन से जितना पौटेशियम चूसती है उसका एक चौथाई उस के भुट्टों में और तीन चौथाई उसके डण्ठलों में होता है। यदि ये डण्ठल वैसे ही हांक दिये जायँ या उनमें आग लगा कर उनकी राख उसी मिट्टी में मिला दी जाय तो जमीन से चूसे हुए पौटेशियम का बहुत सा हिस्सा उसे वापस मिल सकता है। फास्फोरस की कमी हड्डी के खाद से पूरी हो सकती है क्योंकि उसमें ४५ सैकड़ा फास्फरस और ३.३० प्रति शतक नाइट्रोजन होता है, इसी प्रकार पशुओं के मैले का विश्लेषण करके विज्ञान ने बतलाया है कि पशुओं के मैले में जितने उपयोगी तत्त्व होते हैं उनका ५/८ द्रव रूप में और ३/८ ठोस रुप में रहता है। उन्होंने अलग अलग पशु के मैले का अलग अलग तात्त्विक विश्लेपण करके बतलाया है कि अमुक के मैले में अमुक तत्त्व अमुक तादाद में विद्यमान रहते हैं। यदि बुद्धिमानी पूर्वक इनका उपयोग किया जाय तो भूमि की उपज दुगुनी तिगुनी ही नहीं दसगुनी तक बढ़ सकती है।

केवल खाद सम्बन्धी विश्लेषण करके ही विज्ञान चुप नहीं हो गया। उसने कृषि के सम्बन्ध में और भी कई आश्चर्य्यजनक खोजें कीं। कई नये नये यंत्रों का आविष्कार भी किया। उसने

बतलाया कि जमीन खोदने के अभी तक जितने यंत्र बने हैं वे सब अधिक से अधिक चार पांच इंच जमीन को खोदते हैं। अभी तक संसार में जितनी फसलें पैदा हो रही हैं वे सब इस चार पांच इंच जमीन ही में तत्त्व चूस रही हैं, जिससे ऊपर की सब मिट्टी निःसत्त्व हो गई है। लेकिन इसके नीचे की मिट्टी में अभी तक ज्यों के त्यों तत्त्व मौजूद हैं। यदि नीचे की मिट्टी खोद कर ऊपर की मिट्टी में मिला दी जाय तो उसकी उर्वरा शक्ति बहुत बढ़ सकती है। इसके लिए पाश्चात्य देशों ने दस इंच मिट्टी खोदने वाले हलों को बनाकर कृषि करना प्रारम्भ किया है। इस प्रयोग से उनको आशातीत लाभ भी हुआ है। इसके अतिरिक्त अनावृष्टि और अतिवृष्टि से बचने के लिए विज्ञान ने वृष्टि और बादलों को उड़ाने वाली तोपों का भी आविष्कार किया है। मतलब यह कि अपने प्रत्यक्ष आविष्कारों के द्वारा विज्ञान ने प्रारब्ध वाद के ताने बाने बिखेर कर यह सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी की उत्पादक शक्ति अब भी बहुत बढ़ाई जा सकती है, यदि मनुष्य में बुद्धि और कर्म करने की शक्ति हो।

समाज की जीवन-रक्षा के लिए ये आविष्कार बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इन्होंने मनुष्य की निराशा और अकर्मण्यता के परदों को फाड़ कर उसकी शक्ति को बहुत बढ़ा दिया है। जो समाज अपने सत्त्व, समृद्धि, सम्पत्ति और स्वाधीनता की रक्षा करना चाहता है उसे अवश्य इन आविष्कारों से लाभ उठाकर अपनी सम्पत्ति को बढ़ाने में प्रयत्नशील होना चाहिए। अब प्राचीन काल की कृषि-पद्धति असफल और निरुपयोगी सिद्ध हो चुकी है। समाज का और राज्य का कर्तव्य है कि जिस विभाग के

जिम्मे कृषि का कार्य्य है उसे ज्ञान की इस नवीन रोशनी से परिचित करे। उसे नवीन पद्धति से खेती करने के लिए प्रेरित करे। जो औजार अधिक कीमती हों, सुलभ न हों ऐसे औजारों को वह अपने संग्रह में रक्खे और किसानों को किराये पर देने की व्यवस्था करे। तथा एक महकमा ऐसे विद्वानों कृषि-विद्या-विशारदों का खोला जाय जो उत्साह पूर्वक ग्रामों में जा जा कर वहां किसानों को नवीन पद्धति की खेती की शिक्षा दें।

(२) पशु-पालन

कृषि के साथ पशु-पालन के प्रश्न का बड़ा गहरा सम्बन्ध है पशु भी समाज की एक बहुत बड़ी आवश्यकता को पूर्ण करने वाला साधन है। इन्हींसे मनुष्य शरीर के लिए अत्यन्त आवश्वक दूध और घी की उत्पत्ति होती है। इनके मल-मूत्र से फसलों को खाद्य सामग्री मिलती है। इनकी सहायता से जमीन हाँकी जाती है। और भी कई प्रकार के भिन्न भिन्न उपयोगों में ये आते हैं। भारतवर्ष में पूर्वकाल में पशु-पालन का बहुत बड़ा महत्त्व माना जाता था। राज्य की ओर से बहुत सी गोचर भूमि निकाल दी जाती थी। जिस पर सब पशु आनन्दपूर्वक चरते रहते थे। इसके अतिरिक्त इनके स्वास्थ्य वगैरह पर भी बहुत ध्यान रक्खा जाता था। मगर और और बातों के साथ यहाँ पर अब यह पद्धति भी भ्रष्ट हो गई है। यहाँ पर रंग लगाकर उनकी पूजा करना आतिशबाजी से उनको चमकाना और उनको "माता" कहना भर ही शेष रह गया है। इस देश में अब पशुओं के खाने के लिए गन्दी घास और गन्दा पानी मिलता है। उनकी

रहने की जगह उनके मलमूत्र से सनी हुई रहती है, जहाँ पर उन्हें लाखों डांस और मच्छर बुरी तरह से सताते रहते हैं। उनके श्रम और रोग की कोई परवाह नहीं की जाती। गर्मी के दिनों में उन्हें प्रायः भूखों रहना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रतिवर्ष लाखों पशु तो भूख-प्यास और नाना प्रकार की बीमारियों के द्वारा मर जाते हैं और जो रहते हैं वे दुर्बल रोगी, जर्जर और महा कमजोर होते हैं। कहने को तो यह देश गाय को माता कहता है मगर उसके साथ इतना बुरा व्यवहार करता है कि जितना कोई भयङ्कर हिंसक देश भी न करता होगा।

समाज की जीवन-रक्षा और उसकी सम्पत्ति वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि उसमें पशु पालन पर अधिक से अधिक ध्यान दिया जाय। जब पशु अच्छे होंगे तो उनका दूध दही भी अच्छा और पौष्टिक होगा! उनका खाद भी बढ़िया होगा, और वे स्वयं भी कृषि के लिए अधिक उपयोगी होंगे। इसके लिए सामाजिक रूप से इस बात का प्रयत्न होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति अपने पशुओं के खान, पान और रहन सहन पर पूरा पूरा ध्यान रक्खे। जो लोग चराने वाले हों, उन्हे इस बात की सख्त हिदायत दी जाय कि वे उन्हें गन्दी घास और गन्दा पानी न दें। और अपरिपक्व अवस्था में वे सन्तानोत्पत्ति भी न कर सकें। यदि यह सम्भव न हो तो प्रत्येक व्यक्ति को अपने अपने पशुओं को चराने का प्रबन्ध अपने खेतों पर ही करना चाहिए। उनके रहने के मकान पक्के और चूने-बन्द फ़र्श के होने चाहिए। ये मकान रोज पानी से धोये जाना चाहिए। जिससे वहां पर गन्दगी, बदबू और मच्छर पैदा न हो सकें। इसके

अतिरिक्त उनके मलमूत्र को इकट्ठा करने का भी प्रबन्ध होना चाहिए, जिससे यह कृषि के उपयोग में आ सके। बहुतसे पशु आपस में बुरी तरह से लड़कर अपना नुकसान कर लेते हैं। इस खराबी से बचाने के लिए इनके सींग ज्यादा नहीं बढ़ने देना चाहिए। बच्चों के उत्पन्न होते ही कुछ दिनों पश्चात् उनके सींगों की जगह पर कॉस्टिक पोटास लगाते रहने से यह खराबी उत्पन्न नहीं होती।

राज्य का कर्तव्य।

राज्य की ओर से इस बात की व्यवस्था होना चाहिए कि चरागाहों और जङ्गलों में बहुत कम बदले पर पशुओं को चरने दिया जाय, नई नई प्रकार की घासों और पौधों के बीज (जैसे कसावा, कलोवर, अलफाका इत्यादि) किसानों को मुफ्त दिये जांय, स्थान स्थान पर ऐसी पशु-शालाएं खोली जायं जहां पर उत्तम नस्ल के लिए स्वस्थ और पुष्ट घोड़े सांड तथा भैंसे रक्खे जायँ। पशु-रोगों की चिकित्सा के लिए प्रत्येक तहसील में पशु-वैद्य रक्खे जायँ। प्रान्तीय सरल भाषाओं में पशु-पालन की शिक्षा देने वाली पुस्तकें और क्रोड़पत्र बांटे जायँ। तथा अच्छे से अच्छे स्वस्थ गाय, बैल, और भैंस रखने वालों के लिए पुरस्कार नियत किये जायँ।

(२) सहकारी बैंक।

कृषि और पशु पालन में तरक्की करने के लिए सहकारी बैंकों का होना समाज में नितान्त आवश्यक है। बेचारे गरीब किसान सूद खोर पूंजीपतियों के जाल में इतनी बुरी तरह से फँस जाते

हैं कि रात और दिन, सर्दी और गर्मी तन तोड़ मेहनत करने पर भी उनका उद्धार नहीं हो पाता। सवेरे से शाम-तक लगातार परिश्रम करने पर भी उनको और उनके बच्चों को भरपेट भोजन नसीब नहीं होता। पूंजी-पतियों का कर्ज दिन रात उन पर बढ़ता ही रहता है। इसके अतिरिक्त उन्हें उत्तम मनचाहा बीज, मनचाहे पशु और मनचाहे औजार भी नहीं मिलते। ये सब उन्हें महाजन की इच्छानुसार लेना पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में किसान कृषि में कैसे उन्नति कर सकते हैं।

ये सब बाधाएँ सहकारी बैंकों से दूर हो सकती हैं। ये बैंक तीन प्रकार के होते हैं।

(१) ग्रामीण-बैंक ग्राम, या आस पास के दस पांच ग्राम वाले मिलकर एक बैंक खोलते हैं, उन लोगों की जितनी बचत होती है, सब इस बैंक में जमा होती है। और उसी में से लोगों को साधारण सूद पर सब चीजें उधार मिलती हैं। कई स्थानों पर स्थानीय सरकार भी ऐसे बैंक खोलती है, वही पूंजी लगाती है और वही सब व्यवस्था करती है।

(२) नागरिक बैंक-नगरों के किसानों शिल्पकारों, बुद्धिजीवियों, व्यापारियों एवं मजदूरों के सहायतार्थ ये बैंक बनाये जाते हैं।

(३) सैंट्रल बैंक-उपर्युक्त दोनों बैंकों में धन की कमी रहती है। उस कमी को पूरी करने के लिए ये बैंक खोले जाते हैं। ऐसे बैंक अधिकतर सरकारी होते हैं।

पूर्वोक्त दो प्रकार के बैंकों का प्रबन्ध वहां के निवासी अवैतनिक रूप से करते हैं, अर्थात् वे अपनी सेवाओं के बदले में कुछ भी नहीं लेते। दूसरी बात यह है कि इन बैंकों से स्थानीय

तथा-ऐसे लोगों को ही कर्ज दिया जाता है, जिन पर बैंक का विश्वास होता है। ऐसी स्थिति में इन बैंकों से धोका होने का डर नहीं रहता, और बैंक को चलाने में खर्च भी कम पड़ता है। इसके अतिरिक्त ऐसे बैंकों की आय पर सरकार इनकमटैक्स भी नहीं लेती और न रजिस्ट्री फीस या स्टाम्प लेती है। एक और सुभीता यह होता है कि यदि कोई किसान कर्ज अदा न करे तो सरकार का लगान चुक जाने के बाद उसकी जायदाद पर सबसे पहला अधिकार बैंक का होता है। इसके अतिरिक्त सहकारी बैंकों से और भी कई प्रकार के लाभ हैं। इनमें से कुछ नीचे लिखे जाते हैं। ❀

(१) इन बैंकों से कम सूद पर रुपया मिलने की वजह से किसान हमेशा कर्ज के बोझ से लदे नहीं रहेंगे। वे आसानी के साथ बैंकों का कर्ज अदा कर अपनी जीविका सम्पन्न कर सकेंगे।

(२) ये बैंक उत्पादक कामों में व्यय करने ही के लिए किसानों को रुपया उधार देंगे। इससे आजकल रीति-रिवाजों के नाम पर तथा दूसरे कारणों से किसानों में जो फिजूल खर्ची हो रही है, वह बन्द हो जायगी। और धन की कमी से कृषि की उन्नति में जो बाधा पड़ रही है वह दूर हो जायगी।

(३) इन बैंकों की वजह से किसानों में मुकदमेबाजी बहुत कम हो जायगी। इस प्रकार अदालतों के खर्चों में, वकीलों,

---

❀ सहकारी बैंकों के लाभ हमने प्रो० बालकृष्ण के अर्थशास्त्र से सधन्यवाद उद्धृत किये हैं। लेखक—

मुन्शियों, और चपरासियों के देने लेने में जो करोड़ों, अरबों रुपयों का नाश होता है वह बन्द हो जायगा। इन रुपयों से कृषि व्यापार व्यवसाय और शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक सुख की वृद्धि हो सकती है। पंजाब में इस प्रकार के कुछ बैंक खुले हैं। बैंकों के खुलते ही पंजाब की सन् १९११ की रिपोर्ट से मालूम हुआ कि "जालन्धर जिले के सैकड़ों ग्रामों से बनिये गुम हो गये हैं। मध्य पंजाब की कृषि में बहुत उन्नति हो रही है। और अधिकांश किसान स्वावलम्बी हो गये हैं। जालन्धर के तत्कालीन डिवीजनल जज्ज के मतानुसार ११०० दिवानी मुकद्दमे एक वर्ष में इन बैंकों की वजह से कम हुए हैं।

(४) इनकी वजह से पारस्परिक सहायता, विश्वास और प्रेम की भावनाओं को बहुत बल मिलता है। तथा उत्साह, दृढ़ता दूरदर्शिता के गुण किसानों में बढ़ते हैं। जर्मनी की राईन नदी की तराई में जहाँ उपर्युक्त बैंक बहुत दिनों से खुले हुए हैं सब खेत लहलहा रहे हैं। यहाँ के कृषक बड़े अमीर हैं और वैज्ञानिक ढङ्ग से कृषि करते हैं।

(५) भारत की पुरानी पंचायतें—जिनका अस्तित्व अब प्रायः उठ गया है-इन बैंकों के रूप में बदल सकती हैं।

(६) इन बैंकों से कृषि, व्यापार, शिल्प, विद्या, सफाई, अच्छे मकानों और सुन्दर पशुओं की वृद्धि हो सकती है। दल-दलों को साफ किया जा सकता है। भूमि को खादों से उन्नत किया जा सकता है तथा किसानों के हितार्थ और भी कई काम किये जा सकते हैं। जर्मनी में किसानों के बैंकों ने ४५८ पुस्त-कालय, ९६ रात्रि-सभाएँ, २३ बालक सभाएँ, १०८ विद्यालय,

२४ व्याख्यान भवन, २३७ भिन्न भिन्न प्रकार के दूसरे विद्यालय और १८१ बालकों की बचत के बैंक बनाये हैं। इनके अतिरिक्त इनके द्वारा और भी कई कार्य्य हो सकते हैं जैसे (१) प्रत्येक ग्राम में शिक्षित और योग्य दाइयों को रखना (२) कृषि सम्बन्धी पत्रों के वाचनालय खोलना (३) प्रयोग एवं परीक्षा-क्षेत्रों का प्रबन्ध करना (४) नये नये पौधों और यंत्रों को मंगाकर उनका प्रचार करना (५) जिन कृषकों के पास भूमि नहीं है उन्हें सहायता देकर भूमि लेने को उत्साहित करना।

(८) इन बैंकों की जो बचत हो उसका कुछ हिस्सा अनाज के रूप में रक्खा जाता है। ताकि यदि कभी अकाल पड़े तो उनके सदस्यों को सस्ता अन्न प्राप्त हो सके।

(८) बचत के रुपयों से कृषि-सम्बन्धी कलें और उत्तम औजार खरीद कर बैंक अपने पास रखते हैं और अपने मेम्बरों को आवश्यकतानुसार किराये पर देते हैं।

(९) इन बैंकों के खुल जाने पर किसानों को अपना काम रोक कर बार बार महाजन के द्वार पर जाने की जरूरत नहीं रहती है। उन्हें घर बैठे अपने ही ग्राम में बैंक से आवश्यकतानुसार वस्तुएँ बहुत कम खर्च पर मिलने लग जाती हैं। इसी प्रकार सालभर का सब खर्च निकाल कर किसान को जो बचत होती है, उसकी रक्षा की चिन्ता भी उसे नहीं करनी पड़ती। वह भी ब्याज पर बैंक में जमा हो जाती है। इन बैंकों से जो लाभ होता है उस पर भी उसी के सदस्यों का अधिकार रहता है। यह लाभ भी उन लोगों को बांट दिया जाता है। मतलब यह कि इनसे सब प्रकार के सुभीते हो जाते हैं।

(१०) इन बैंकों से उन्हीं लोगों को कर्ज मिलता है जो विश्वास पात्र हों। इसलिए सब लोग इमानदार और विश्वास-पात्र बनने के लिए अपने व्यवहार को साफ रखते हैं। और मद्यपानादि बुरी बातों को छोड़ देते हैं। इससे उनका नैतिक सुधार होता है। एक पादरी ने एक बार कहा था कि मेरे उप-देशों की अपेक्षा ये बैंक नैतिक भावनाओं का प्रचार करने में ज्यादा सहायक हुए हैं। ग्रामीण लोग परस्पर एक दूसरे का चाल चलन जानते हैं। और चूँकि ऋण का देना और न देना उनके हाथ में रहता है अतः प्रत्येक आदमी सदाचारी, मितव्यायी और कार्य्य तत्पर रहने का प्रयत्न करता है।

उपर्युक्त सब लाभ तब हो सकते हैं जब बैंक बुद्धिमान, चतुर, दक्ष और स्वार्थ-त्यागी कार्य्य-कर्ताओं द्वारा चलाये जावें। बैंकों के चलाने में निम्नाङ्कित बातों पर ध्यान रक्खा जाना आवश्यक है।

(१) ग्रामों के सहकारी बैंक बहुत नक़द धन अपने पास न रक्खें। यदि अधिक धन जमा हो जावे तो सभ्यों को ऋण लेने में उत्साहित किया जावे, अथवा सैंट्रल बैंक में भेज दिया जावे।

(२) केवल पटेलों, पंचों या धनाड्यों को ही ऋण न देना चाहिए, प्रत्युत छोटे गरीब किसानों को ऋण लेने के लिए उत्साहित करना चाहिए क्योंकि इन बैंकों का अस्तित्व खास कर उन्हीं के लिए है।

(३) बेनामी उधारे देने का रिवाज न होना चाहिए। (जब कभी बैंकों के प्रधान या मंत्रियों को उधार की आवश्य-

कता होती है, और वे अपने नाम से न लेकर किसी दूसरे मित्र के नाम से उधार ले लेते हैं, तो वह बेनामी उधार कहलाती है) ऐसी बेनामी उधारों से बड़ी हानि होती है ।

(४) ऋण देते समय ऋण लेने वाले की जायदाद तथा उसके आचरण की पूरी पूरी जांच कर लेना आवश्यक है । इस में असावधानी न होनी चाहिए । यदि एक बार का ऋण कोई मनुष्य समय पर अदा न करे तो उसे दूसरी बार ऋण देते समय पूरा पूरा विचार कर लेना चाहिए ।

(५) बैंक का सब रुपया एक पुरुष के उत्तर-दायित्व पर न रखना चाहिए । कई लोगों की .कमेटी के बीच रुपया रहना चाहिए । एक मनुष्य का उत्तर दायित्व रहने से धोखा होने की बड़ी सम्भावना रहती है ।

(६) ऋण लेते समय अपने घरों की अवस्था पंचायत के सामने बतलाने में संकोच न करना चाहिए । कृषि और शिल्प का आधार रुपये पर ही है । छोटी हैसियत के मनुष्यों के पास अधिक नकद रुपया कहाँ से आ सकता है अतएव ईमानदारी से निडर रह कर कर्ज लेना चाहिए ।

(७) बैंक को प्रति वर्ष कुछ धन अवश्य बचाकर अपने रिज़र्व फण्ड में रखना चाहिए । आपत्ति के समय यही धन बैंक का रक्षक होता है ।

(८) सहकारी बैंकों के चलाने के लिए पहले कुछ रुपयों का इन्तिजाम अवश्य रखना चाहिए । क्योंकि प्रारम्भ में इनमें कुछ घाटा होता है । कलों, औजारों और मकानों को खरीदने में पहले व्यय होता है इस कारण आरम्भ ही में लाभ नहीं मिल

सकता। कुछ समय तक आत्म-त्याग की आवश्यकता होती है।

(९) बैंकों के द्वारा उसी किसान को ऋण दिया जाना चाहिए, जो अपनी सचाई और सदाचार के लिए दो जमानतें पेश कर दे। जमानतदारों की स्थिति का ज्ञान होना बैंकों के लिए आवश्यक है।

इन बातों पर ध्यान रख कर यदि बैंक चलाएँ जाय, तो सामाजिक सम्पत्ति की वृद्धि में बहुत सहायता मिल सकती है।

———

पांचवां अध्याय

व्यापार

सामाजिक सम्पत्ति की वृद्धि के लिए केवल कृषि ही से कार्य्य नहीं चल सकता। कृषि मुख्य अर्थ को उत्पन्न करती है। मगर वह उसकी व्यवस्था नहीं कर सकती। उसकी व्यवस्था व्यापार करता है। व्यापार का मुख्य उद्देश्य है देश में विविध प्रकार के कला-कौशलों की वृद्धि करना और समाज की आर्थिक स्वतन्त्रता का योगक्षेम करना। इसके अतिरिक्त कृषि के सिवाय और जिन जिन वातों की समाज को आवश्यकता होती है, उन वस्तुओं के व्यवसायों और भिन्न भिन्न प्रकार की शिल्प-कलाओं का प्रचार भी व्यापार करता है।

व्यापार कई प्रकार का होता है। कुछ व्यापार ऐसे होते हैं जिनको एक व्यक्ति अपने ही श्रम और पूंजी के बल पर अपने ही उत्तरदायित्व पर करता है। इस प्रकार के व्यापार को एकाकी व्यवसाय कहते हैं। इस प्रकार के व्यापार में व्यापारी व्यक्ति एजण्ट, मैनेजर, मुनीम, कारिन्दे, आदि अपनी इच्छानुसार रख सकता है। मगर ये सब लोग अपने काम और अपनी तनख्वाह के जिम्मेदार रहते हैं। व्यापार के हानि लाभ से इनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

दूसरा व्यापार साझे का होता है। इस व्यापार में एक से अधिक मनुष्य मिल कर अपनी पूंजी और श्रम लगाते हैं। इस

प्रकार के व्यवसायों में भी बहुत से नौकर चाकर, मुनीम कारिन्दे रहते हैं मगर हानि-लाभ के जिम्मेदार वे ही लोग होते हैं जिनका परस्पर साझा होता है।

लेकिन कई व्यवसाय ऐसे भी होते हैं जिनमें बहुत बड़ी पूंजी दरकार होती है। जैसे कॉटन मिल्स, बैंक, वगैरह। इतनी पूंजी न तो एक मनुष्य लगा सकता है और न दो चार मनुष्य मिलकर ही लगा सकते हैं। ऐसे व्यवसायों को अंग्रेजी में "लिमिटेड कम्पनी" कहते हैं। जो लोग इस प्रकार की कम्पनी खड़ी करना चाहते हैं वे पहले इस बात का अनुमान लगा लेते हैं कि इस काम में कितनी पूंजी लगेगी। फिर उस पूंजी को पूँजीदारों की एक निर्दिष्ट संख्या में विभक्त करते हैं। उदाहरणार्थ एक कम्पनी को खड़ी करने में दस लाख रुपये की आवश्यकता है। इस पूँजी को उन्होंने सौ सौ रुपयों के दस हजार हिस्सों में विभक्त कर दिया, और बतला दिया कि प्रति हिस्से के साथ वर्ष भर में दस या बारह रुपया मुनाफ़ा बांटे जाने की सम्भावना है। अब जिसको जितने हिस्सों की जरूरत होगी, उतने हिस्से वह खरीद लेगा। इस प्रकार के हिस्से खरीदने वाले लोगों को सब रुपया एक साथ देने में भार मालूम होता है। इसलिए उनकी सुविधा के लिए कम्पनियां इनकी किश्तें कर देती हैं। इस प्रकार यह रुपया दो, तीन या चार किश्तों में धीरे धीरे चुकाया जाता है।

इस प्रकार की कम्पनियों से समाज के व्यापार को बड़ी उत्तेजना मिलती है। और सम्पत्ति की वृद्धि भी खूब होती है। यह सच है कि कम्पनियों के इतिहास में अभी तक कई घटनाएँ

ऐसी हुई हैं, जिनमें लोगों को बड़ी हानियां उठाना पड़ी हैं, जिन में स्वार्थी, ठग और चालाक लोगों ने जनता को खुले हाथों लूटा है। मगर ये सब बातें अपवाद रूप हुई हैं। इससे इस सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आ सकती।

अस्तु, अब हम इस विषय का विशद विवेचन अर्थ-शास्त्रज्ञों के लिए छोड़ कर संक्षेप में इस बात पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करते हैं कि व्यापार-नीति की सफलता किन किन बातों पर निर्भर है।

(१) साख (Credit) व्यापार नीति की सफलता का प्राण साख है। यह कहने में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं कि "साख" ही व्यापार नीति का जीवन है। जिस व्यापारी की बाजार में साख नहीं, उसके व्यापार की कुछ भी क़दर नहीं हो सकती। व्यापार के अन्दर नक़द रुपये से जितना काम चलता है उससे दस गुना, बीस गुना, यहाँ तक कि सौ गुना काम साख से चलता है। इसीलिए मारवाड़ी भाषा में एक कहावत प्रचलित है "जाजो लाख पर रीजो साख । (लाखों चले जावें तो परवा नहीं मगर आदमी की साख नहीं जानी चाहिए) सच पूछा जाय तो इस कहावत में व्यापार-नीति का सारांश आ गया है। उस लखपती से वह कङ्गाल ज्यादा प्रतिष्ठित है, जिसके पास पैसा नहीं है, मगर जिसकी बाजार में लाख रुपये की साख है, जिस पर लोगों का विश्वास है, जिसको आधी रात में भी लोग आँख मीच कर हजारों रुपया बिना नाम लिखे और बिना दस्तखत कराए देते हैं। साख की उत्पत्ति मनुष्य के शुद्ध व्यापार, और साफ नीयत से होती है। जो व्यक्ति समय पर बाजार का

वलन चुका देता है, लाख कष्ट सहन करके भी जो अपनी जबान का पावन्द रहता है, उसकी साख बाजार में जम जाती है, उसके व्यवहार की धाक सारे बाजार पर पड़ती है और उसे बहुत कम सूद पर रुपया कर्ज मिल सकता है।

(२) वचन की पावन्दी—यह भी साख ही का दूसरा रूप है। ऊपर जिस साख का विवेचन किया गया है वह उधार मिलने के सम्बन्ध में है। और यह दूकान के क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में है। जो व्यापारी अपनी दूकान पर खरीदने और बेचने के सम्बन्ध में एक बात रखता है, जो छोटे से छोटे ग्राहक से लेकर बड़े ग्राहक के साथ एक सा व्यवहार रखता है। तथा जो सैकड़ों रुपये के लाभ पर भी अपनी बात के लिए पानी फेर सकता है; वह व्यापारी अपने व्यापार में भारी सफ़लता प्राप्त करता है। ग्राहक बेखटके उसकी दूकान पर जाते हैं, यहाँ तक कि अपने नौकरों और छोटे छोटे बच्चों से भी वे वहां से बेधड़क सामान मंगवा लेते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि इस दूकान पर धोखा होने की सम्भावना नहीं। हमारे भारतीय व्यापारियों में इस गुण का बड़ा भारी अभाव है। उनके इस दुर्गुण ने ग्राहकों की मनोवृत्ति को भी बिगाड़ दिया है। अब बाजार का ढङ्ग ही ऐसा हो गया है कि बिना कमोबेश किये न तो दुकानदार सौदा देता है और न ग्राहक लेता है। दूकानदार जानते हैं कि ग्राहक मुँहमाँगी कीमत कभी न देगा इसलिए वे पहले ही दूनी ड्योढ़ी कीमत बतलाते हैं। इधर ग्राहक जानता है कि दूकानदार ने कमसे कम दूनी कीमत जरूर बतलाई होगी। इससे वह शुरू में आधी ही बतलाता है। इस प्रकार का व्यव-

हार व्यापार नीति की दृष्टि से बहुत ही घृणास्पद है। ऐसा व्यव-हार समाज की नैतिक अवस्था को भी बहुत धक्का पहुँचाता है। इससे समाज में झूठ, छल, कपट, अविश्वास आदि कुवृत्तियाँ फैल जाती हैं। इस सम्बन्ध में यूरोपीय व्यापारियों का व्यवहार बड़ा अनुकरणीय है। वे लोग मुनाफा अधिक जरूर लेते हैं। मगर इस प्रकार की धोखेबाजी कभी नहीं करते। उनके यहाँ यह कभी नहीं हो सकता कि एक व्यक्ति जिस वस्तु को दस रुपये में ले जाय उसी को दूसरा नौ रुपये पन्द्रह आने में पा जाय।

(३) व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा जो व्यापारी अथवा जो कम्प-नियाँ अपने ही समान व्यवसायियों के साथ प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर सकतीं, उनके समान सस्ता और सुन्दर माल नहीं निकाल सकतीं, वे बहुत जल्दी असफल हो जाती हैं—उनका टाट उल-टते देर नहीं लगती। आजकल का व्यापारिक जीवन ही प्रति-स्पर्द्धामय हो रहा है। इस काल में वही व्यापारी सफल हो सकता है जिसकी साख वाजार में बहुत हो, जिसके वचन की बाज़ार में धाक पड़ती हो, जो कम मुनाफे पर व्यापार करता हो, जिसका माल दूसरों के मुकाबिले में सस्ता और मजबूत हो, जिसका व्यवहार बड़ा सौम्य, मृदुल और सच्चा हो, तथा जिसके पास पूंजी की कमी न हो। इस व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा से व्यापार-नीति को बड़ा उत्साह और उत्तेजना मिलती है। बाजार बढ़िया चीजों से पट जाते हैं। लोगों को थोड़े मूल्य में अच्छी अच्छी वस्तुएं मिलती हैं। पर यही प्रतिस्पर्द्धा जब घृणित रूप धारण कर लेती है, तब इससे बड़ी बड़ी हानियाँ भी हो जाती है। इसकी

वजह से धूर्त, बेईमान और लुच्चे मनुष्य आगे आकर बाजी मार लेते हैं और ईमानदार, तथा सत्यवक्ता लोग दब जाते हैं। पर यह पालिसी थोड़े ही समय तक चलती और अन्त में सत्य की जय होती है। कुछ भी हो व्यापर-नीति की वृद्धि के लिए व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा की बड़ी आवश्यकता है।

(४) प्रचार के तरीक़े—व्यापारी को अपनी वस्तुओं का प्रचार करने के लिए प्रचार के साधनों का ज्ञान जरूर प्राप्त कर लेना चाहिए। किन किन साधनों से उसकी वस्तुओं का प्रचार हो सकता है। उन सब का प्रयोग करना उसके लिए आवश्यक है। इसके लिए पहले पहल बड़े स्वार्थत्याग की आवश्यकता होती है, हजारों का माल वैसे ही मुफ्त में लुटा देना पड़ता है। एक प्रसिद्ध व्यवसायी का कथन है कि "जितनी पूंजी व्यापार में लगाना हो उसकी तीन चौथाई विज्ञापन तथा प्रचार के दूसरे साधनों में लगा देना चाहिए,शेष एक चौथाई मूल धन से व्यापार करना चाहिए।व्यापारी यह न समझे कि उसकी लगाई हुई पूँजी व्यर्थ जा रही है। यदि उसमें कौशल है तो वह पूंजी दुगुने रूप में वापस उसके घर में आ जायगी।" प्रचार के साधनों का प्रयोग करते समय इस बात का जरूर खयाल रखना चाहिए कि उन साधनों में सत्य विद्यमान हो। थोथी और झूठी विज्ञापन बाजी से जहाँ ग्राहकों को नुकसान उठाना पड़ता है वहाँ व्यापारी भी भारी जोखिम में पड़ जाता है।

(५) कर्मचारियों और मजदूरों के साथ ऐक्य—किसी भी व्यापारी या कम्पनी का यह कर्तव्य है कि जिन लोगों की सहायता या सहयोग से उसका काम चल रहा है उनको सन्तुष्ट रखने

का पूरा पूरा प्रयत्न करे। पूंजीपतियों के साथ कर्मचारियों और मजदूरों का हित-विरोध व्यापार नीति के लिए बहुत घातक है। आजकल की व्यापारी दुनिया में यह हित-विरोध बहुत ही अधिक चल रहा है। पूंजीपति चाहते हैं कि हम मजदूरों से अधिक से अधिक काम लें और कम से कम पैसा दें। उधर मजदूर भी यह चाहते हैं कि हमें अपने परिश्रम से कुछ अधिक ही मिले तो अच्छा। इस हित-विरोध का परिणाम यह होता है कि कई स्थानों पर मज़दूर अपनी मज़दूरी बढ़वाने के लिए हड़तालें कर देते हैं और कई स्थानों पर पूंजीपति मजदूरों की मजदूरी घटाने के लिए द्वारावरोध कर देते हैं। पर इसमें प्रायः पूंजीपतियों का ही जुल्म बहुत ज्यादा है। ये लोग अपनी पूंजी के बलपर मजदूरों पर मनमाना जुल्म करते हैं। अधिक मुनाफा मिलने पर भी इनको सन्तोष नहीं होता। राज्यशक्ति का झुकाव भी इन्हीं लोगों की तरफ़ रहता है। इसका पारस्परिक समीकरण करने के लिए यह आवश्यक है कि इनके मुनाफे की शरह बांध दी जाय। जब तक उस शरह से अधिक मुनाफा न हो तब तक मजदूरों को नियत मजदूरी दी जाय। और जब उससे अधिक मुनाफा होने लगे तब वह सब अधिक मुनाफा या कम से कम उसका आधा अंश मजदूरी में बांट दिया जाय। यह बात नहीं कि इस प्रकार के तरीके से पूंजीपति नुकसान में रहेंगे। बल्कि इससे तो उनको और भी अधिक लाभ होगा। क्योंकि जब मजदूरों को यह विश्वास हो जायगा कि कम्पनी के मुनाफे में हमारा भी हिस्सा है तब वे अधिक दिल खोल कर काम करेंगे, और उससे कम्पनी की आमदनी बहुत बढ़ जायगी।

व्यापार-नीति की सफलता के कुछ तरीकों का ऊपर दिग्दर्शन करवाया गया है। यह विषय इतना विशाल है कि इतने सङ्कीर्ण स्थान में उसका संक्षिप्त विवेचन भी नहीं हो सकता। इस विषय का विशेष-ज्ञान प्राप्त करने के लिए अर्थशास्त्र और व्यापार-शास्त्र के ग्रन्थों का मनन करना चाहिए। फिर भी ऊपर जिन तरीकों का दिग्दर्शन करवाया गया है, उनके अनुसार यदि समष्टि रूप से व्यापार होने लगे तो सामाजिक सम्पत्ति की खूब वृद्धि हो सकती है।

छठा अध्याय

सम्पत्ति का वितरण

सम्पत्ति की उत्पत्ति और वृद्धि के सम्बन्ध में हम विचार कर चुके। अब हम यह देखना चाहते हैं कि सम्पत्ति की उत्पत्ति पर किन किन लोगों का हक़ है, और समाज में उसका किस प्रकार वितरण होना चाहिए।

यह पहले लिखा जा चुका है कि प्रकृति, परिश्रम और पूंजी इन तीनों तत्त्वों के संयोग से सम्पत्ति उत्पन्न होती है। अतः यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि उत्पन्न होने वाली सम्पत्ति के अधिकारी भी इन तीनों चीजों के मालिक होने चाहिए। अर्थात् उसका कुछ हिस्सा प्रकृति के अधिकारियों को, कुछ परिश्रम करने वालों को और कुछ पूंजी लगाने वालों को मिलना चाहिए।

यहां पर सहज ही इस बात का प्रश्न उठ सकता है कि परिश्रम और पूंजी के मालिक होना तो स्वाभविक है क्योंकि ये वस्तुएँ मनुष्य की उद्योगशीलता के परिणाम हैं, मगर प्रकृति का अधिकारी कौन हो सकता है? वह तो स्वयमेव उत्पन्न होती है। विशाल जमीन, बड़ी बड़ी नदियां, समुद्र, ऊँचे ऊँचे पहाड़, ये सब किसने उत्पन्न किये हैं? इसका वास्तविक अधिकारी कौन हो सकता है? इसमें कोई सन्देह नहीं कि मानव-जाति के आदिम काल में प्रकृति का विशेष अधिकारी कोई न था। उसके पश्चात्

जिसकी लाठी उसकी भैंस के सिद्धान्त पर उसका अधिकार निश्चित हुआ। जो बलवान् होता था वही प्रकृति की रमणीय देनों का उपयोग कर सकता था। इसके पश्चात् जब समस्त रचना को व्यवस्थित रूप मिलना प्रारम्भ हुआ, तब से व्यवस्था के सिद्धान्त पर इसका अधिकार निश्चित हुआ। जो व्यक्ति, जो संघ, या जो समूह समाज की व्यवस्था करता था वही प्रकृति का स्वामी माना जाता था। धीरे धीरे इसी व्यवस्थापिका शक्ति का राज्य-सत्ता के रूप में परिवर्तन हुआ, और तब से प्रकृति की सब देनों पर राज्य सत्ता को उन सेवाओं के बदले अधिकार मिला था वह समाज की रक्षा और व्यवस्था के निमित्त करती थी। प्रकृति की इन देनों से उत्पन्न होने वाली आमदनी को वह समाज की व्यवस्था ही में खर्च करती थी। इस प्रकार संसार में प्राकृतिक जगत् पर राज्य सत्ता के अधिकार का आविर्भाव हुआ। तब से राज्य-सत्ता के रूप में कई बड़े बड़े परिवर्तन हुए मगर उसके इस अधिकार में किसी प्रकार की बाधा न पड़ी।

अस्तु। तात्पर्य्य यह कि इस प्रकार उत्पन्न होने वाली सम्पत्ति के तीन विभाग होते हैं। इनमें से जो विभाग राज्य को मिलता है उसे लगान कहते हैं। जो मज़दूरों या कृषकों को मिलता है उसे मज़दूरी कहते हैं। और जो पूँजीपतियों को मिलता है उसे सूद कहते हैं। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति का हिस्सेदार एक चौथा वर्ग और भी है। जो व्यक्ति कल-कारखानों तथा इसी प्रकार के जोखिम भरे कामों में अपनी पूंजी को डालता है और उसके हानि-लाभ का उत्तरदायित्त्व अपने पर लेता है। उसे उस उत्तरदायित्त्व के बदले में भी कुछ हिस्सा मिलता

है। उस हिस्से को मुनाफ़ा कहते हैं। अब हम यह देखना चाहते हैं कि सामाजिक सुव्यवस्था की रक्षा के लिए किस वर्ग को कितना हिस्सा मिलना चाहिए।

१—लगान—प्राचीन इतिहास को देखने से पता चलता है कि समाज-रचना के प्रारम्भिक काल में राज्यसत्ता को जमीन की पैदावार का एक षष्ठांश कर दिया जाता था। अर्थात् जमीन में जितनी पैदावार होती थी उसका छठा हिस्सा राज्य के कोष में कर स्वरूप पहुँचा दिया जाता था। बहुत समय तक समाज में यही पद्धति चलती रही। इसके पश्चात् कहा जाता है कि यह कर बढ़ा कर चतुर्थांश भी कर दिया गया था। मगर इससे ज्यादा बढ़ने का प्राचीन इतिहास में कोई प्रमाण नहीं मिलता। वास्तव में देखा जाय तो इससे अधिक कर लेने का राज्य को हक़ भी नहीं है। क्योंकि इस कर के अतिरिक्त किसान को पूंजी लगाना पड़ती है, इस तरह उत्पत्ति का करीब आधा हिस्सा और खर्च हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह केवल एक चौथाई का मालिक रह जाता है। इतना भी यदि उसे उस घोर परिश्रम के बदले न मिले, तो वह अपने कुटुम्ब की व्यवस्था किस प्रकार कर सकता है? वह सुखी जीवन व्यतीत कर सामाजिक शान्ति की रक्षा कैसे कर सकता है? आज कल भारतवर्ष में बहुत अधिक लगान लिया जाता है, और तिस पर भी उसमें स्थिरता नहीं, हर पचीस या तीस वर्ष में वह बदलता रहता है। ऐसी स्थिति में यहाँ के कृषकों की कैसी दुर्दशा हो रही है यह पाठकों से छिपी नहीं है।

(२) सूद—लगान ही की तरह सूद की शरह का निश्चित हो जाना भी अत्यन्त आवश्यक है। आजकल के सूद-खोर बनिये

कृषकों से बीस से लेकर चालीस रुपया प्रति सैकड़ा तक वार्षिक सूद लेते हैं, इससे बेचारे कृषक दिन रात मज़दूरी करके भी पेट भर भोजन नहीं पाते। सूद की शरह ऐसी होनी चाहिए जिससे पूँजीपतियों का भी हक़ न मारा जाय, और कृषकों का भी गला न कटे। यह शरह कम से कम छः रुपया प्रति सैकड़ा से लेकर अधिक से अधिक बारह रुपया प्रति सैकड़ा वार्षिक तक हो सकती है।

(३) मजदूरी-समाज में अब तक मजदूरी की बहुत कम कदर होती आई है। मजदूर पेशा लोगों ने दिन रात परिश्रम करके भी अब तक घोर आर्थिक कष्टों को सहन किया है। इसी से समाज में अब तक स्थायी शान्ति नहीं हो सकी है। समाज की व्यवस्था के लिए मज़दूरों के हक़ों पर उचित ध्यान दिया जाना भी नितान्त आवश्यक है।

तीसरा अध्याय

व्यक्ति, सम्पत्ति और समाज

सम्पत्ति सम्बन्धी बहुत सी बातों का विवेचन हम पहले कर आये हैं। इस अध्याय में हम यह बतलाना चाहते हैं कि सम्पत्ति की उत्पत्ति, रक्षा और उपयोग में समाज का कितना हाथ रहता है, तथा सम्पत्ति पर व्यक्ति का किस सीमा तक अधिकार है और समाज का किस सीमा तक इस सम्बन्ध में विचार करने की आवश्यकता न होती यदि इस समय संसार में इस विषय पर प्रबल मतभेद और भिन्न भिन्न प्रकार की विचार-पद्धतियां न होतीं। पर हम देखते हैं कि इस समय संसार में इस प्रश्न ने बड़ा जोर पकड़ रक्खा है और इस पर प्रबल मतभेद उठ रहा है। एक विचार-पद्धति कहती है कि सम्पत्ति पर सर्व सर्वा व्यक्ति का अधिकार है, क्योंकि वही उस को उत्पन्न करता है और वही उसे बढ़ाता है। समाज उसकी उत्पत्ति के अनुकूल साधन उत्पन्न करता है और उसकी रक्षा करता है तो उसका बदला वह करके रूप में वसूल कर लेता है। कर लेने के पश्चात् व्यक्ति के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों में हस्तक्षेप करने का उसे कोई अधिकार नहीं। दूसरी विचार-पद्धति कहती है कि बिना समाज की सहायता के व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता। समाज यदि शरीर है तो व्यक्ति उसका एक क्षुद्र अङ्ग है। बिना शरीर की रक्षा के उस अङ्ग का जीवित रहना

कठिन है। अतः व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपनी सब सम्पत्ति को समाज-शरीर के पेट में डाल दे और उससे जो रस मिले उसीसे अपना पोषण, करता रहे। ऐसा करने से कोई अङ्ग बड़ा छोटा न रहेगा। सबका समान रूप से पोषण होता रहेगा। इत्यादि। इसी विवादास्पद विषय पर हम इस अध्याय में कुछ कहना चाहते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सम्पत्ति की उत्पत्ति चाहे व्यक्ति द्वारा होती हो मगर फिर भी समाज का प्रभाव उस पर अवश्य पड़ता है। विना समाज की सहायता के व्यक्ति सम्पत्ति को उत्पन्न करने के अनुकूल साधन उत्पन्न नहीं कर सकता। मान लीजिए एक किसान है, वह खेती के द्वारा सम्पत्ति उत्पन्न करता है। अब यदि लुहार के द्वारा उसे औजार मिलना बन्द हो जाय, जमीन जोतने के लिए उसे बैल न मिले, फसल की रखवाली करने के लिए उसे रखवाले न मिलें, तो वह किस प्रकार खेती को सफल कर सकता है। इसी भाँति यदि समाज में किसान न हों तो करोड़ों रुपये पास में रखने वाले व्यक्ति को भी भूखों मरने की नौवत आ जाय। यदि सेवा करने वाले नौकरों का अभाव हो जाय तो बड़े बड़े आदमियों के हाथों में बर्तन मांजने और पानी भरने के कारण चट्टे नजर आने लगें। मतलब यह कि सम्पत्ति के उत्पादन और उसके उपयोग में सामाजिक सहायता की पूरी पूरी आवश्यकता होती है। और सम्पत्ति की रक्षा ? रक्षा का भार तो सोलहों आने समाज पर अवलम्बित है। यदि समाज रक्षा करना छोड़ दे तो बड़े से बड़े करोड़पति भी दो ही दिन में कङ्गाल हो जायँ, गुण्डे और बदमाश दो ही

दिन में उनकी सम्पत्ति को लूट कर खा-पका जायँ। मतलब यह कि सम्पत्ति की उत्पत्ति और वृद्धि तथा रक्षा और उपयोग में समाज का बहुत बड़ा हाथ रहता है। इसीकी वजह से समाज सम्पत्ति की उत्पत्ति पर टैक्स लगाता है और प्रकारान्तर से व्यक्तियों पर शासन भार भी रखता है। वह अपने सदस्यों से यहाँ तक आशा रखता है कि उसके (समाज के) मङ्गल के लिए वे (सदस्य) अपना शरीर तक अर्पण कर दें। यही कारण है कि वह अपने सदस्यों के दिये हुए कर पर भी अपना अधिकार नहीं समझता। बल्कि उनकी निजी सम्पत्ति को भी वह अपने नियमों की मर्यादा में मर्यादित रखना चाहता है जिससे कोई भी सदस्य अपनी सम्पत्ति का अनुचित ढङ्ग से दुरुपयोग न कर सके। इसी कारण उसने दान, वसीयत आदि के सम्बन्ध में भी अपने विशेष नियम बना रक्खे हैं।

यहाँ तक की विचार-पद्धति में तो किसी को विशेष मतभेद नहीं हो सकता। मगर व्यक्ति की निजी सम्पत्ति पर समाज के अधिकार की सीमा कहाँ तक है यही विषय बड़ा विवादास्पद है, यहाँ पर आकर कई भिन्न प्रकार की विचार-पद्धतियां उत्पन्न हो जाती है। समता-सिद्धान्त के पक्षपातियों अथवा बोल्शेविकों का मत है कि न्याय से सम्पत्ति पर व्यक्ति का कुछ भी अधिकार नहीं क्योंकि सम्पत्ति सर्वथा समाज की है। अभी तक इस सिद्धान्त को न अपनाने की वजह से ही समाज ने अ-समानता के महान् दुःखों को सहन किया है। इसी सिद्धान्त को स्वीकार न करने की वजह से दिन-रात श्रम करने वाले कृषक और मजदूर अब तक भूख, और जाड़े के महान् कष्टों को सहन करते

आ रहे हैं और महान् अकर्मण्य, आलसी, गद्दी तकियों पर पड़े रहने वाले धनाढ्य लोगों के मूर्ख उत्तराधिकारी आनन्द के गुलछर्रे उड़ाते आ रहे हैं। इसी सिद्धान्त को न अपनाने की वजह से कुछ लोग तो दिन दिन परिश्रम करके भी महीने के अन्त में मुश्किल से दस पाँच रुपये पाते हैं और कुछ बिजली के पंखे के नीचे आराम कुर्सियों पर बैठे बैठे भी महीने के अन्त में पाँच हजार की थैली उठा ले जाते हैं। क्या यह सामाजिक अन्याय नहीं है ? क्या यह अन्याय नहीं है कि किसी के पूर्व-पुरुष ने उचित या अनुचित परिश्रम से बहुत सा धन एकत्र कर लिया तो उसके उत्तराधिकारी बिना किसी प्रकार का परिश्रम किये सैकड़ों वर्षों तक उसका उपयोग करते चले जायँ ? क्या यह उचित है कि समाज व्यक्तित्व का ऐसा पूजन करे कि एक श्रम-जीवी की वजह से शताब्दियों तक उसके श्रम-शून्य उत्तराधिकारियों को वही मान मिलता जाय। इसी प्रकार क्या यह न्याय है कि एक पुरुष तो ५) मासिक में ही अपना जीवन बेच दे और दूसरा पाँच हजार पाने पर भी असन्तुष्ट रहे ? क्या इस प्रकार के मनुष्य उस तरह के एक हजार मनुष्यों के बराबर श्रम करते हैं ? बोल्शेविक विचार-पद्धति वालों का कथन है कि यह सब अव्यवस्था सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकारों की वजह से उत्पन्न होती है। इस अव्यवस्था को मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि सम्पत्ति पर से व्यक्तिगत अधिकार उठा दिया जाय अन्न, वस्त्र, इत्यादि जितनी भी सम्पत्ति उत्पन्न हो वह सब समाज के स्थायी कोष में जमा कर दी जाय। इस कोष में से प्रत्येक कुटुम्ब के लोग अपनी अपनी आवश्यकताओं के अनुसार सब आवश्यक वस्तुएं

बिना मूल्य पावें। डाक्टर, पादरी, पुरोहित आदि सब की व्यवस्था समाज की ओर से रहे। मतलब यह कि मनुष्य की सब आवश्यकताओं को पूरी करने का भार समाज पर रहे और प्रत्येक व्यक्ति इस बात को अपना धर्म समझे कि वह यथाशक्ति समाज के हित के लिए पूरे उत्साह के साथ परिश्रम करे।

समता-सिद्धान्त के मतानुसार इस प्रकार की व्यवस्था से समाज में जो अ-समानता का रोग घुसा हुआ है वह नष्ट हो जायगा। इस भयङ्कर रोग की वजह से केवल गरीब ही दुःख पाते हों यह बात नहीं है, प्रत्युत धनवान लोग भी कई प्रकार के कष्टों में सड़ते रहते हैं यद्यपि बाहरी जगत् को वे परमसुखी और विलास मय मालूम होते हैं। लेकिन भीतर ही भीतर असंख्य आपदाएं और चिन्ताएँ निरन्तर उनके मन को घेरे रहती हैं। बहुमूल्य भोजन और धन-बाहुल्य उन्हें आलसी बना देता है। उन्हें भांति-भांति के ऐसे रोग सताया करते हैं, जो केवल धन बाहुल्य की वजह से ही उत्पन्न होते हैं। मतलब यह कि असमानता को वजह से धनी और गरीब दोनों ही महान दुःखी रहते हैं। इसके अतिरिक्त इसी अ-समानता की वजह से समाज में चोरी-डकैती आदि महा पाप हुआ करते हैं, इन सब पापों का मूल कारण समष्टिगत निर्द्धनता और अ-समानता ही है। सम्पत्ति पर समाज का अधिकार होने से ये सब बाधाएं दूर हो जायँगी।

दूसरी विचार पद्धति इसके बिलकुल विरुद्ध है। उसका कथन है कि बोल्शेविक लोग अपने सिद्धान्तों के द्वारा प्राकृतिक नियमों के बिलकुल विरुद्ध काम कर रहे हैं। चञ्चलता और

विषमता प्रकृति का स्वाभाविक धर्म है। समस्त प्रकृति चंचल है, विषम है इसीलिए इसका नाम "जगत्" है। जगत् के अत्यन्त सूक्ष्म से लेकर अत्यन्त स्थूल पदार्थों तक का आप पर्य्यवेक्षण कर जाइए। सर्वत्र आपको विषमता का सिद्धान्त काम करता हुआ दिखलाई देगा। वनस्पति-जगत् को आप देखिए; आप देखेंगे कि छोटे पौधे बड़े पौधों के भक्ष्य बन जाते हैं और फिर सभी बड़े पौधे भी समान रूप से नहीं फलते-फूलते। कोई कम फूलता है, कोई ज्यादा। इसके पश्चात् जीवधारी जगत् पर दृष्टिपात कीजिए, आप देखेंगे कि छोटे-छोटे जीवों के शरीर बड़े-बड़े प्राणियों के भोजन बनते हैं। बड़ों में भी जो योग्य और बलवान् होता है उसकी विजय और उसीका आधिपत्य रहता है। मतलब यह कि सारे जगत् के परमाणुओं में निरन्तर एक प्रकार का जीवन संग्राम चल रहा है। जो परमाणु—समूह योग्य और बलिष्ट होता है वही विजयी होता है, और कमजोर परमाणु-समूह या तो नष्ट हो जाता है या पतित हो जाता है। जब सारे जगत् की यह स्थिति है, तो फिर बोल्शेविज्म का समर्थन करनेवाले अकेले मनुष्य-समाज को इस सिद्धान्त की सीमा से बाहर कैसे निकाल सकते हैं। क्या योग्य की योग्यता, बलवान् का बल, प्रतिभाशाली की प्रतिभा, बोल्शेविकों के दबाये दब सकती है? क्या अकर्मण्य और आलसी पुरुष, कर्मवीरों के, मूर्ख विद्वानों के विलासी त्यागियों के साथ बिठाने से बैठ सकेंगे? क्या बोल्शेविज्म प्रकृति की विविधता को नष्ट कर सकेगा? यह असम्भव है। ऐसा हो नहीं सकता। इसके विपरीत इससे जो भारी गड़बड़ मचेगी उसका दबाना कठिन हो जायगा।

पर इन दोनों विचार धाराओं में सत्य का अंश कहां तक गर्भित है?

(१) पहली समता-सिद्धान्त की विचार-धारा जब हमारे सम्मुख आती है तब हमें उसका रूप बड़ा ही मनोहर और सुहावना मालूम होता है। क्या ही अच्छा हो यदि मनुष्य-समाज बोल्शेविज्म विचार पद्धति की बतलाई हुई स्थिति में परिवर्तित हो जाय। वह कितना बढ़िया दृश्य होगा। सभी समान, सभी सुखी, सभी में भ्रातृभाव। कोई धनवान नहीं, कोई कङ्गाल नहीं, कोई विलासी नहीं, कोई भूखा नहीं। युद्ध नहीं, हिंसा नहीं, रक्तपात नहीं, चारों ओर प्रेम, बन्धुत्व, और आनन्द की धारा बह रही है। सभी परिश्रम करते हैं, सभी कमाते हैं, सभी खाते हैं। सारा समाज मानों एक कुटुम्ब है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" का हूबहू दृश्य सामने होगा। लेकिन हमेशा से चले आए हुए मनुष्य स्वभाव की विचित्रता को देख कर हमें बड़ी निराशा होती है। जब हम देखते हैं कि एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न हुए दो पुत्रों में से एक तो अत्यन्त बुद्धिमान निकल कर न्यायाधीश के पद पर पहुँचता है, और दूसरा महा निर्बुद्धि निकल कर चपरासी बनता है, जब हम देखते हैं कि एक ही पिता की सन्तानों में कुछ तो महा बलवान होते हैं, और कुछ चिररोगी और कमजोर। जब प्रत्येक मनुष्य की शरीर-रचना और बौद्धिक बनावट में हमें तात्विक अन्तर दिखलाई देता है, तब हमें इस सिद्धान्त की अस्वाभाविकता का पूरा-पूरा ज्ञान होता है। अवश्य अधि-जनन-शास्त्र का विकास होने पर, शिक्षा और अध्यापन कला की उन्नति होने पर ऐसी घटनाएं कम हो जायंगी। फिर भी इस समय तो यह कहना बिलकुल

भ्रम है कि इस अ-समानता का बिलकुल ही नाश हो जायगा। और जब तक यह तात्विक अ-समानता बनी रहेगी तब तक सामाजिक समानता सफल नहीं हो सकती। यदि उसे बलात् सफल करने की चेष्टा की जायगी तो बड़ा अन्याय होगा क्योंकि—

(२) उस हालत में "सबधान बाईस पसेरी" वाली कहावत चरितार्थ हो जायगी। बलवान और कमजोर, बुद्धिमान और मूर्ख सभी एक तौल बिकने लगेंगे। व्यक्तिगत चातुर्य्य, परिश्रम और महत्ता—जिससे समाज और जगत् के बड़े-बड़े कार्य्य सम्पन्न होते हैं—का कोई महत्व न रहेगा। मतलब यह कि इस प्रकार व्यक्तिगत योग्यता के महत्व को भुला देना सामाजिक दृष्टि से भूल है। इसके अतिरिक्त न्याय की दृष्टि से देखा जाय तो भी व्यक्तिगत सम्पत्ति पर इस प्रकार अधिकार जमा लेने का समाज को कोई हक़ नहीं है। माना कि समाज सम्पत्ति को पैदा करने के साधन उत्पन्न करता और उसकी रक्षा करता है मगर वह इसका बदला करके रूप में ले लेता है। ये कोई ऐसी बातें नहीं जिनके बदले में समाज व्यक्ति की समस्त सम्पत्ति हड़प जाय। ऐसा करना तो उसी न्याय के समान होगा जिसमें चौकीदार ही स्वामी हो जाय। मतलब यह कि न्याय की दृष्टि से भी यह बिलकुल अनुचित है।

(३) तीसरी जबर्दस्त और महत्वपूर्ण हानि इस सिद्धान्त के प्रचार से यह होगी कि इससे व्यक्ति वैलक्षण नष्ट हो जायगा। सामाजिक उन्नति के लिए यह बड़ी आवश्यक वस्तु है, इसके महत्व का वर्णन हम स्वाधीनता के प्रकरण में करेंगे। प्रत्येक मनुष्य में कुछ न कुछ विलक्षणता अवश्य रहती है। बिना किसी प्रकार के

व्यक्तिगत लाभ की आशा के साधारण मनुष्य की विशेषता विकसित नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में व्यक्ति विलक्षणता से होने वाले सभी लाभों से समाज वंचित रहेगा। उस स्थिति में कौन दिमाग लड़ा कर समाजोपयोगी बढ़िया-बढ़िया ग्रंथ लिखेगा, कौन नये-नये आविष्कार करने की झंझट में पड़ेगा? यह तो दूर की बात है। उस काल में साधारण परिश्रम करनेवाले लोगों में से भी कौन दिल खोल कर परिश्रम करेगा? जब सभी को समान रूप से सुख-पूर्वक खाने पहनने को मिल रहा है, तब कौन जाड़े के दिनों में रात को तीन-तीन बजे उठ कर खेत में हल हाँकने को ठिठुरते हुए जावेगा। जेठ की भीषण दुपहर में कौन अपने स्वास्थ्य को नष्ट करेगा? यह सब काम व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त मनुष्य करता है। सच बात तो यह है कि स्वत्व का जादू मिट्टी को भी सोना बनाता है। जब यह स्वत्व की भावनाएं नष्ट हो जायंगी। तब मनुष्य इतना परिश्रमी कदापि न रह सकेगा।

(४) चौथी हानि इस सिद्धान्त के प्रचार से यह होगी कि समाज से प्रतिस्पर्धा (Competition) की भावनाएं नष्ट हो जायंगी। इन भावनाओं से उन्नति को कितनी उत्तेजना मिलती है—जीवनीशक्ति को कितना बल मिलता है यह हम पहले बतला चुके हैं। प्रतिस्पर्द्धा के बन्द होने से उन्नति की घुड़दौड़ भी बन्द हो जायगी। यह हानि भी कम नहीं है।

मतलब यह कि देखने में बहुत सुन्दर होने पर भी मानव-प्रकृति की दृष्टि से यह सिद्धान्त अस्वाभाविक मालूम होता है। इसके अन्दर व्यक्ति के व्यक्तिगत अस्तित्व का नाश होता है, जो

समाज की उन्नति के लिए किसी प्रकार अभीष्ट नहीं कहा जा सकता।

(२) दूसरी विचार पद्धति की भी जब हम परीक्षा करते हैं तो उसमें भी हमें बहुत अपूर्णता दिखलाई देती है। इस विचार पद्धति के परस्कर्ताओं का कथन है कि समस्त प्राकृतिक जगत् में "योग्यतम की विजय" और "जीवन-संग्राम" का सिद्धान्त काम कर रहा है। यही सिद्धान्त मनुष्य-समाज में भी काम करेगा। मगर इस प्रकार के सिद्धांन्त का समर्थन करनेवाले यह भूल जाते हैं कि प्रकृति में अन्य प्राणि जगत् की अपेक्षा मानवीय-शरीर की की बनावट में बहुत विशेषता है। और प्रकृति की इच्छा से या अनिच्छा से मनुष्य ने उस बनावट की वजह से बहुत उन्नति कर ली है। उसने अपने मनुष्यत्व का बहुत विकास कर लिया है। इसके साथ ही त्याग, दया, विवेक, सहानुभूति आदि गुणों को भी उसने बहुत बढ़ा लिया है। इन सब गुणों की वजह से जीवन-संग्राम का भयंकर विधान मनुष्य समाज में आकर बहुत सौम्य और कमजोर हो गया है। अवश्य मनुष्य अभीतक स्वार्थ और प्रतिहिंसा की भावनाओं को नष्ट नहीं कर सका है और इस वजह से किसी न किसी रूप में जीवन-संग्राम का सिद्धान्त अब भी उसमें काम कर रहा है। फिर भी वनस्पति और पशु जगत् के जीवन संग्राम के साथ उसकी तुलना करना मूढ़ता है। मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है, ज्यों-ज्यों उसके ज्ञान का विकास होगा त्यों-त्यों वह समता-सिद्धान्त के समीप पहुँचेगा। बात इतनी ही है कि बोल्शे-विज्म जिस अस्वाभाविक ढंग से उसे उसके समीप पहुँचाना

चाहता है उस ढंग से वह वहां नहीं पहुँच सकेगा। प्रत्युत बिलकुल स्वाभाविक रूप से व्यक्ति वैलक्षण्य को कायम रखते हुए, व्यक्ति स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए; वह उस स्थान पर पहुँचेगा।

हां, तो हमारे कहने का मतलब यह है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति पर एकदम समाज का अधिकार हो जाना और व्यक्ति के अस्तित्व का उसमें समा जाना सामाजिक उन्नति के लिए अभीष्ट नहीं। लेकिन इसके साथ ही यह भी अभीष्ट नहीं कि धनिक दिन प्रतिदिन अधिकाधिक धनवान होते जाँय और मज़दूर तथा कृषक दिन प्रतिदिन अधिक गरीब। इसके अतिरिक्त यह भी अभीष्ट नहीं कि एक परिश्रमी के कारण उसके परिश्रम हीन उत्तराधिकारी सैकड़ों वर्षों तक अकर्मण्य और आलसी बन कर मौज करते फिरें। इन सब बातों को दृष्टि के सम्मुख रख कर इस बात का निर्णय करना चाहिए कि व्यक्ति की सम्पत्ति पर समाज के अधिकार की सीमा कहां तक है। मजदूरों के हक़ और धनवानों के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में समाज की ओर से किस प्रकार की मर्यादा का बाँधा जाना आवश्यक है।

पांचवां खण्ड

साहित्य

"समाज की जीवन-शक्ति में जो साहित्य जितनी ही
अधिक सहायता प्रदान करता है वह उतना
ही उत्तम है।"

ग्रन्थकार

पहला अध्याय।

साहित्य

साहित्य समाज-रचना के मूल तत्वों को समझने का सब से बड़ा साधन है। यह एक ऐसी कसौटी है, कि जिसकी जाँच करके समाज-रचना के टंच निकाले जा सकते हैं। कौन जाति कितनी बढ़ी चढ़ी या पतित है, यह निर्णय उसके साहित्य को देख कर किया जा सकता है। क्योंकि साहित्य तो जातीय जीवन का प्रतिबिम्ब है। उन्नतिशील साहित्य प्रगतिशील जाति का और गंदा साहित्य पतित या पतनोन्मुख जाति का स्पष्ट लक्षण है।

पर साहित्य जातीय जीवन का केवल प्रतिबिम्ब ही नहीं। समाज के भावी जीवन पर भी वह बहुत गहरा असर डालने वाली प्रबल शक्ति है। निःसन्देह जैसा समाज होगा वैसा ही उसका साहित्य भी होगा। पर जैसा साहित्य समाज पढ़ेगा वैसा उसका जीवन भी बनेगा। भले या बुरे साहित्य का समाज तथा व्यक्तियों पर वही असर पड़ता है जो सत्संग या कुसंग का पड़ता है।

साहित्य से होनेवाला दूसरा महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इस के द्वारा विश्व के भिन्न भिन्न दूरवर्ती स्थानों से उठनेवाली विचार तरङ्गों की कड़ियाँ परस्पर शृंखलाबद्ध रूप से मिलाई जा सकती हैं। जब तक एक देश के या एक जाति के विद्वानों के विचार अन्य देश के विद्वानों के विचारों से नहीं मिलाये जायँगे

तब तक समाज-रचना के व्यापक तत्वों की कल्पना नहीं हो सकती। क्योंकि प्रत्येक देश में रहवेवाले विद्वानों के विचार अपने देश काल और पात्र से मर्यादित रहते हैं। इसलिए उनके वे विचार एकाङ्गी रहते हैं। साहित्य के द्वारा संसार के भिन्न भिन्न मानस-शास्त्री और समाज-शास्त्रियों के मनोभावों से निकलने वाली विचार-तरंगों में समीकरण उत्पन्न किया जा सकता है और समय आने पर इसी समीकरण पद्धति से एक ऐसे व्यापक तत्त्व का आविष्कार किया जा सकता है, जो संसार में बसनेवाली सभी जातियों के लिए अनुकूल सिद्ध हो। इस तरह साहित्य विचार विनिमय का सबसे बड़ा साधन होने के कारण संसार की सार्वभौम प्रगति तेजी के साथ करने में मनुष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

तीसरा कीमती फ़ायदा साहित्य के द्वारा यह होता है कि इससे समाज के निदान और उसकी चिकित्सा में बड़ी सहायता पहुँचती है। समाज को कौन सा रोग लग गया है उससे कौन कौन सी नवीन खराबियाँ उत्पन्न हो रही हैं, तथा इनसे समाज-रचना के मूल तत्वों को क्या हानि पहुँच सकती है, ये सब बातें साहित्य के द्वारा जानी जा सकती हैं। साहित्य इस सम्बन्ध में अपने पुराने अनुभव और नवीन तर्क हमें प्रदान करता है। जिससे हम आगे उन घटनाओं से बचने के लिए समाज की चिकित्सा कर सकते हैं।

तात्पर्य यह कि साहित्य मानव-ज्ञान का प्रत्यक्ष स्वरूप है। साहित्य अज्ञान के अन्धकार में भटकती हुई लक्ष्य-हीन जातियों को प्रकाश की रेखा बतलानेवाला दीपक है। साहित्य प्राचीन-

स्मृति को जागृत रखनेवाला और नवीन कार्य्यों में अनुभव प्रदान करनेवाला सबसे बड़ा साधन है। यह एक ऐसी वस्तु है जिससे भूत और वर्तमान के विचारकों की विचार-कड़ियाँ आपस में जुड़ कर एकाकार हो जाती हैं। जातियाँ मर जाती हैं, समाज बिखर जाते हैं, राज्य नष्ट हो जाते हैं, सिंहासन उलट जाते हैं, केवल उनका साहित्य जीवित रह कर उनकी अक्षय स्मृति की रक्षा किया करता है। और कभी कभी समय आने पर उनको पुनर्जीवित करने में सहायता देता है, अन्यथा दूसरी जातियों को कई प्रकार के अनमोल अनुभव प्रदान करता है।

मनुष्य-प्राणी के अन्तर्गत स्वाभाविक-तया दो प्रकार की भावनाएँ पाई जाती हैं। एक जिगीषा की और दूसरी तन्मयता की। एक मनुष्य की ज्ञान-प्रवृत्ति से उदय होती है और दूसरी उसकी भक्ति-प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है। जिगीषा की भावना के वशवर्ती होकर मनुष्य, प्रकृति के अनन्त विस्मयागार और रहस्यमय भण्डारों के कपाट खोलने का प्रयत्न करता है। वह प्रकृति के विस्मयोत्पादक दृश्यों को देख कर चकित और आनन्दित तो होता है मगर उसमें तल्लीन नहीं होता। वह इन दृश्यों में अपने अस्तित्व को नहीं खोता, प्रत्युत इन सब के अन्तर्रहस्य को समझ कर वह प्रकृति पर अपनी बुद्धि का साम्राज्य स्थापित करना चाहता है। वह प्रकृति को अपनी आज्ञानुवर्तिनी बना कर उससे बड़ी बड़ी समस्याओं को हल करवाता है। तन्मयता की भावना के वशवर्ती होने वाला मनुष्य खोज की इन रूखी झंझटों में पड़ना पसन्द नहीं करता। वह तो प्रकृत्ति के विस्मयोत्पादक दृश्यों को देख कर आनन्द से नाच उठता है, और ताली बजा

बजा कर प्रेम गद्गद होजाने लगता है। उस आनन्द में तल्लीन हो जाना, उसमें वह जाना ही वह पसन्द करता है। साधारण दृष्टि से देखने पर इन दोनों भावनाओं में बड़ा जबर्दस्त विरोध दिखलाई देता है, इसी दृष्टि को लक्ष्य में रख कर महान् तत्ववेत्ता प्लेटो ने कवि और दार्शनिक में पारस्परिक विरोध बतलाया है और कवियों को देश तथा जाति के लिए बहुत हानि कर सिद्ध किया है। पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो अपनी-अपनी दृष्टि से दोनों ही भावनाएं समाज के लिए फायदेमन्द और आवश्यक हैं। पहली भावना कार्यकारण-परम्परा के मार्ग से होकर सत्य के सम्मुख पहुँचती है और दूसरी भावना आनन्द प्रतीति के मार्ग से होती हुई अपने लक्ष्य स्थान पर मनुष्य को पहुँचाती है। पर जरा ही भटक जाने पर दोनों मार्गों के पथिकों की बड़ी दुर्गति होती है। पहले मार्ग से भटकने पर गन्दा नास्तिकवाद उत्पन्न होकर समाज में "ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्" वाली भयंकर वृत्ति समाज में फैलने लगती है और दूसरी भावना से भयंकर अन्धश्रद्धा उत्पन्न होकर वह समाज को ज्ञान-शक्ति और जीवन-शक्ति की जड़ काट देती है।

इन दोनों ही प्रकार की भावनाओं में से दो प्रकार के साहित्य की उत्पत्ति होती है। जिगीषा की भावना विज्ञान को उत्पन्न करती है और तन्मयता की भावना काव्य की जननी है। इस प्रकार साहित्य के दो विभाग हो जाते हैं। एक विज्ञान और दूसरा काव्य। पहले की मूल भित्ति तर्क पर रहती है और दूसरे की मूलाधार कल्पना रहती है। इन दोनों भेदों के फिर कई उपभेद हो जाते हैं। इतिहास, भूगोल, गणित, दर्शनशास्त्र,

मानसशास्त्र, समाजशास्त्र, भौतिकविज्ञान आदि सब भेद विज्ञान के अंग हैं, और महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, उपन्यास. आदि काव्य के अंग हैं। अब हम इनमें से कुछ चुने हुए मुख्य-मुख्य अंगों का विवेचन कर का प्रयत्न करते हैं।

——— ———

दूसरा अध्याय

इतिहास

इतिहास साहित्य का बड़ा ही महत्व पूर्ण अङ्ग हैं। यूरोप के कई विचारकों का तो यह मत है कि यह अङ्ग साहित्य का सबसे अधिक महत्व पूर्ण और आवश्यक भाग है।

मानव-सृष्टि के प्रारम्भ में जब छोटी छोटी घटनाओं का रहस्य समझने में भी मनुष्य असमर्थ था। जब मनुष्य अपनी कर्तृत्वशक्ति और समाज-रचना के महत्व को बिलकुल ही नहीं समझता था, जब वह दुनिया में होने वाले प्रत्येक कार्य का कर्त्ता अपने ज्ञान से अतीत किसी अदृश्य शक्ति को अथवा ईश्वर को मानता था, तब मानव-समाज में इतिहास का अस्तित्व न था। क्योंकि इतिहास मनुष्य के कार्यों के द्वारा समाज पर जो भले बुरे परिणाम घटित होते हैं उनका वैज्ञानिक विवेचन करने वाला शास्त्र है। पर जहां मनुष्य के कार्यों को कोई स्थान ही न हो, वहां इस शास्त्र की स्थिति कैसे रह सकती है ?

इसके पश्चात् जब ज्ञान का विकास होने लगा, जब मनुष्य को अपनी कर्तृत्व-शक्ति का भान होने लगा, जब मानव-समाज में विचार-क्रान्ति की भिन्न भिन्न प्रचण्ड लहरों के साथ साथ शासन-संस्थाओं के बबूले उठने लगे, तब इन लहरों के आदि-कारण और उनकी गति के नियमों को निश्चय करने वाले इतिहास-शास्त्र का महत्व लोगों के ध्यान में आया, और तभी समाज के अन्तर्गत इस महत्वपूर्ण शास्त्र का जन्म हुआ।

इतिहास की उपयोगिता को प्रतिपादित करते हुए एक पाश्चात्य विद्वान ने लिखा है "इतिहास भूत काल को सूर्य्य के समान स्पष्ट करने वाली और भविष्य की अदृष्ट सृष्टि पर भी प्रकाश डालने वाली ज्योति है। जिस-प्रकार भूस्तर शास्त्रवेत्ता पृथ्वी में से निकले हुए अस्थि पञ्जरों के द्वारा सजीव सृष्टि की गुमी हुई कड़ियों को जोड़कर उत्क्रान्ति-शृंखला तैयार कर सकते हैं, उसी प्रकार इतिहास भी भूतकाल की घटनाओं के निरीक्षण द्वारा सामाजिक विचार-क्रान्ति की कड़ियां जोड़ सकता है। एक दूसरे विद्वान का कथन है कि "इतिहास मनुष्य-समाज का वैद्यक शास्त्र है, मनुष्य-समाज की स्थिति, विकार, और रोग-परिहार की चिकित्सा केवल इसी शास्त्र से होती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बिना भूतकाल की घटनाओं से वर्तमान काल की कड़ियों को मिलाए वर्तमान काल का अनुभव बहुत कच्चा और अपूर्ण रहेगा। अभी संसार में जिन जिन संस्थाओं का उदय हो रहा है, जिन जिन सत्ताओं का प्राबल्य छा रहा है, तथा जिन जिन धर्मों की उत्क्रान्ति हो रही है, उन सबका आगे जाकर क्या स्वरूप होगा यह बात तब तक निश्चित नहीं हो सकती, जब तक इनके सम्बन्ध में हमें भूतकाल के ज्ञान का परिचय न हो जाय। संसार का वर्तमान प्रबल प्रजा-सत्ता भूतकाल की किन किन घटनाओं का परिणाम है, तथा मनुष्य की किस मनोवृत्ति का विकास होते होते यह स्थिति उत्पन्न हुई है, यह बात जब तक मालूम न होगी तब तक प्रजा सत्ता का भावी स्वरूप क्या होगा और उसकी स्थिति किस रूप में परिवर्तित होगी यह कैसे जाना जा सकता है? इसी प्रकार

जब आज का वर्तमान काल भूतकाल हो जायगा और इतिहास के बिना आज की बातें भी कल के लोगों को स्मरण न रहेंगी, तब मानव-बुद्धि भविष्य के लिए क्या निश्चित कर सकेगी? इतिहास भिन्न भिन्न समयों के स्फुट विचार और उनके परिणामों का आकलन कर जगत में होने वाली घटनाओं को व्यवस्थित रूप प्रदान करता है। यह अपने भूतकाल के अनुभवों पर से कई कीमती तत्व संगृहीत करके मनुष्य-जाति को प्रदान करता है। किसी जाति का पतन होने के पूर्व कौनकौन से लक्षण प्रकट होते हैं, जातीय जीवन में पैदा होने वाली जाति के अन्तर्गत कौनसी बातें किस रोग के अस्तित्व को प्रकट करती हैं, और उस रोग का निवारण किस प्रकार किया जा सकता है, इत्यादि बातें प्राचीन जातियों का उदाहरण देकर इतिहास हमें बतलाता है। यदि हमें इतिहास का ज्ञान न हो तो हम कैसे जान सकते हैं कि नाना प्रकार के दण्डों वाली जिस राज-सत्ता का आज समाज पर अधिकार है, वह समाज में गंगा यमुना की धाराओं की तरह हमेशा प्रचलित रहेगी अथवा बारूद के ढेर की तरह प्रजा-बल की एक चिनगारी लगाते ही एक जबर्दस्त धड़ाके के साथ नष्ट हो जायगी? इन सब बातों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए साहित्य में इतिहास शास्त्र की अत्यन्त आवश्यकता है।

मतलब यह कि इतिहास साहित्य का एक महत्त्व पूर्ण अंग है। पर कई विद्वानों का यह मत है कि समाज की चिकित्सा एक मात्र इसी शास्त्र से हो सकती है, और शास्त्रों की इसमें सहायता लेने की आवश्यकता नहीं। पर यह कथन अत्युक्तिपूर्ण एवं भ्रमपूर्ण है। क्योंकि जगत् की परिस्थिति हमेशा बदलती

रहती है। एक समय में या एक देश में एक तत्व का, या एक सिद्धान्त का जो परिणाम होता है उसी सिद्धान्त का दूसरे समय या दूसरे देश में उससे बिलकुल भिन्न अथवा कभी-कभी उससे बिलकुल विपरीत परिणाम भी घटित होता है। एक जाति जिस तत्व का अनुशीलन करके उन्नति के ऊंचे शिखर पर पहुँच सकती है, दूसरी जाति उसी बात का अनुसरण करके पतन के गड्ढे में भी गिर सकती है। एक समय में जो तत्व जाति का पोषण करता है, आगे जाकर दूसरे समय में वही उसका शोषण भी करने लग जाता है। एक समय भारतवर्ष की शुद्ध नीति में यह नियम था कि निःशस्त्र पर शस्त्र न चलाया जाय, एक आदमी के ऊपर अनेक आदमी एक साथ आक्रमण न करें, शत्रु के शरणागत होते ही उसे क्षमा कर दिया जाय, इत्यादि। कहना न होगा कि उस समय इसी नियम के कारण युद्ध के समय अत्याचार नहीं होते थे, और इसी नियम का पालन कर उस समय के राजा स्वाधीनता के सुख का उपभोग करते थे। पर जब समय बदल गया, जब यहां पर मुसलमानों के आक्रमण हुए, तब यही नियम हिन्दू साम्राज्य को हड़प गया। इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में जब कि एक ही तत्व के भिन्न-भिन्न समय में परस्पर विरोधी अनेक परिणाम घटित होते हैं तब केवल भूतकाल के किसी अनुभव पर से भविष्य काल का कोई तत्व निश्चित कर लेना बहुत भारी भूल साबित होगी। इस त्रुटि को पूर्ण कर लेने के लिए प्रत्येक देश और प्रत्येक समय की परिस्थिति को समझ लेने की भी आवश्यकता है। तत्ववेत्ता कोम्फियर ने इस विषय को

बीज गणित का उदाहरण देकर सिद्ध किया है। वे कहते हैं कि बीज गणित के कुछ भाग ऐसे होते हैं जिनकी कीमतें ज्ञात होती हैं और कुछ भाग अज्ञात होते हैं, जिन्हें उदाहरण हल करते समय " ए. बी. सी. आदि संज्ञाओं से सम्बोधित करते हैं। अन्त में जब उदाहरण हल हो जाते हैं तब उस अज्ञात भाग की भी कीमतें मालूम हो जाती हैं। इसी प्रकार इतिहास के द्वारा बतलाए हुए सिद्धान्त मनुष्य समाज के ज्ञात भाग हैं। तथा वर्तमान परिस्थिति, समाज की मनोरचना आदि बातें पूर्ण विचार होने तक अज्ञात भाग में गर्भित रहती हैं। जब परिस्थिति के प्रकाश से वह समस्या हल हो जाती है तब उस अज्ञात भाग का वास्तविक मूल्य मालूम होता है। मनुष्य का स्वभाव चपटे कांच के समान एकाङ्गी नहीं है पर वह अनेक पहलूदार बिल्लौरी कांच के समान है, जिसमें अनेक प्रकारके रंग दिखाई पड़ते हैं। उन रङ्गों में ऐतिहासिक शिक्षा के संस्कारों का भी रङ्ग है।

इतिहास का कार्य्य केवल इतना ही है कि वह भूतकाल की घटनाओं पर से वर्तमान काल के तत्त्वों को निश्चित करने में हमें सहायता दे। क्योंकि किसी सिद्धान्त का पूर्ण निश्चय तब तक नहीं हो सकता जब तक उसके पक्ष में कुछ व्यावहारिक उदाहरण न मिल जायँ। लेकिन प्रत्येक सिद्धान्त के व्यावहारिक उदाहरण केवल वर्तमान काल में ही मिलना सम्भव नहीं। क्योंकि समाज में हमेशा राज्य-क्रान्ति और धर्म-क्रान्ति होने की सम्भावना नहीं रहती। ऐसी स्थिति में हमारे लिए इतिहास चाहे हमें कोई नवीन तत्व न बतलाता हो, पर, हमारे निश्चित किये हुए तत्वों का वास्तविक महत्त्व नापने में वह प्राचीन घटनाओं के उदाहरण

वा उनका अभाव दिखाकर सहायता अवश्य करता है
ा यह काम भी कम महत्त्व पूर्ण नहीं है। पर एक
है। हमें कभी यह न समझना चाहिए कि लिखित या
िहास भूतकाल के जितने भी सिद्धान्त या घटनायें पेश
वे सब सत्य और अनुकरणीय ही हैं। कितनी ही
ाधिक प्रामाणिक आधार मिलने पर आगे चलकर
ी साबित हो सकती हैं। इसी प्रकार जो सिद्धान्त पूर्व
ावश्यक समझे जाते थे। आज वे उतने महत्व पूर्ण
हों। अतएव ऐसी स्थिति में जो सिद्धांत प्रत्यक्ष हमारे
नर से निश्चित हो चुके हैं उन्हींको भूतकाल की
से ष्ट करना यही इतिहास का प्रधान कार्य्य है। इस
स्पष्ट करते हुए प्रोफेसर विनय कुमार सरकार ने अपने
स ऑफ हिस्ट्री एण्ड दी होप ऑफ मेन-काइण्ड"
थ में बहुत ही उत्तम उद्गार प्रकट किये हैं। वे कहते हैं
राजनीति के व्यापक सिद्धांतों की पुष्टि में अपने समृद्ध भंडार
प्रकार के उदाहरण देकर मानव-ज्ञान की विविधता और
को बढ़ाता है। पर यदि केवल इसी बात पर आधार
य तो संभव है विद्वान् लोग प्रगति और महत्वाकांक्षा
पेक्षा की नजर से देखने लग जायं। मनुष्यों के मनो-
नकी प्रवृत्ति, मनुष्यों के द्वारा चलाई जानेवाली संस्थाएं
संस्थाओं की वर्तमान कार्य-प्रणाली का ज्ञान भी जब तक
नहीं प्राप्त कर लेता तब तक उसका वह मनुष्य-प्रकृति
न पूर्ण नहीं कहा जा सकता। वह अपूर्ण ही रहेगा।
कारण से मनुष्य के सर्वकालीन और सर्वाङ्गीण जीवन

की ओर दुर्लक्ष्य करनेवाला इतिहास भी अधूरा ही रहेगा। अतएव इतिहासज्ञों को प्रचलित संस्थाओं का और वर्तमानकालीन ज्ञान का पद-पद पर उपयोग करने रहना चाहिए।"

इतने ऊहापोह से जो तत्व निकाला वह यह है कि केवल इतिहास या भूतकालीन ज्ञान के आधार पर ही कोई तत्त्व निश्चित करना ठीक नहीं। जब तक वर्तमान परिस्थिति का पूर्णज्ञान न हो जाय तब तक इतिहास के निश्चित किये हुए सिद्धान्तों का व्यावहारिक महत्व नहीं सा है। वर्तमान काल की परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके उनमें गम्भीर तत्त्वों को ढूँढ़ निकालने का काम राजनीति का है।

इस तरह इतिहास का महत्त्व और मर्यादा जान लेने पर हमें उसके स्वरूप का अवलोकन करना चाहिए।

अब वह समय बीत गया जब सन् तिथियों का बतला देना, प्रसिद्ध पुरुषों के माता-पिताओं और उनके जीवन की कुछ घटनाओं को बतला देना ही इतिहास का खास कार्य्य माना जाता था। ज्यों-ज्यों साहित्य की तरक्की होती गई, त्यों-त्यों इतिहास का क्षेत्र भी विशाल होता गया, और अब तो यह हाल है कि राजनीति समाजशास्त्र, धर्म-शास्त्र आदि सभी शास्त्रों और विषयों के गूढ़ तत्त्व इतिहास में ग्रथित किये जाते हैं—यहां तक कि जिस इतिहास में इन बातों की न्यूनता रह जाती है वह इतिहास ही अपूर्ण माना जाता है। एमर्सन अपने इतिहास विषयक निबन्धों में एक स्थान पर लिखते हैं—"अब इतिहास एक पुराने जमा-खर्च की बही मात्र ही नहीं रहेगा। किन्तु वह एक जीवित धर्म गुरु के समान मनुष्य-जाति को उपदेश देता हुआ भ्रमण करेगा।"

इतिहास का शास्त्रीय ढंग से विकास तो यूरोप ने ही किया है। वहां इस शास्त्र को निम्न लिखित तीन हिस्सों में बांट दिया गया है।

१—वर्णनात्मक इतिहास इस विभाग में केवल् सन—तिथियां, शिला-लेख, ताम्र पत्र और नई शोधों का वर्णन रहता है। यह तो केवल प्राचीन काल की घटनाओं का रूक्ष वर्णन ही होता है।

• २—विवेचनात्मक—(Reflective) इसमें उपर्युक्त विभाग की घटनाओं का राजनैतिक-दृष्टि से विवेचन किया जाता है।

३—मीमांसात्मक (Philosophical) इस विभाग में घटनाओं के मूल कारण का तात्विक विवेचन किया जाता है। जिन तत्वों की कमी से राज्य उलट जाते हैं, समाज बिखर जाते हैं, जातियां नष्ट हो जाती हैं और सिंहासन बिखर जाते हैं उन सब तत्वों का इसमें विवेचन रहता है। इसमें राजनीति के अतिरिक्त समाज-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र और मनोविज्ञान के बहुत से आवश्यक और व्यापक तत्वों का विवरण भी रहता है।

जिस इतिहास में इन तीनों ही अंगों का विवेचन रहता है, वही सर्वाङ्गपूर्ण और समाज के लिए उपयोगी हो सकता है।

तीसरा अध्याय

भौतिक-विज्ञान

जब तक मानव-साहित्य में भौतिक-विज्ञान का उदय नहीं हुआ था, जब तक मनुष्य जाति के हृदय में सृष्टि की चमत्कार पूर्ण घटनाओं का मूल कारण खोजने की सहज प्रवृत्ति का उदय नहीं हुआ था, तब तक मनुष्य जाति बड़ी दुःखित और पराधीन अवस्था में थी। उस समय प्रत्येक नवीन होनेवाली अ-मानुष घटना का मूल कारण कोई भयानक अदृश्य शक्ति मानी जाती थी। लोग इस अदृश्य शक्ति से बड़े डरते थे, सोते, जागते, उठते, बैठते, उन्हें इसीका भय बना रहता था। न मालूम कब क्या गलती हो और वह शक्ति नाराज हो जाय, इस बात से वे हमेशा डरते रहते थे। उस समय मनुष्य-शरीर में उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक रोग समाज में कलह उत्पन्न करनेवाली प्रत्येक बात तथा अतिवृष्टि, इत्यादि कारणों से पड़नेवाले प्रत्येक दुष्काल का मूल कारण यही अदृश्य शक्ति मानी जाती थी। उस समय लाखों मासूम बच्चे, हजारों होनहार नवयुवक, महामारी और दुष्काल के चक्कर में, पड़ कर, असमय ही अपनी जीवन यात्रा समाप्त कर देते थे। उनके कुटुम्बी आंखों में आंसू भरे दिल पर हाथ रक्खे हुए इस भयंकर दृश्य को देखते रहते थे। मगर सिवाय उस अदृश्य शक्ति के हाथ जोड़ने के उनकी कुछ भी चिकित्सा या अन्य उपाय नहीं कर सकते थे। उनके देखते हुए

ारी और लहलहाती खेती नष्ट हो जाती थी, मगर
ा करने में असमर्थ थे।

जाति को इस असहाय, करुण और दयनीय दशा
कालने का श्रेय भौतिक-विज्ञान को है। कार्य्य-
रा जानने की मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा में
त्पत्ति हुई है। विज्ञान ने मनुष्य जाति को यह सिद्ध
दिया है कि किसी भी चमत्कार का या किसी भी
क व्यापार का मूल कारण कोई अदृश्य शक्ति नहीं
ता है "प्रत्येक घटना या कार्य का मूल कारण उस
इ में रहता है और ध्यान पूर्वक खोजने से वह
है। मनुष्यों को किसी अदृश्य शक्ति के डर से कुत्तों
ने या अपने परिश्रम से कमाई हुई खेती या दूसरी
कर डालने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य पूर्ण
ह अपनी रक्षा आप करने में पूर्ण समर्थ है। विज्ञान
आदि कारण और मूल तत्व की खोज करके यह
र दिया कि सृष्टि किसी ईश्वरीय शक्ति का परिणाम
त एक प्रकार की हलचल या गतिविधि का परिणाम
मूल-परमाणुओं में उत्पन्न होती।

हले इस परमाणु-विज्ञान का आविष्कार भारतवर्ष
महामुनि कणाद का परमाणुवाद, और सांख्य का
सी विज्ञान के दृश्य स्वरूप हैं। भारतवर्ष में इस वाद
अवश्य हुआ, पर यहाँ की जनता में इसका ज्ञान सर्व-
ा सका। यहाँ की जनता पर अदृश्य शक्ति को प्रति-
वाले धर्म का रङ्ग इतना गहरा चढ़ा हुआ था कि

वह विज्ञान यहाँ के जन-समाज की मनोभावनाओं पर अधिक असर नहीं कर सका। दूसरी बात यह थी कि यहाँ के विद्वानों ने इस तत्व को केवल सैद्धान्तिक रूप से ही प्रतिपादित किया, उसको व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा नहीं की। हाँ, जिन जिन कलाओं के आचार्य्यों ने अपने सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप प्रदान किया, उन सिद्धान्तो को यहाँ की जनता ने सहर्ष स्वीकार किया।

विज्ञान के समष्टिगत प्रचार का सच्चा श्रेय तो यूरोप को प्राप्त है। वहाँ भी धर्म और धर्म-गुरुओं के अत्याचारों से जनता अत्यन्त तङ्ग और त्रस्त हो गई थी दुःख और वेदना के मारे वह छटपटाने लग गई थी। स्वर्ग और नरक की आडम्बर मय कल्पनाओं से वह महान दुःखी हो गई थी। वह यह सुनना चाहती थी कि ईश्वर नहीं है, स्वर्ग नहीं है, नरक नहीं है। वह इन बन्धनों से मुक्त होकर आज़ादी की सांस लेना चाहती थी। ठीक इसी समय वहाँ के वैज्ञानिकों ने सृष्टि के आदि कारण की खोज करना प्रारम्भ की। प्रबल तर्कशक्ति की सहायता से धार्मिक अन्ध-विश्वासों के एक एक प्रदेश पर आक्रमण कर उसे नेस्त-नामूद करना उन्होंने प्रारम्भ कर दिया। इनके इस प्रचण्ड आक्रमणों से अन्ध-विश्वासों के किले कांच के वर्तनों की तरह खड़खड़ाहट करते हुए टूटने लगे। इनकी प्रतिपादित विचार शैली का सारांश इस प्रकार है:—

"सम्पूर्ण जगत् प्रकृति मय है। उसमें ऐसी कोई बात नहीं जो अतीन्द्रिय हो। प्रकृति का मूल घटक परमाणु है। जो अत्यन्त सूक्ष्म है। इस परमाणु में स्वाभाविक गति-शक्ति

) करने की है। इस शक्ति की वजह से परमाणु में
। उत्पन्न होती है, और उससे परमाणुओं के भिन्न
ाय वन कर उन्हें आकार प्राप्त होता है। उस आकार
ाु समूह को हम वस्तु कहते हैं। परमाणु में गति-रूप
ोग से चलन होकर उसे विशिष्ट रूप प्राप्त होने की जो
ती है उसके कुछ खास नियम होते हैं। इन नियमों का
ति दिन एक से एक अधिक उत्तम और टिकाऊ
। निर्माण करने की ओर होता है, जिसके परिणाम
त् की पुरानी और निर्बल वस्तुएँ तो नष्ट हो जाती हैं
स्थान पर नवीन और सबल वस्तुएँ उत्पन्न होती जातीं
द्धति का नाम जीवन-कलह है। जीवन-कलह के
र उत्तम वस्तुओं की उन्नति और निकृष्ट वस्तुओं का
ार्य है। इसी पद्धति से दिन प्रति दिन जगत् का
ता जाता है और वह दिन प्रति दिन उत्तम-स्वरूप ग्रहण
ा है। यह नियम मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, वृक्ष, आदि
: के लिए समान रूप से व्यवहृत होता है। इसमें
बात नहीं जो इन्द्रियातीत या भौतिक शास्त्रों की मर्यादा
ा।"

वेचार-पद्धति के साथ ही वहाँ के विद्वानों ने इसी
उत्पत्तियों के द्वारा रेल, तार, वायुयान, रेडियो आदि
आविष्कार करके दुनिया के सम्मुख रखना प्रारम्भ
इनकी वजह से चमत्कार और आश्चर्य्य का अस्तित्व
देन कम होने लग गया। कार्लाइल ने तो स्पष्ट
कह दिया कि "आश्चर्य्य का दुनिया से बहिष्कार हो

रहा है" Wonder is going out from the world. बहुत सी ऐसी चीजें जिनका उल्लेख करते समय धर्म्मशास्त्रों में दैव-प्रणीत शब्द का व्यवहार किया जाता था प्रत्यक्ष में मनुष्यों के द्वारा आविष्कृत होने लगीं। एक ओर तो वहां का जन-समाज कल्पित धर्म की अस्वाभाविक बेड़ियों से मुक्त हो गया, दूसरी ओर इस विज्ञान ने तरह-तरह के आविष्कारों द्वारा उसके स्वाधीन मार्ग को और भी सुन्दर बना दिया। परिणाम यह हुआ कि वहां का जन-समाज एक साथ चारों ओर से ज्ञानोन्नति करने लगा। वहां पर प्रत्येक विषय के अन्दर-जैसे वनस्पति-शास्त्र अगदतंत्र, शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, व्यापार, ज्योतिर्विद्या, भूगोल, आदि में आश्चर्य-जनक उन्नति और खोज होने लगी। अब तो शायद ही कोई ऐसा विषय रह गया हो जिस पर वहां के विद्वानों ने कलम न उठाई हो।

(१) इसमें कोई सन्देह नहीं कि विज्ञान ने मनुष्यों को तरह-तरह की भौतिक सुविधाएं प्रदान कर दी हैं। एक समय वह था जब रेल, तार, बेतार, मुद्रण यंत्र आदि की कल्पनाएँ भी दैवी चमत्कार पूर्ण मानी जाती थीं। पर आज विज्ञान की कृपा से मनुष्य-जाति इन सब बातों का व्यावहारिक लाभ उठा रही हैं। यह विज्ञान ही की कृपा है कि आज सारे विश्व के मनुष्य अत्यन्त दूरी पर रहते हुए भी एक दूसरे की ओर बलात आकृष्ट हो रहे हैं। आज सात समन्दर पार बसनेवाले देशों का धड़ाके के साथ लेन देन हो रहा है। किसी प्रान्त के छोटे से कोने में कोई नवीन विचार उत्पन्न होता है, कोई नवीन आविष्कार होता है कि तुरन्त सारे विश्व में उसकी खबर पहुँच जाती है।

कृपा से शल्य विद्या (Surgery) ने भी अक-
ा कर ली है, जिसकी वजह से मनुष्य-समाज नाना
ोषण यातनाओं और असाध्य समझे जानेवाले रोगों
:क्त हो गया है। हवाई जहाज, रेडियो, टेलिग्राफिक
ादि सैकड़ों प्रकार के आवश्यक और आश्चर्य्य-जनक
भी इसकी कृपा से हुए हैं। कहना न होगा कि इन
पूर्ण आविष्कारों ने मानव-जाति की उन्नति पथ के
टों को निर्मूल कर उन्हें साफ़ कर दिया है।

विज्ञान का दूसरा महत्व पूर्ण परिणाम संसार में बुद्धि-
य है। यह एक ऐसा मधुर परिणाम है, जिसने
जाति की काया पलट करके उसमें नवीन प्राणों
कर दी है। इसकी वजह से अब मनुष्य सत्य के लिए
ज करना सीख गया है। इस बुद्धिवाद के अभाव में
ी मनुष्य-जाति आंखों पर पट्टी बांधे हुए स्वार्थी धर्म
ंकुश राजाओं और अत्याचारी समाज-सञ्चालकों की
इशारों पर नाचती हुई पतन के गहरे गड्ढे के समीप
ी थी। उसकी विचार-शक्ति जड़ हो गई थी, मन
माशे करनेवाले और सांसारिक प्राणियों की तरह
और हर्ष शोक के झंझट में फंसे रहनेवाले ईश्वर के
उसकी सारी जीवनी-शक्ति को निर्माल्य कर दिया
वारों का प्रतिकार करनेवाली महत्त्वपूर्ण शक्ति उसके
ष्ट हो गई थी। उसकी स्थिति अन्धकार में भटकते
बच्चे की तरह हो रही थी जो भय के मारे कांपता
है, हाय-हाय करता है, मगर निरुपाय है। एक के

है कि संसार के सब मनुष्य भाई-भाई हैं और यह सारा संसार एक बड़ा भारी कुटुम्ब है।

सुगन्धित पुष्प में भी कांटे होते हैं, शीतल और सुन्दर चन्द्रमा में भी कलंक होता है। विज्ञान ने जहां मनुष्य जाति के इतने बड़े-बड़े उपकार किये हैं वहां इसके द्वारा कई अपकार भी हुए हैं। उनकी भी विवेचना करना यहां पर प्राप्त है।

(१) विज्ञान का पहला और भयङ्कर नैतिक दुष्परिणाम पूँजीवाद का उदय है। इसकी वजह से विज्ञान के द्वारा होने वाले तमाम आविष्कारों का लाभ पूँजीपतियों को मिलता है। क्योंकि आविष्कारों में—अथवा उनके व्यावहारिक रूप कल कारखानों में—पूँजी की अनिवार्य्य आवश्यकता है। बिना पूँजी के यह काम चल नहीं सकते। पर समाज में सभी लोगों के पास तो पूँजी होती नहीं। जहां दस पांच पूँजी-पति होते हैं, वहां सौ दो सौ गरीब भी होते हैं। ये गरीब लोग तो पूँजी लगा ही नहीं सकते, परिणाम यह होता है कि इन गरीबों की गरीबी से लाभ उठाकर पूँजी-पति अपनी पूँजी के इन आविष्कारों पर अधिकार कर लेते हैं और गरीबों को केवल उनकी मजदूरी के पैसे देकर उनसे काम ले लेते हैं। अनेक गरीब दिन भर शारीरिक परिश्रम करके भी जितना नहीं कमा सकते, उससे कई गुना अधिक एक पूँजी-पति अपनी सम्पत्ति के द्वारा आराम से मसनद के सहारे बैठा-बैठा कमा लेता है। इस प्रकार मनुष्य के जीवन से भी अर्थ का महत्व अधिक बढ़ रहा है। यह एक ऐसी बात है, जिसके प्रताप से धनवान् कुछ परिश्रम न करते हुए भी दिन पर दिन अधिक धनवान् होते जाते हैं और गरीब दिन भर शरीर तोड़

परिश्रम करके भी दिन-दिन अधिक गरीब होते जाते हैं। अर्थ के इस अस्वाभाविक प्रभाव से मानव-समाज में आर्थिक-पराधीनता दिन पर दिन बढ़ती ही जा रही है, और मनुष्य-जीवन का मूल्य दिन पर दिन घटता जा रहा है। पूँजीपति दिन दहाड़े मज़दूरों का खून चूसते जा रहे हैं। राज्य-शक्ति और समाज शक्ति भी उनकी सहायता कर रही है। मतलब यह कि सारे संसार में इस पूँजीवाद के प्रभाव से वैश्य युग का प्रादुर्भाव हो रहा है। यह लक्षण मानव-समाज के लिए बहुत ही भयंकर है। इस पूँजीवाद ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अनेक युद्ध ठान दिये हैं। अनेक पिछड़े हुए देशों को दासता और अत्याचार की भयंकर बेड़ियों से जकड़ दिया है।

(२) विज्ञान का दूसरा दुष्परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय नीति का पतन है। इसने प्रत्येक राष्ट्र की स्वार्थ-लिप्सा को इतना अधिक बढ़ा दिया है कि वह दूसरे सब राष्ट्रों को हड़प कर संसार में अपना एकाधिपत्य करना चाहता है। गत यूरोपीय महासभा इसी स्वार्थ लिप्सा का विषमय-फल था। इस स्वार्थ-लिप्सा की वजह से विज्ञान के द्वारा कई ऐसे भयङ्कर और विघातक यन्त्रों का आविष्कार हो गया है और हो रहा है कि अब मनुष्य का जीवन कीड़ी मकोड़ी के जीवन के बराबर भी सुरक्षित नहीं रहा है। मशीनगन, विषैली गैस, डायनामाइट आदि कई ऐसी भीषण वस्तुओं का आविष्कार हुआ है जो एक मिनिट में हज़ारों मनुष्यों का संहार कर सकती हैं। इसकी वजह से कोई भी राष्ट्र अथवा कोई भी मनुष्य अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए एक क्षण भर में हजारों मनुष्यों का नाश कर सकता है।

कुछ लोगों का यह भी मत है कि इस भौतिक विज्ञान
ने मनुष्य-समाज में अशुद्ध नास्तिकवाद की उत्पत्ति कर
अब मनुष्यों के हृदयों में पाप, पुण्य तथा नीति और
ा कोई खयाल नहीं रह गया। पर ऐसे लोगों का
त भ्रम-मूलक है। हाँ, इतना अवश्य है कि, इस युग में
का धोरण बिलकुल बदल गया है। अब इसकी जड़ में
लेपत ईश्वर और स्वर्ग-नरक का अस्तित्व नहीं है। फिर
त समाज-रचना के सिद्धान्त को मानता है; मनुष्य के
ी ओर उसका पूरा पूरा लक्ष्य है, वह सदाचार को
अनुकूल बनाना चाहता है। ऐसी स्थिति में यह कहना
त में सदाचार को स्थान नहीं है, बिलकुल गलत है।
ये विज्ञान के स्वाभाविक परिणाम नहीं है। मानव-बुद्धि
ता और उसकी क्षुद्र स्वार्थपरता से ये परिणाम घटित
ज्यों ज्यों मानव-बुद्धि का विकास होता जायगा त्यों
ये दुष्परिणाम भी नष्ट होते जायँगे। हम प्रत्यक्ष देख
इसी विज्ञान की जड़ में से साम्यवाद के उदार सिद्धान्तों
न्म हो रहा है, इसी प्रकार मज़दूर भी अपने महत्व को
गग गये हैं। मतलब यह कि यदि इसी प्रकार गति विधि
तो एक दिन अवश्य ऐसा आयेगा जब विज्ञान के ये
म बिलकुल निर्जीव हो जायँगे।

त इन्हीं दोषों के लिए भौतिक विज्ञान को बुरा नहीं कहा
ा। इनके लिए विज्ञान को उत्तरदायी ठहराना भी बेजा
भी साँप के पेट में जाकर विष हो जाता है, पर इससे
को दोषी नहीं ठहरा सकता। आग से दुनिया के बड़े

बड़े उपकार होते हैं, पर यदि कोई मूर्ख जान बूझ कर भी उसमें अपना हाथ जला ले अथवा कोई दुष्ट उससे किसी गरीब का झोंपड़ा फूँक दे, तो उससे हानि भी हो सकती है। पर इस प्रकार की मूर्खता पूर्ण हानियों से दुनिया के अन्दर आग की महत्ता कम नहीं हो सकती। अतएव केवल इस लिए कि मानव-बुद्धि की अपूर्णता अथवा उसकी कुटिलता के साथ मिल जाने से विज्ञान के द्वारा कई हानियाँ हो जाती हैं, संसार में विज्ञान की महत्ता कम नहीं हो सकती।

चौथा अध्याय

मानस-शास्त्र

कितने ही विद्वानों का कथन है कि मानव समाज की सर्वांगीण उन्नति में विज्ञान सहायक हो सकता है। मानव समाज अथवा मनुष्य केवल ये चलती फिरती मूर्त्तियाँ—ये जड़ शरीर ही नहीं हैं। मनुष्य के अथवा यों कहिए कि संसार में जो चैत्यन्यमय शक्ति विज्ञान अभी कोसों दूर है। इतने शक्तिशाली इञ्जिन, वायुवान आदि बनाने पर भी विज्ञान अब तक घास का का तक नहीं बना सकता। एक तितली के अन्दर एक अन्दर जो शक्ति काम करती है। उसे समझने में अब तक असमर्थ है। यह जानने के लिए तितली, और मेंढक के शरीर पर ज्योंही वह शल यक्रिया करने उसके देखते ही देखते न जाने कहां से वह चेतना शक्ति कलती है और उसके हाथों में केवल जड़ मिट्टी रह । इसी प्रकार मनुष्य के अन्दर जो चैतन्य शक्ति है और गुलाम शरीर है उसके व्यापारों पर भौतिक विज्ञान का अधिकार नहीं। इन अदृश्य शक्तियों के व्यापार का ानने और प्रकट करने का काम तो मनोविज्ञान का है। ान अथवा मानस-शास्त्र मनः प्रवृत्तियों के विकास और अध्ययन का शास्त्र है।

तत्त्ववेत्ता क्रोम्फियर लिखता है कि मनोविज्ञान या मानस-शास्त्र का उदय होने से यह बात सिद्ध होगई कि विश्व के प्राणी वर्ग की मनो रचना का शरीर-रचना से दृढ़ सम्बन्ध है। और इस नियम के निश्चित हो जाने से समाज-शास्त्र के कार्य में एक प्रकार की एकात्मता उत्पन्न हो गई है। मन वास्तव में शरीर से भिन्न है। पर उसका शरीर से दृढ़ सम्बन्ध भी है। यह बात यदि मालूम न होती तो उस मन की वृत्ति की चिकित्सा करने के साधनों का मिलना अत्यन्त दुर्लभ होता। क्यों कि अमूर्त होने के कारण उसकी गति-विधि का थाह लगाना बहुत कठिन हो जाता। इसी प्रकार उसकी सबलता और निर्बलता तथा तीव्रता और मन्दता का ज्ञान भी नहीं होने पाता। यह बात अलग है कि किसी व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में इस प्रकार का एकाध साधन मिल जाता पर मानस-शास्त्र के अभाव में सम्पूर्ण मनुष्य जाति तथा इतर प्राणी वर्ग के मन के सम्बन्ध में कौनसी पद्धति निश्चित की जा सकती थी ? मानस-शास्त्र ने इन सब रुकावटों को दूर कर दिया है। उसके द्वारा प्राणि वर्ग की मनोरचना की एकात्मता सिद्ध हो जाने से अब यह अनुमान किया जा सकता है कि अमुक परिस्थिति में अमुक कार्य का अमुक परिणाम होगा। इस शास्त्र के द्वारा मनुष्य-कृति की चिकित्सा के सम्बन्ध में अधिक सुलभता हो गई है।

इसके अतिरिक्त मानस-शास्त्र के आविष्कार से कई व्यावहारिक लाभ भी—जो कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—हुए हैं। उन पर भी एक दृष्टि डाल देना उचित है।

(१) कुछ समय के पूर्व बच्चों की शिक्षा के सम्बन्ध में यह

माना जाता था कि यह शिक्षा केवल निषेधात्मक संस्कारों से (Negative suggestions) ही युक्त होनी चाहिए। क्योंकि बच्चे स्वभाव से ही उच्छृङ्खल और ऊधमी होते हैं, उन्हें तनिक भी स्वतन्त्रता दे देने से उनके बिगड़ जाने का डर रहता है। बिना मारे पीटे उनमें विद्या का प्रवेश नहीं हो सकता। भारतवर्ष में तो कहीं कहीं अब भी यह कहावत प्रचलित है "छड़ी लागे छमछम्, विद्या आवे घमघम्।" उस समय विद्या का पढ़ना बच्चों के लिए सबसे बड़ा जंजाल और भार हो रहा था। स्कूल का नाम सुनते ही कई बच्चों को तो बुखार आ जाता था। वे मारे जाते थे, पीटे जाते थे, सख्त से सख्त उन्हें सजा दी जाती थी, मगर फिर भी उनमें विद्या का प्रवेश नहीं हो पाता था। अधिकांश बच्चे इसी वजह से मूर्ख रह जाते थे। मगर मानस-शास्त्र के उदय ने शिक्षा के इस राक्षसी विधान को पलट दिया। शिक्षा की इस दुर्दशा को देखकर कई मानस-शास्त्रियों ने बालकों की मनोरचना का अध्ययन करना प्रारम्भ किया, जब उन्होंने बालकों की कोमल और स्वीकारात्मक (Positive) मनोरचना के साथ इस निष्ठुर और निषेधात्मक शिक्षा-विधान की तुलना की तो वे कांप उठे। उन्होंने तथा और प्रसिद्ध प्रसिद्ध शिक्षा-पद्धति के आचार्य्यों ने नवीन, कोमल और स्वीकारात्मक शिक्षा पद्धति की बाल-मनोरचना के बिलकुल अनुकूल योजना की। इसका मधुर परिणाम यह हुआ कि अब यूरोप में बच्चे न मारे जाते हैं, न पीटे जाते हैं, न उनको पाठ रटाए जाते हैं। बिलकुल बन्धन न होने पर भी स्कूल में वे बराबर जाते रहते हैं। और क्यों न जावें ? शिक्षा से उनका जितना मनोरञ्जन होता है

उतना उनके खेल-कूद में भी नहीं होता। इतना ही नहीं उन स्कूलों से निकले हुए बच्चे प्राचीन पद्धति से निकलने वाले बच्चों की तरह कमजोर, निर्माल्य और चेतनाशक्ति विहीन नहीं होते। प्रत्युत परले सिरे के उत्साही, स्वाधीन आनन्दमय प्रकृति युक्त, बलवान्, और कट्टर देशभक्त रहते हैं। मानसशास्त्र के द्वारा घटित होने वाला वह उपकार समाज-शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।

(२) मानस शास्त्र से दूसरा महत्त्वपूर्ण उपकार यह हुआ कि इससे भिन्न भिन्न प्रकार के शास्त्रों और विषयों के ताले एक-दम खुल गये। मानव-जाति के लिए जितने भी शास्त्रों की रचना होती है उनमें जब तक मनुष्य के मानसिक जगत् का अध्ययन और विश्लेषण नहीं रहता तब तक वे बिलकुल अपूर्ण रहते हैं। उदाहरणार्थ समाज शास्त्र को ही लीजिए। समाज शास्त्र को आरम्भ करते ही पहला प्रश्न यही उपस्थित होगा कि समाज क्या वस्तु है, मनुष्य की कौनसी प्रवृत्ति से इसकी उत्पत्ति हुई। उसके पश्चात् नीति को निश्चित करते समय भी यदि मनुष्य की मनोरचना का खयाल न रक्खा जायगा तो वह नीति कभी सफल नहीं हो सकती। जब यह बात मालूम हो जायगी कि प्रत्येक मनुष्य के अन्तर्गत एक प्रकार की सामाजिक प्रवृत्ति निवास करती है, जिसकी वजह से वह अकेला नहीं रह सकता, उसे दूसरे मनुष्यों के साथ में रहना पड़ता है, तब समाज की उत्पत्ति का रहस्य तुरन्त ही समझ में आ जाता है। इसी प्रकार जब उसकी नीति को निश्चित करते समय मनुष्य प्रकृति की व्यापक प्रवृत्तियों का पूर्ण अध्ययन साथ में रहेगा तभी वह नीति सफल

हो सकती है। अभी तक की समाज-नीति, धर्म-नीति और राज-नीति ने कई स्थानों पर मनुष्य की मनोरचना की चिन्ता नहीं की, और यही कारण है कि शान्ति रक्षा के लिए इन नीतियोंका आविष्कार होने पर भी दुनिया अभी तक अशान्ति के कोलाहल से परिपूर्ण है। मतलब यह कि मानस-शास्त्र वह कुञ्जी है जिससे सभी शास्त्रों और सभी नीतियों के ध्येय का निश्चय हो जाता है। यदि यह शास्त्र अपनी पूर्णावस्था पर पहुँच जाय तो दुनिया में उठनेवाली कलहाग्नि एकदम शान्त हो जाय।

पर खेद इतना ही है कि मानस-शास्त्र अभी अपूर्ण है बहुत ही अपूर्ण है। मनुष्य का मन जितना विशाल और अनन्त है उसके मुकाबिले में बेचारे मानसशास्त्र की स्थिति इस समय रुपये में राई के बराबर भी नहीं है। आज कल यद्यपि इस शास्त्र की सहायता से मनो-व्यापारों की चिकित्सा की जाने लगी है, यद्यपि यह जाना जा चुका है कि अन्तः स्फूर्ति किसे कहते हैं, सारासार विचार क्या वस्तु है? कल्पना शक्ति क्या है, तथापि अभी इस शास्त्र की पहुँच बहुत मर्यादित है। अभी यह शास्त्र इस बात को बतलाने में असमर्थ है कि किस परिस्थिति में किस अवसर पर मनुष्य का या मनुष्य-समुदाय का मन किस दशा में गमन करेगा अथवा किस विचार-पद्धति को उपयुक्त और किसको अनुपयुक्त मानेगा? और इसी कारण इस शास्त्र के द्वारा बिना अन्य शास्त्रों की सहायता के समाज-नीति, राज-नीति, और धर्म के प्रमुख अङ्गों पर विशेष प्रकाश पड़ने की सम्भावना नहीं की जा सकती।

फिर भी इसका अभी तक जितना स्वरूप निश्चित हुआ है,

उससे मानव-समाज का अत्यन्त लाभ हुआ है, और जिस तेजी के साथ यह शास्त्र प्रगति कर रहा है उससे उम्मीद होती है कि यह अपने अपूर्ण अङ्गों को भी धीरे धीरे पूर्ण करके मानव जाति के उन्नति-पथ में सहायक होगा।

———

पांचवां अध्याय

धर्म शास्त्र

प्रत्येक धर्मशास्त्र में दो विभाग होते हैं पहला तत्व- और दूसरा पुराण। इन दोनों में से पहले विभाग की गिनती विज्ञान के अङ्ग में होती है और दूसरे की काव्य के अङ्ग में। धर्मशास्त्र की उपयोगिता और उस के द्वारा होने वाले हानि-लाभ का वर्णन करने के लिए इन दोनों के अलग अलग विवरण की आवश्यकता होती है। अतः यहां संक्षेप में इन दोनों का अलग अलग विवेचन किया जाता है।

तत्वज्ञान

जो शास्त्र सृष्टि की उत्पत्ति उसके मूल तत्व उसके आदि कारण का तथा आत्मा, ईश्वर और पुनर्जन्म आदि विषयों का तात्विक विवेचन करता है, उसे तत्वज्ञान कहते हैं।

सृष्टि के आरम्भ से अब तक दुनिया के भिन्न भिन्न देशों में इन विषयों की मूल खोज के निमित्त बहुत ऊहापोह और विचार होता आ रहा है, मनुष्य के लिए सब से अधिक विचारणीय और चिन्तनीय विषय यही है कि वह स्वयं क्या वस्तु है, उसके आस पास रहने वाली यह सृष्टि क्या चीज है? उसका अस्तित्व केवल इस जीवन के सौ वर्षों में ही समाप्त हो जाने वाला है या उसका आगे भी कोई अस्तित्व है? उसके शरीर की, मन की और सृष्टि के आश्चर्यजनक विषयों की रचना किसी

खास शक्ति ने की है या यह अपने आप ही उत्पन्न हो गई है। इन बातों को जानने की ओर मनुष्य की स्वाभाविक ही प्रवृत्ति होती है, और इसी प्रवृत्ति से दर्शन-शास्त्र की उत्पत्ति होती है।

सृष्टि के अन्तर्गत पाये जाने वाले सभी दर्शन शास्त्रों ने इस विषय में मनुष्य जाति को सन्तोष प्रदान करने का प्रयत्न किया है। सांख्य ने कहा कि प्रकृति और पुरुष ये दोनों ही मूल तत्व हैं। प्रकृति पर पुरुष के संस्कार पड़ने से उसमें एक प्रकार का कम्पन उत्पन्न होता है, उसीसे सृष्टि की उत्पत्ति होती है। पुरुष एक है और प्रकृति चौबीस प्रकार की है। इस प्रकार पच्चीस तत्वों से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। ईश्वर नामधारी कोई वस्तु सिद्ध नहीं होगी। पुनर्जन्म का अस्तित्व है, आत्मा अमर है। वैशेषिक दर्शन कहता है कि सृष्टि के मूल तत्त्व परमाणु हैं। सृष्टि के पूर्व ये अव्यवस्था में रहते हैं। किसी अदृष्ट कारण विशेष से इनमें एक प्रकार की कम्पन या गति होती है, जिससे एक परमाणु दूसरे परमाणु की ओर आकर्षित होता है, ये परमाणु आपस में मिलने लगते हैं। दो परमाणुओं के मिलने से एक द्वयणुक और और तीन परमाणुओं के मिलने से एक त्रसरेणु बनता है। इस प्रकार होते होते पृथिवी के परमाणु पृथ्वी रूप में, जल के जल और वायु के वायु रूप में आ जाते हैं और फिर इन तत्त्वों के मिलने से सृष्टि की रचना होती है। यूरोपीय साहित्य में इस मत के पुरस्कर्ता प्राचीन काल में "डिमाक्रिट्स" और आधुनिक काल में "डेल्टन" हुए हैं। वेदान्त कहता है कि जिससे जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होता है उसी को ब्रह्म कहते हैं। इस ब्रह्म के सिवाय दूसरी सब चीजें भ्रम रूप हैं। इसके मत से यह संसार ही भ्रम

मूलक है। जैन दर्शन की गति दूसरी ही ओर दौड़ती है। वह कहता है जो लोग सृष्टि की उत्पत्ति और उसके नाश की कल्पना करते हैं वे गलत राह पर है। न तो सृष्टि की उत्पत्ति होती और न उसका नाश होता है। यह तो अनादि और अनन्त है। यह दर्शन ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानता। यह सृष्टि के मूल तत्त्वों में छह द्रव्यों को प्रधान मानता है। (१) जीव (२) पुद्गल (३) धर्म (४) अधर्म (५) काल और (६) आकाश। यह आत्मा को अमर और पुनर्जन्म के अस्तित्व को मानता है। इसी प्रकार यूरोप में भी दार्शनिकों के भिन्न भिन्न मत हैं। कैण्ट का कथन है कि "मनुष्य इस बात के लिए विवश है कि वह प्रकृति जीव और परमात्मा में विश्वास करे। परन्तु ये पदार्थ बुद्धि के विषय नहीं इस लिए बुद्धि के द्वारा इन्हें जानने की चेष्टा करना व्यर्थ है। स्पेन्सर भी अज्ञेयवादी है। उसका कथन है कि ईश्वर और आत्मा है या नहीं यह बात मनुष्य के ज्ञान से अतीत है। हक्सले नास्तिकवाद का समर्थक है इसके मतानुसार आत्मा, ईश्वर, पुनर्जन्म वगैरह कुछ भी नहीं है। प्राण जगत् "कललरस" (प्राटोप्लोजम) से बनता है। यह एक चिपचिपा और दानेदार पदार्थ है। यह पदार्थ कार्बन, हाईड्रोजन आक्सिजन और नाइट्रोजन इन चार प्रकार के वायु के संयोग से बनता है। ब्यूटे और सर ओलिव्हर लाज भी पहले अनात्मवादी थे पर आगे जाकर उन्होंने आत्मवाद को स्वीकार कर लिया।

इस सारे विवेचन से पता चलता है कि हजारों वर्षों से इस पर लगातार छानबीन होती चली आ रही है। पर ध्यान पूर्वक देखने से पता चलेगा कि इस विषय में संसार की विचार-पद्धति

अभी वहीं पर है जहां पर पहले थी। शायद एक कदम भी आगे नहीं बढ़ी है। इन विषयों में से एक का भी मनुष्य-जाति को अभी तक सन्तोष जनक उत्तर नहीं मिला है। कोई कुछ कहता है कोई कुछ। पर अपने कथन के प्रमाण में कोई भी प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं देता। सभी अपने आपको सच्चा और सर्वज्ञ बतला कर मनुष्य जाति को अन्धे की तरह अपने पीछे पीछे चले आने का उपदेश देते हैं। पर कोई भी उसे मंजिले मकसूद पर पहुँचाने में समर्थ नहीं होते।

इस विषय के महत्त्व में तो किसी को सन्देह नहीं हो सकता। इसका ज्ञान होना भी मनुष्य-जाति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। पर यह साहित्य अपनी पूर्णावस्था में मनुष्य जाति का जितना उपकार कर सकता है, उतना ही अपनी अपूर्णावस्था में अपकार भी कर सकता है। क्यों कि जहां केवल कल्पना ही कल्पना होती है, प्रत्यक्ष प्रमाण कुछ भी नहीं होता, वहां उस विषय का झंझट कभी दूर नहीं हो सकता। इसका मतभेद बढ़ते बढ़ते धीरे धीरे दलबन्दियां उत्पन्न हो जाती हैं और ये पार्टियां आपस में लड़ती रहती हैं। अतएव जब तक इस विषय का कोई सन्तोष-जनक प्रत्यक्ष प्रमाणयुक्त निर्णय न हो जाय। तब तक ऐसे साहित्य को उच्च श्रेणी के विचारकों और वानप्रस्थों के लिए मर्यादित रखना ही ठीक है। इस झंझट पूर्ण वादविवाद में साधारण जन समाज को डालना हानि कर है।

पुराण

तत्त्वज्ञान अथवा दर्शन शास्त्रों की विवेचन शैली प्रायः रूक्ष और अरोचक होती है। साधारण जन समाज की रुचि उसमें

बहुत कम जाती है। इस कमजोरी को मिटाने के लिए प्रत्येक धर्म के आचार्यों ने धर्म शास्त्रों के साहित्य में पुराणों की योजना की। इन पुराणों के द्वारा सुन्दर कथाओं के रूप में तत्त्वज्ञान के कठिन तत्त्व साधारण जन-समाज को बतलाये गये हैं। इनसे यह लाभ होता है कि साधारण जन-समाज को कथा पढ़ते पढ़ते अनायास ही गूढ़ तत्त्वों का बोध होजाता है। यह शैली बड़ी उत्तम है, आज कल की नवीन पद्धति ने भी इसी शैली को स्वीकार किया है।

पर इन पुराणों को (सभी धर्मों के) देखने से पता चलता है कि इनमें वास्तविक तत्त्व तो इतने गुप्त हो गये हैं कि बहुत खोजने के पश्चात् उनका पता चलता है। बाकी अधिकांश कथाएं अत्यन्त अतिशयोक्ति और आडम्बर पूर्ण होती हैं। इन पुराणों में तरह-तरह के चमत्कार और आश्चर्य्य-जनक घटनाओं का वर्णन करके मनुष्य-जाति को अपने-अपने धर्म की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक धर्म के पुराणों ने अपने-अपने धर्म के माननेवालों को इतना महत्त्व प्रदान किया है कि उसे बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती। साथही दूसरे धर्म के मानने वाले तथा अपने धर्म में शंका करनेवाले विरोधियों को हद दर्जे के कष्ट पूर्ण नरक मिलने की कल्पना की है। इन पुराणों में कई बातें तो ऐसी हैं, जिनके कोई सिर पैर ही नहीं। अप्रत्यक्ष और अज्ञेय बातों पर स्थान-स्थान पर भारी जोर देदेकर पुराणों ने मानव-बुद्धि को कुण्ठित सा कर दिया है। और शुरु से इसके संस्कार इतने प्रबल हो जाते हैं कि जिससे मनुष्य में स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति ही नहीं रह पाती। इस दोष को देखते

हुए यह कहना कठिन है कि पुराणों से मानव-जाति का लाभ अधिक हुआ या हानि।

इसका कारण यह है कि तत्त्वज्ञान को पढ़नेवाली जनता तो बहुत कम होती है और जो होती है वह कुछ विचार का माद्दा रखती है। पर साधारण जनता तो पुराणों को पढ़ कर ही अपनी धर्म जिज्ञासा को शान्त करने को चेष्टा करती है। पर उनमें उपर्युक्त दोष होने के कारण उन्हें पढ़ कर वह हठी और दुराग्रही हो जाता है। अभी तक संसार में जितना धार्मिक मतभेद हुआ है, जितने धार्मिक अनाचार, व्यभिचार और अत्याचार हुए हैं, जितने धार्मिक रक्तपात हुए हैं, उनमें से अधिकांश के जिम्मेदार ये पुराण ही हैं।

निस्सन्देह इस तरह के साहित्य से जन-साधारण को तत्व-ज्ञान समझाने में सुविधा तो होती है परन्तु ये कहानियां बतौर उदाहरण के, बतौर दृष्टान्त के पेश की जायं। इसके विपरीत जब वे स्वयं ही धर्म की सर्वेसर्वा बन जाती हैं तब वे हानिकर सिद्ध होती हैं।

छठा अध्याय ।

काव्य

प्लेटो ने कहा है कि कल्पना जगत् में रमण करने वाला कवि राष्ट्रीयता का घातक होता है। उन्होंने अपने काल्पनिक राष्ट्र से कवियों का बहिष्कार कर दिया था। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान मेकाले का कथन है कि ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता जायगा त्यों-त्यों कवित्व शक्ति का ह्रास होता जायगा।

पर सच बात तो यह है कि जिस सभ्यता की नींव कवित्व शक्ति की कब्र पर खड़ी की जायगी वह सभ्यता बहुत ही नकली, बहुत ही रुक्ष और समाज के लिए बहुत ही घातक होगी। इसी प्रकार जो राज्य कवियों से विहीन होगा वह राज्य बहुत ही अपूर्ण और बहुत ही कमजोर होगा।

इससे भी अधिक सत्य बात यह है कि लोग कवित्व शक्ति से चिढ़ कर उसके विरोध में चाहे जितनी ही बातें क्यों न कहें, पर मानव-जीवन से कवित्व-शक्ति का नाश नहीं हो सकता। जब तक प्रकृति के विशाल हरे भरे मैदानों, निर्मल जल के सुन्दर सरोवर में उछल कूद करनेवाली मछलियों, श्रावण के मास में समेघ आकाश से पड़ती हुई नन्हीं-नन्हीं शीतल बूंदों को देखकर मनुष्य हृदय उछलता रहेगा, जब तक नन्हें-नन्हें आनन्दमय खेलते हुए बच्चों को देख कर मनुष्य के हृदय में प्रेम भावना का उदय होता रहेगा,

जब तक माता और पुत्र, पति और पत्नी, भाई और भाई के बीच का आकर्षण जीवित रहेगा, जब तक भूखे, प्यासे, लूले, लँगड़े, अपाहिज मनुष्य को देख कर मनुष्य के हृदय में करुणा का संचार होता रहेगा तब तक कवित्व का नाश नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य के हृदय में प्रेम का निर्मल झरना बह रहा है, जब तक उसके हृदय में करुणा, सहानुभूति और स्नेह की भावनाएं जीवित हैं तब तक उसकी कवित्व शक्ति भी अमर है।

Poetry is at bottom a criticism of life. The greatness of a poet lies in his powerful aad beautiful application of ideas to life....................Poetry is nothing less then the most perfect speech of man in which he comes nearest to being able to utter the truth.

अर्थात्—कविता वास्तव में मानव-जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण है। कवि की महत्ता इसीमें है कि वह विचारों को सुन्दरता पूर्वक अधिक से अधिक जीवन के उपयुक्त कर दे·········काव्य सत्य को प्रकट करनेवाली सर्वश्रेष्ठ वाणी नहीं तो और क्या है ?

वास्तव में कविता मनुष्य-हृदय का स्पन्दन है। सौन्दर्य्य (फिर चाहे वह बाह्य सौन्दर्य्य हो चाहे अन्तःसौन्दर्य्य) को देख कर मनुष्य के हृदय में जो अभिव्यक्ति होती है, जो कोमल भावना और मधुर कल्पना का उदय होता है वही जब प्रकट होती है तब कविता कहलाती है।

काव्य सौन्दर्य्य का देवता और भक्त भी है। और सौन्दर्य्य तो जड़-चेतन सभी वस्तुओं में व्याप्त है। अतः यह सारा संसार

काव्य-मय है। खिले हुए पुष्प, लहलहाते हुए हरे-भरे खेत; उदय और अस्त होते हुए सूर्य्य और-चन्द्रमा, मतलब यह कि यह सारी सृष्टि सौन्दर्य्य का भण्डार है। कविजन इसकी अनुभूति करते हैं, तन्मय हो जाते हैं, नाचते हैं, पागल की तरह बड़-बड़ाने लगते हैं और यही काव्य है। पर इस सौन्दर्य से भी बढ़ कर एक और सौन्दर्य्य है। वह है अन्तर्जगत— जगत् का यह बाहरी सौन्दर्य इस भीतरी सौन्दर्य की तुलना में स्थिर, निष्प्राण और अपरिवर्तनशील है। आकाश, समुद्र, नदी, इत्यादि का आकार जैसा पहले था वैसा ही अब भी है और आगे भी वैसा ही रहेगा। इनका वर्णन करना उतना कठिन नहीं। पर मनुष्य के हृदय में घृणा भक्ति का रूप धारण कर लेती है, अनुकंपा से प्रेम की उत्पत्ति हो जाती है। और प्रतिहिंसा से कृतज्ञता का जन्म हो सकता है। इस अद्भुत परिवर्तन में ही हार्दिक सौन्दर्य्य की सच्ची अभिव्यक्ति होती है। केवल महा-कवि ही इन अदृश्य स्रोतों की धाराओं में खुद अवगाहन कर सकते हैं और अपने पाठकों को भी करा सकते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो यह भावानुभूति ही काव्य का प्राण है। वाल्मीकि और व्यास, होमर और वर्जिल, शेक्सपियर और कालिदास का महत्त्व इसी कारण अधिक माना जाता है कि उन्होंने अपने काव्यों में मानव-हृदय के अन्तर्जगत् के कपाट खोल दिये हैं। सौन्दर्य्य की खोज में उन्होंने देवी देवताओं को नहीं ढूँढ़ा है। प्रत्युत मनुष्य-हृदय में ही उत्कृष्ट दैवत्व के दर्शन करा दिये हैं।

जिन रामचन्द्र का चरित्र महर्षि वाल्मीकि ने अंकित किया

है उन्हीं रामचन्द्र का चरित्र महात्मा तुलसीदासजी ने भी अंकित किया है। दोनों रामचन्द्र एक ही हैं। पर वास्तव में देखा जाय ता कवि की लेखनी के फेर में पड़ कर दोनों बिलकुल अलग-अलग हो गये हैं। वाल्मीकि के रामचन्द्र एक आदर्श मनुष्य हैं। वे पुत्र हैं, भ्राता हैं, पति हैं। उन्होंने मनुष्यों के सुःख दुःख आशा और निराशा का अनुभव किया है, उन्होंने जीवन में मानवोचित भूलें भी की हैं। सीता परित्याग उन्हीं भूलों में से एक जबर्दस्त भूल थी, इस भूल के लिए कवि ने उन्हें फटकारा भी है। इन मनुष्य रामचन्द्र के इन आश्चर्य्यजनक व्यापारों को देख कर हम कभी विस्मय मुग्ध होकर गद्गद हो जाते हैं; कभी तरल करुण रस की धार में बह कर आंखों से आंसू बहाते हैं, कभी उनकी बहादुरी की कहानियां सुन कर हमारी भुजाएं फड़कने लगती है। मतलब यह कि उनका चरित्र शुरु से अन्त तक हमारे अध्ययन का विषय रहता है, उससे हमें शिक्षा मिलती है, कर्तव्य-निष्ठा की भावनाएं मिलती हैं। यही रामचन्द्र महात्मा तुलसी-दासजी के हाथ में पड़ कर ईश्वर रूप हो जाते हैं। काम सब वही करते हैं—घटनाएं सब वही होती हैं। मगर जब यह हम सुन लेते हैं कि यह काम ईश्वर के द्वारा हो रहा है, वहीं हमारा हर्ष विषाद और आश्चर्य्य नष्ट हो जाता है। क्योंकि वे हमसे, मनुष्य जाति से, संसार से, दूर—बहुत दूर जा पड़ते हैं। हमें भान हो जाता है कि ये सब घटनाएं वास्तविक नहीं हैं, यह सब ईश्वर की लीला है, जो मानव-जाति को बतलाने के लिए हो रही है। ये तो ईश्वर हैं इन्हें सुख, दुःख कहां ? बस इतना भान होते ही काव्य का सब सौन्दर्य्य नष्ट हो जाता है।

मतलब यह कि मनुष्य-जाति के लिए वही काव्य सर्वश्रेष्ठ, स्वाभाविक और शिक्षा-प्रद हो सकता है, जिसमें मनुष्य जीवन के विकास-क्रम का स्वाभाविक विवेचन हो। जिसकी गति किसी कृत्रिम नहर की तरह नहीं प्रत्युत पहाड़ी झरने की तरह टेढ़ी-मेढ़ी लेकिन स्वाभाविक हो।

यह बात बतलाने की आवश्यकता नहीं कि समाज के पोषण के लिए कोमल भावनाओं की कितनी अनिवार्य्य आवश्यकता होती है; जिस प्रकार केवल सूर्य्य की धूप से कृषि का पोषण नहीं हो सकता, उसके पोषण के लिए शीतल जल की वर्षा भी आवश्यक होती है। उसी प्रकार समाज की जीवन रक्षा भी केवल बुद्धि के तेजोमय प्रकाश से नहीं हो सकती उसके लिए विश्वास की तथा दूसरी कोमल मनो-भावनाओं के शीतल जल की आवश्यकता होती है। मनुष्य-स्वभाव केवल विज्ञान की रुक्ष समस्याओं से तृप्त नहीं हो सकता। इनसे केवल उसके मस्तिष्क की भूख दूर हो सकती है। लेकिन उसके हृदय की तृप्ति के लिए काव्य की सुन्दर और ललित धाराओं की आवश्यकता होती है। जब तक साहित्य में मानव-हृदय को तृप्त करनेवाले काव्य का अस्तित्व नहीं रहेगा तब तक वह अपूर्ण ही रहेगा।

जिन-जिन तत्त्वों से समाज का पोषण होता है उन उन तत्त्वों में प्रेम, वात्सल्य, त्याग, विश्वास और निष्काम कर्म प्रधान हैं। ये तत्त्व विज्ञान के तर्क पूर्ण साहित्य में से उत्पन्न नहीं हो सकते। और यह सत्य है कि मस्तिष्क एवं बुद्धि की सृष्टि से इनका विशेष महत्त्व भी नहीं। परन्तु बुद्धि अथवा मस्तिष्क ही तो मनुष्य का सर्वस्व नहीं है। उसका सर्वस्व तो हृदय है। और प्रेम, वात्सल्य, त्याग,

विश्वास, श्रद्धा आदि उसी की उपज है। अतः इन सुन्दर तत्त्वों का कितना महत्त्व है यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। इन्हीं भावों के वश होकर मनुष्य मनुष्य के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए तैयार हो जाता है। इन्हीं भावों के वश होकर एक देश-भक्त अपने देश के लिए, एक भक्त अपने देवता के लिए हंसते-हंसते बलिदान हो जाता है। इन्हीं भावों के वश होकर माता निःस्वार्थ भाव से लाखों कष्ट सहन करके भी अपने बच्चे का पोषण करती है। इन्हीं भावों की प्रेरणा से भूखों को देखकर हमारे हृदय में करुणा का संचार हो आता है, अनाथ दुःखी और त्रस्तों को देख कर हमारी आंखों से आंसू टपक पड़ते हैं। सच पूछा जाय तो समाज-रचना की भित्ति ही इन तत्त्वों पर स्थित है। जिस दिन समाज की नींव में से ये तत्त्व निकल जावेंगे उसी दिन समाज-रचना पोली हो जायगी। काव्य, मनुष्य के हृदय से उत्पन्न होने वाले इन्हीं भावों की रक्षा–विकास करता है। वह अपनी ललित, सुकोमल और मधुर भाषा में जब इनका धारा–प्रवाही वर्णन करता है, तब सुननेवाले रो पड़ते हैं। जब वाल्मीकि के आदि काव्य में चित्रित महा सती सीता, होमर के द्वारा वर्णित हेलेन, दांते वर्णित अप्रतिम शील गुणवती बीट्रिस और कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल की बाला शकुन्तला के चरित्रों का पाठ हो रहा हो उस समय कौन सहृदय ऐसा होगा जो अपने आंखों के आंसुओं को और भावों के वेग को रोक सके।

केवल कोमल भावनाओं का ही काव्य के द्वारा पोषण होता हो सो बात नहीं है। मनुष्य हृदय में उठनेवाली किसी भी भावना का जितना आवेश पूर्ण वर्णन काव्य की भाषा में हो सकता है

उतना साधारण भाषा के द्वारा कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार काव्य की भाषा मनुष्य हृदय पर जितनी तेजी से प्रभाव डालती है, उतनी साधारण भाषा कदापि नहीं डाल सकती। जिन लोगों ने राजपूताने का इतिहास पढ़ा है वे भली प्रकार जानते हैं कि जिस मेवाड़ की वीरता की कीर्ति आज दिग्दिगन्त में फैल रही है उसकी स्वाधीनता की रक्षा में तथा उसके इतिहास निर्माण में वहां के चारणों का कितना हाथ था। प्रत्येक युद्ध के साथ वहां पर चारण लोग रहते थे। जहां भी कहीं किसी को वे हतोत्साह होता हुआ देखते कि तुरन्त भावों को उत्तेजना देनेवाली वीर-रस पूर्ण कविताओं के द्वारा वे उसकी वीरता को पुनर्जीवित कर देते थे। कहते हैं कि इन लोगों की कविताओं को सुन कायरों की भी भुजाएं फड़कने लग जाती थीं।

इसी प्रकार समाज की सदाचार-वृत्ति को भी काव्य के द्वारा बड़ा पोषण मिलता है। जिस दुराचारी को बड़े-बड़े उपदेशक और तत्त्ववेत्ता भी राह पर नहीं ला सकते उसको कभी-कभी कवि का एक मिसरा ही राह पर ले आता है। कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास अपने पूर्व जीवन में बड़े विषयी थे। एक बार जब कि उनकी स्त्री अपने नैहर में थी वे विषय वासना से प्रेरित होकर वहां आये। और रस्सी के सहारे उसके कमरे में चढ़ कर उन्होंने उसको जगाया। उनकी स्त्री यह देख कर बड़ी क्रुद्ध हुई। वह पढ़ी लिखी थी ही उसने तुरन्त एक दोहा बना कर तुलसीदास जी को कहा—

जैसी नियत हराम में, तैसी हरि में होय।
चला जाय बैकुण्ठ को, राह न रोके कोय॥

कहते हैं कि इस दोहे को सुनते ही तुलसीदास जी में ज्ञान का उदय हो गया, और उन्होंने हमेशा के लिए ऐसे कार्य्य को छोड़ दिया। इसी प्रकार महा-कवि बिहारी जिस राजा के दरबार में रहते थे उसने एक नवीन शादी की और दिन रात वह उस रानी को लेकर रंग-महल में पड़ा रहने लगा। यहां तक कि उसने राजकार्य्य और मन्त्रियों से मिलना जुलना भी छ ड़ दिया। यह देख कर सब लोग बड़े चिन्तित हुए, और विपत्ति से छुटकारा पाने का उपाय सोचने लगे, पर किसी के किये कुछ न हुआ। एक दिन बिहारी ने कागज़ के छोटे से टुकड़े पर निम्नांकित दोहा लिख कर उसे एक दासी के द्वारा राजा के पास भेज दिया—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहीं विकास यहि काल।
अली कली ही में बिंध्यो, आगे कौन हवाल॥

राजा इस दोहे को पढ़ते ही विचार मग्न हो गये और कुछ समय के पश्चात् तुरन्त ही महल के बाहर निकल कर पूर्ववत् अपना राज-कार्य्य करने लगे।

इसी प्रकार और भी कई उदाहरण मिल सकते हैं जिसमें कवियों ने कई कायरों को वीर, कई भूले हुए दुराचारियों को सदाचारी और कई मरु-भूमि के सदृश रुक्ष मनुष्यों को रसिक बना दिये हैं।

वास्तव में देखा जाय तो जीवन का प्रवाह जितना काव्य में बहता है उतना साहित्य के किसी दूसरे अंग में प्रवाहित नहीं होता। उत्तम काव्य, मानव-समाज के भूषण हैं, साहित्य के दैदीप्य-मान् रत्न हैं। जिस दिन साहित्य से इनका अस्तित्व मिट जायगा, उस दिन साहित्य और समाज की गति डांवाडोल हो जायगी।

पर जिस प्रकार उत्तम काव्य समाज के लिए भूषण हैं उसी प्रकार अधम श्रेणी के काव्य उसके लिए महान दूषण भी हैं। जितना लाभ इन उत्तम श्रेणी के काव्यों द्वारा मिलता है, उतना ही नुकसान इन अधम श्रेणी के काव्यों द्वारा समाज का हो जाता है। हम ऊपर लिख आए हैं कि कोई भी भाव जितने आवेश के साथ कविता की भाषा में प्रकट हो सकता है उतना साधारण भाषा के द्वारा नहीं हो सकता। यदि यह भाव उत्कृष्ट हुआ तो समाज को ऊंची राह पर ले जायगा और निकृष्ट हुआ तो उसे पतन के गड्ढे में ढकेल देगा। कविता तो केवल भावों का वाहन करने वाली शक्ति भर है। भावों का उत्पत्ति-स्थान तो हृदय है। आप उसे अच्छे भाव दीजिए वह उनको प्रकाशित करेगी, बुरे भाव दीजिए, वह उन्हें भी प्रकाशित कर देगी।

जिस प्रकार कविता के द्वारा हजारों दुराचारी सदाचार की राह पर आ गये हैं उसी प्रकार हजारों सदाचारी दुराचार की राह पर भी प्रवृत्त हो गये हैं। मध्यकाल में हिन्दी कवियों ने इसी प्रकार के भावों को उत्तेजना दी थी। ऐसा मालूम होता है कि ये लोग कामदेव के दूत होकर ही पृथ्वी पर उतरे थे। इनकी कविता को शुरु से अन्त तक आप देख जाइए वही नायिका भेद वही नख-शिख-वर्णन, वही वासनोत्तेजक भावों का प्रवाह। न मालूम कितने होनहार नवयुवकों को इन्होंने दुराचार और अस्वाभाविक कृत्यों में पतित किया होगा। एक ओर जब महाराष्ट्र में एकनाथ, नामदेव, ज्ञानदेव, आदि उच्च भक्ति का उपदेश दे रहे थे; जब महाराष्ट्र में स्वराज्य की स्थापना हो रही थी, तुकाराम अपनी अमर वाणी से महाराष्ट्र में भक्ति रस भर रहे थे, रामदास महा-

राष्ट्र को सुवर्ण सूत्र में बांध रहे थे और चैतन्य वंगाल में चैतन्य फैला रहे थे तब दूसरी ओर हिन्दी के और कवि इन बीभत्स रचनाओं द्वारा तत्कालीन युवकों को पतित कर रहे थे।

प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी साहित्य में इस समय राष्ट्रीयता का विकास होता जा रहा है। पर इस समय भी कितने ही कवि ऐसे हैं जिन्हें सावधान होजाने की जरूरत है।

सातवाँ अध्याय

नाटक और उपन्यास

नाटक और उपन्यास भी काव्य के ही अंग हैं। लेकिन मानव-साहित्य में इनका स्थान विशेष रूप से माना जाता है अतः इनके स्वतन्त्र विवेचन की आवश्यकता है।

पहले हम इस बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि महा-काव्य, नाटक और उपन्यास इन तीनों में क्या भेद है। तत्त्व की दृष्टि से देखा जाय तब तो इनमें कोई महत्त्व का भेद नहीं है। क्योंकि इन तीनों ही का आविर्भाव मनुष्य-चरित्र को स्पष्ट करने के लिए ही होता है। पर स्वरूप की दृष्टि से इन तीनों में भेद है। उसी को स्पष्ट करने की यहां आवश्यकता है। इस विषय को स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय ने भली प्रकार स्पष्ट किया है उन्हीं के विचारों का सार हम नीचे लिखने की चेष्टा करते हैं।

"महा-काव्य में एक या उससे अधिक चरित्रों का चित्रण किया जाता है। पर उसमें चरित्र-चित्रण प्रसंग-मात्र है। कवि केवल उस प्रसंग को लेकर उसमें अपने कवित्व की प्रतिभा दिखलाता है। महा-काव्यों में कवि का प्रधान लक्ष्य वर्णन (प्रकृति वर्णन, घटनाओं का वर्णन, मनुष्य-प्रवृत्तियों का वर्णन) ही रहता है। चरित्र-चित्रण केवल उप-लक्ष्य मात्र रहते हैं। जैसे रघुवंश है। इसमें यद्यपि कवि ने प्रसंगवश चरित्रों की अवतारणा की है परन्तु उनका प्रधान उद्देश्य कुछ वर्णन करना है। जैसे

अज के विलाप में इन्दुमती की मृत्यु उपलक्ष्य मात्र है। क्योंकि यह विलाप जैसे अज के सम्बन्ध में है वैसे ही दूसरे किसी प्रेमी के सम्बन्ध में हो सकता है।"

उपन्यास में कई चित्र लेकर एक मनोहर कहानी की रचना करना ही ग्रंथकार का मुख्य उद्देश्य होता है। उपन्यास का मनोहर होना उस कहानी की विचित्रता पर ही प्रधान रूप से निर्भर होता है।

नाटक काव्य और उपन्यास के बीच की चीज़ है। उसमें कवित्व भी चाहिए और कहानी की मनोहरता भी चाहिए। इसके सिवा उसके कुछ बँधे हुए नियम भी हैं।

सब से पहले तो नाटक में कथा भाग का ऐक्य (Unity of Plot) चाहिए। एक, नाटक का वर्णनीय विषय एक ही होता है। शेष विषय उसी विषय को परिस्फुट करने के लिए रक्खे जाते हैं। दूसरे, नाटक में प्रत्येक घटना की सार्थकता चाहिए। नाटक में एक भी दृश्य ऐसा न रहना चाहिए जिसके न रहने पर भी नाटक का परिणाम वैसा ही दिखाया जा सकता हो। तीसरी बात नाटक का कथा भाग घात प्रतिघात के साथ अग्रसर होना चाहिए। नाटक का मुख्य चरित्र कभी सरल रेखा में नहीं जाता। उसकी घटनाएं हमेशा युद्ध के अन्दर से होकर आगे बढ़ती हैं। उपन्यास और महाकाव्य में इन बातों की खास आवश्यकता नहीं रहती।

उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता है कि उपन्यास की गति आकाश में दौड़ते हुए छोटे-छोटे मेघ खण्डों की सी होती है। उन सब की गति एक ओर ही होती है लेकिन एक दूसरे के अधीन नहीं होती। पर नाटक की गति एक नदी की तरह होती

है उसमें चारों ओर से अनेक नदियां आकर मिलती हैं, पर उन सब का अस्तित्व उसी में जाकर समा जाता है। उसमें मिलने के बाद स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता।

वास्तव में देखा जाय तो साहित्य में नाटक का बहुत ऊँचा स्थान है। नाटक किसी जाति के आन्तरिक और बाह्य जीवन का जीवित चित्र है। किसी भी समाज का हृदय और अन्तरात्मा उसके नाटकों में स्पष्ट रूप से प्रति-विम्बित हो जाता है। एक दृष्टि से देखा जाय तो सामाजिक जीवन के लिए इतिहास से भी नाटक का महत्त्व अधिक है। इतिहास किसी भी जाति के मृतक चित्र को हमारे सामने उपस्थित करता है। वह भूतकाल की कब्र पर ले जाकर हमें ज्ञान का उपदेश करता है। वह शव-शल्य-परीक्षण (Post-mortem Examination) की तरह किसी भी समाज के मृतक शरीर की चीरफाड़ करके हमारे सम्मुख उसके तत्त्व उपस्थित करता है। पर इस परीक्षण से समाज की जीवित अवस्था का बोध नहीं हो सकता। इतिहास के द्वारा अतीत घटनाओं का वर्तमान रूप से अर्थात् सजीव रूप से बोध होता है। किसी जाति की अन्तरात्मा को समझने के लिए, उसके हृदय मन्दिर में प्रवेश करने के लिए उसका नाट्य साहित्य एक कुंजी की तरह है। जातीय-जीवन के निर्म्माण में नाटकों की उपयोगिता का पूरा-पूरा वर्णन कठिन है।

जब से पूर्व और पश्चिम के बीच में साहित्यिक लेन-देन प्रारम्भ हुआ है, तब से नाट्य-साहित्य के सम्बन्ध में दो भिन्न-भिन्न विचार पद्धतियों का जन्म हो गया है। और इन भिन्न भिन्न विचार पद्धतियों के अनुसार नाट्य-साहित्य भी दो विभागों में

विभक्त हो गया है। पहला आदर्श वादी (Idealistic) और प्रकृतिवाद (Realistic)

आदर्शवादी नाटकों में नायक को पाप और भण्डता की एक छींट से भी रहित आकाश के समान निर्मल और विश्वास के समान स्वच्छ चित्रित किया जाता है। नायक धीरोदात्त वीर और आदर्श चरित है। वह सदाचार से कभी एक तिल भर भी नहीं हटता। हाँ, उसके चरित्र को और भी मनोहर करने के लिए अन्य हीन चरित्र मात्र उसके विरोध में अवश्य खड़े कर दिये जाते हैं। पर नायक तो शुरू से लेकर अंत तक निःष्कलङ्क एक सा प्रभामय और पवित्र रहता है। नायिका को भी इसी तरह चित्रित किया जाता है। आदर्शवादी कहते हैं केवल आदर्श को ही सामने रक्खो।

दूसरे प्रकृतवादी नाटकों में यह बात नहीं होती। उनके अन्तर्गत मनुष्य प्रकृति का यथार्थ चित्रण किया जाता है। घटनाओं के घात प्रतिघात दिखलाये जाते हैं। और उत्थान एवं पतन के सजीव दृष्य अङ्कित किये जाते हैं। इन नाटकों के अन्दर निखालिस पुण्य या निखालिस पाप के चित्र नहीं दिखलाये जाते पर घटनाओं के घात प्रतिघात में पड़कर मनुष्य की पुण्य मय प्रकृति किस प्रकार पाप के बीभत्स रूप में परिणत हो जाती है और पाप किस प्रकार परिवर्तन के चक्कर में पड़ कर पुण्य हो जाता है इत्यादि घटनाओं के चित्र बतलाये जाते हैं। नायक सत्प्रवृत्त होता है पर वह अपने सद्गुणों पर पर्वत की तरह अटल नहीं रहता। दुर्बलताएं उस पर आक्रमण कर सकती हैं। मतलब यह कि आदर्शवादी नाटकों की गति एक बँधी हुई नहर की तरह होती

है और प्रकृतवादी नाटकों की गति पर्वत के बीच में से बहने वाले टेढ़े मेढ़े झरने की तरह।

भारतीय प्राचीन विचार पद्धति आदर्शवाद के पक्ष में थी। प्रसिद्ध नाट्याचार्य्य भरत मुनि ने इसी पद्धति का अनुमोदन किया है और उस समय के अधिकांश नाटककारों ने इसी पद्धति का अनुसरण कर अपने नाटकों की रचना की है। बहुत से विचारवान् लोग अब भी इस पद्धति के पृष्ठ पोषक हैं। इस पद्धति के पुरस्कर्ताओं का कथन है कि नाटक ऐसे होना चाहिए जो पाप पथ में भटकी हुई मनुष्य जाति को उधर से हटा कर आनन्द के सुन्दर पथ पर आरूढ़ कर दे। इन लोगों का ख्याल है कि मनुष्य जाति पहले ही पाप पंक में डूबी हुई है उसे फिर से पाप मय घटनाएं दिखला कर अधिक पाप पङ्क में ले जाने की आवश्यकता नहीं। पाप का सुन्दर रूप एक क्षण के लिए भी बतलाना मनुष्य जाति के लिए अनिष्टकर है। जब तक पुण्य की अलौकिक घटनाओं का प्रदर्शन मनुष्य जाति के सम्मुख नहीं किया जायगा, तब तक वह पुण्य की ओर आकृष्ट नहीं हो सकती। इसलिए नाटक में आदर्श चरित्र चित्रण की आवश्यकता है। उसका पात्र ऐसा सर्व गुण सम्पन्न होना चाहिए, जिसके आदर्श को ग्रहण कर मनुष्य-जाति पुण्य पथ पर अग्रसर हो सके। दूसरे इस प्रकार के पात्रों का अन्त कभी दुःख मय न होना चाहिए। क्योंकि ऐसे सर्व गुण सम्पन्न नाटक का दुःख मय अन्त देख कर दर्शकों के हृदय पर एक प्रकार का बुरा और अनैतिक प्रभाव पड़ता है। पाप की जय और पुण्य की हार के दृश्यों से लोगों के अधार्मिक होने की सम्भावना है।

प्रकृतवादी विचार पद्धति के पुरस्कर्ता कहते हैं:—"समस्त प्रकृति चञ्चल है इसलिए इसका नाम ज-गत् है। अनित्यता के छाया कम्पन को ही विचित्रता कहते हैं। यह विचित्रता ही सुन्दरता का प्राण है। संसार में जितने सुन्दर पदार्थ हैं, उनमें मनुष्य हृदय ही सबसे अधिक सुन्दर है। विषमता ही इस मानव-हृदय का सारभूत सौन्दर्य्य है। मनुष्य जीवन कभी साम्य रूप से व्यतीत नहीं होता। सुख, और दुःख के धक्के, सम्पत्ति और विपत्ति के संघर्ष तथा घटनाओं के घात प्रति घात में ही मानव-जीवन की सफलता है। जो नाटककार अपनी कृति में मनुष्य हृदय के अन्तर्गत निरन्तर चलने वाले घात प्रति घातों को घटनाओं के संघर्ष से होने वाले परिवर्तनों को तथा मनुष्य के अन्तर्जगत् में होने वाले अमर युद्ध को सफलता पूर्वक चित्रित कर सकता है वही सफल नाट्यकार है। इसके विपरीत जो लोग पुण्य और पाप के युद्ध से रहित, घटनाओं के घात प्रतिघात से निश्चल, आदर्श चरित्र का चित्रण करते हैं, वे अपने नाटक और अपने नायकों को सुन्दर और पवित्र चाहे बना लें पर सजीव नहीं बना सकते। मन्दिर के अन्दर रहनेवाली प्रतिमाएं जिस प्रकार सुन्दर और पवित्र होने पर भी सजीव नहीं हो सकतीं उसी प्रकार ये नाटक भी सजीव नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार के नाटकों में रहने वाले नायकों के चरित्र देख मनुष्य समुदाय चाहे उनके प्रति भक्ति के पुष्प विसर्जन कर दे पर वह अपने अन्तर्जगत् के साथ उन पात्रों के अन्तर्जगत् की एकता स्थापित नहीं कर सकता। ऐसे नाटकों के पात्र अपने जीवन संग्राम में स्वाभाविकता के साथ स्वतन्त्र रूप से अग्रसर नहीं होते प्रत्युत एक निर्जीव मशीन की

तरह उस नाटककार की बतलाई हुई सड़क पर चले जाते हैं। इस प्रकार निर्जीव चरित्रों से जिनमें जीवन नहीं हैं, जिनमें उत्थान और पतन नहीं है, जिनमें घात और प्रति घात नहीं है, जिनके विधाता अपने नाटक की सामग्री ढूँढने के लिए विधाता के मानव-जगत को छोड़कर आकाश और पाताल को ढूँढते रहते हैं उनसे उत्कृष्ट साहित्य की क्या अभिवृद्धि हो सकती है। हमारे जीवन में, हमारे ही आस पास दिन रात जो छोटी छोटी घटनाएँ होती रहतीं हैं उन्हीं में नाटक की स्वाभाविक सामग्री छिपी हुई रहती है। जो नाटककार इन्हीं घटनाओं में से सौन्दर्य्य का अन्वेषण कर अपने नाटक में ग्रथित करता है उसी के नाटकों से उत्कृष्ट साहित्य की अभिवृद्धि और मानव-जाति का सच्चा हित सम्पन्न होता है।

आदर्शवादी नाटककारों की दूसरी उपपत्ति और भी विचित्र है। इन लोगों का कथन है कि यदि किसी नाटक का नायक पुण्यात्मा है तो उसका अन्त भी सुखमय होना चाहिए। क्योंकि ऐसे सर्व गुण सम्पन्न नायक का दुःख मय अन्त देख कर दर्शकों के हृदय पर एक प्रकार का बुरा और नीति विरुद्ध परिणाम होता है। पाप की जय और पुण्य की पराजय दिखलाने से लोगों के अधार्मिक होने की सम्भावना है। इन लोगों की यह उपपत्ति बहुत ही भ्रम पूर्ण है। दुनिया के अन्दर प्राचीन इतिहास में जितनी घटनाएं हुई हैं और आज भी जो घटनाएँ हो रहीं हैं, उन पर से निकाले हुए अनुभव के द्वारा यह बात स्पष्ट होती है कि धार्म्मिक मनुष्य का अन्त सुख पूर्ण ही हो यह बात नियम रूप से सत्य नहीं हो सकती। व्यावहारिक जीवन में प्रायः अधर्म की

ही जय अधिक दिखलाई देती है। यदि ऐसा न होता तो यह सारी सृष्टि आज क्षुद्रता, स्वार्थ और प्रतारणा से भरी हुई दिखलाई न देती। मनुष्य जीवन में प्रायः देखा जाता है कि धर्म को मृत्यु तक सिर झुकाए रहना पड़ता है और अधर्म अन्त तक सिर उठाए चला जाता है। पर इन दुःख पूर्ण घटनाओं को देख कर क्या सच्चे धार्मिक पुरुष अपने पथ से विचलित हो जाते हैं? धर्म तभी सच्चा धर्म कहा जा सकता है जब वह सुख, दुःख के भीषण चक्कर में भी अपने अस्तित्व की रक्षा कर सके, जो भयंकर कष्टों के बीच में भी एक प्रकार के गौरव का अनुभव करता हो। केवल इसी भय से नाटकों के अन्तर्गत एक प्रकार के महान् सत्य की अवहेलना करना और उसके चरित्र-चित्रण को स्वाभाविकता से दूर ले जाकर डाल देना उचित नहीं कहा जा सकता। जो लोग किसी प्रकार के स्वर्ग लाभ के लोभ से धार्मिक होते हैं या प्रत्युपकार पाने की आशा से उपकार करते हैं वे यथार्थ में धार्मिक नहीं है प्रत्युत स्वार्थी और दूकानदार बनिये हैं। फिर केवल नाटकों के अन्दर ही इस प्रकार का अस्वाभाविक चित्रण कर देने से क्या हो सकता है? प्रत्यक्ष जगत् में जब लोग इन चित्रणों से विरुद्ध घटनाएँ देखेंगे तब उन पर नाटक के द्वारा किया हुआ असर कहाँ तक ठहरेगा? सच बात तो यह है कि जो शिक्षा सत्य को खण्डित करती है वह सत्य के साथ टक्कर खाकर चूर्ण हो जाती है। वास्तविक नीति शिक्षा तो वही है जो सत्य से डरती नहीं प्रत्युत उसे गले लगाती है।

आदर्शवादी और प्रकृतिवादी विचारकों की इन दोनों विचार पद्धतियों पर ध्यान पूर्वक विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता

है कि चरित्र चित्रण चाहे आदर्श रूप में हो चाहे प्रकृत रूप में पर उसमें स्वाभाविकता का उल्लंघन एक रत्ती भर भी न होना चाहिए। क्योंकि स्वाभाविकता ही नाटक का प्राण है। जब तक किसी घटना का, समाज के किसी नियम का, व्यक्ति के किसी चरित्र का बिलकुल स्वाभाविक परिणाम नाटक में नहीं दिखलाया जायगा तब तक नाटय-साहित्य का महान उद्देश्य उसके द्वारा पूर्ण नहीं हो सकता। शेक्सपीयर के नाटकों का जो भारी महत्व आज संसार में फैल रहा है उसका सब से बड़ा और प्रधान कारण यही है कि उनके नाटकों में स्वाभाविकता एक क्षण के लिए भी स्खलित नहीं हुई है।

लेकिन स्वाभाविकता क्या वस्तु है इसका निर्णय करना बड़ा ही कठिन है। एक महान पुरुष के लिए जो बात बिलकुल स्वाभाविक रहती है वही निम्न श्रेणी के किसी मनुष्य के लिए बिलकुल अस्वाभाविक हो जाती है। जो बात महाराणा प्रताप के लिए बिलकुल स्वाभाविक थी वही महाराणा अमरसिंह के लिए बिलकुल अस्वाभाविक सिद्ध हुई। जिस काम को महात्मा बुद्ध ने बिलकुल स्वाभाविक रूप से किया था वही काम उनके शिष्यों के लिए बिलकुल अस्वाभाविक सिद्ध हुआ। बात यह है कि प्रत्येक मनुष्य की मनोरचना भिन्न भिन्न प्रकार से बनी हुई होती है। इस मनोरचना के व्यापक सिद्धान्तों को निश्चित करना स्वयं मनोविज्ञान के लिए भी असम्भव है। नाट्यकार को यही असम्भव सम्भव करके दिखाना पड़ता है। उसके पहले अपने पात्र की मनोरचना की एक एक उलझन को प्रत्यक्ष करके सुलझाना पड़ता है। उसके अन्दर होने वाले अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करके उस

के द्वारा होने वाले परिणामों पर विचार करना पड़ता है। इसके पश्चात् ही वह उसकी स्वाभाविकता के विषय में निर्णय कर सकता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो आदर्शवादी नाटकों की अपेक्षा प्रकृतवादी नाटकों का क्षेत्र बहुत ही कठिनाई पूर्ण है। जो नाटककार इस कठिन क्षेत्र को सफलतापूर्वक पार करके अपने चरित्रों का सफलता पूर्वक चित्रण कर सकता है उसकी कृति नाट्य साहित्य में अमर स्थान प्राप्त कर लेती है।

अब संक्षेप में उपन्यासों पर भी एक नजर डाल देना उचित है। साहित्य में उपन्यास का नम्बर नाटक के नीचे है। सामाजिक दृष्टि से भी उपन्यास का नम्बर नाटक के बाद ही आता है। क्योंकि नाटक के दृश्य तो रंग मंच पर सजीव रूप से जनता के सन्मुख अभिनित होते हैं। उसमें अभिनय करने वाले पात्र हाव, भाव के द्वारा नाटक में वर्णित घटना को दूना जीवन प्रदान कर देते हैं, इससे जनता के मनोभावों पर बड़ा ही स्थायी परिणाम होता है। पर उपन्यास के चरित्र केवल कल्पना के साम्राज्य में उत्पन्न किये जा सकते हैं। उनके प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो सकते। दूसरे नाटक ऐसी वस्तु है जिनका लाभ शिक्षित और अशिक्षित युवक और बच्चे, स्त्री और पुरुष, सभी उठा सकते हैं। पर उपन्यासों का लाभ केवल शिक्षित और शिक्षित भी उसी श्रेणी के जो उसकी आत्मा को पहचानते हों—उठा सकते हैं।

फिर भी साहित्य के अन्तर्गत उपन्यास एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसमें भी स्वाभाविकता की रक्षा, मनुष्य के अन्तर युद्ध का वर्णन स्पष्ट रूप से होना चाहिए, जो उपन्यास इन गुणों से विहीन होते हैं उनका साहित्य में कुछ भी महत्त्व नहीं रहता।

आठवां अध्याय

समाचार पत्र

मुद्रण यन्त्र के आविष्कार और समाचार पत्रों के उदय से सारे संसार के अन्दर एक नूतन जीवन, और उत्साह का उदय हो गया है। क्या राजनीति, क्या समाजनीति, क्या धर्मनीति और क्या अर्थ शास्त्र सभी पर समाचार पत्रों के द्वारा एक नवीन प्रकाश फैल गया है। इन पत्रों के द्वारा संसार के किसी कोने में होनेवाली घटना का नित्य प्रति होने वाले नवीन आविष्कारों का, उन्नत मस्तिष्कों से निकाले हुए नवीन विचारों का समाचार कुछ ही घण्टों में संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल जाता है। वास्तव में समाचार पत्रों के द्वारा मनुष्य जाति की और साहित्य की एक आश्चर्य्य जनक उन्नति हुई है।

वास्तव में देखा जाय तो समाचार पत्र समाज की आँखें हैं। समाज के व्यक्ति इन्हीं आँखों के द्वारा अपने आस पास की स्थिति का अवलोकन करते हैं। वे उन्हीं में प्रकट किये हुए विचारों के आधार पर अपनी विचार-धारा को स्थिर करते हैं। उन्नत देशों में समाचार पत्रों की राय का बड़ा वजन माना जाता है। इनकी प्रकट की हुई राय के आधार पर वहाँ पर कई क्रान्तियाँ जन्म ले लेती हैं, कई युद्ध ठन जाते हैं, कई राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तन हो जाते हैं। यहाँ तक कि कभी कभी साम्राज्य का आसन भी इनकी राय से डाँवाडोल हो जाता है। इन देशों

में समाचार पत्रों की सत्ता भी बड़ी जबर्दस्त मानी जाती है। एक विद्वान ने कहा था कि इग्लैण्ड में लायड जार्ज के पश्चात् टाइम्स के सम्पादक का ही दबदबा सब से ज्यादा है।

जितना समाचार पत्रों के सम्पादकों का महत्त्व माना जाता है, उतना ही जबर्दस्त उन पर उत्तर दायित्व का बोझा भी रहता है। उनको एक एक बात, एक एक विचार, एक एक टिप्पणी बड़े विचार के साथ सब दृष्टि बिन्दुओं को सम्मुख रख कर प्रकाशित करना पड़ती है। उत्कृष्ट श्रेणी के सम्पादक को प्रत्येक देश की राजकीय, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक स्थितियों का परिपूर्ण ज्ञान रखना पड़ता है, उन्हें मानसशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास, राजनीति शास्त्र, आदि तमाम शास्त्रों और विद्वानों में विशेषज्ञता प्राप्त करनी पड़ती है। दुनिया के अन्तर्गत होने वाली प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना और उससे संसार पर पड़ने वाले प्रभाव पर उन्हें प्रकाश डालना पड़ता है; मतलब यह कि सम्पादक का ऑफिस दुनिया के ज्ञान का केन्द्रस्थान रहता है। उस आफिस के कमरे में बैठ कर उसे एक सर्वज्ञ की तरह दुनिया के भूत, भविष्यत् और वर्तमान की मीमांसा करनी पड़ती है। समय के बहते हुए प्रवाह पर उसे अधिकार रखना पड़ता है। इसके विपरीत जो सम्पादक समय की धार में बहते हुए चले जाते हैं। जो किसी आन्दोलन की तत्क्षण उत्तेजना से उत्तेजित हो जनता को भड़काने वाले अगट सगट उत्तेजक लेख लिखते हैं, जो राजनीति समाजशास्त्र आदि शास्त्रों का परिपूर्ण ज्ञान हासिल किये बिना ही इन गम्भीर विषयों में टांग अड़ाते हैं, वे समाज की बढ़ती हुई उन्नति पर कुठाराघात करते हैं। उनकी छोटीसी गलती समाज

में बड़े बड़े कारड पैदा कर सकती है। आजकल के साहित्य में इसीलिए सम्पादन कला एक स्वतन्त्र कला समझी जाने लगी है। और उस पर स्वतन्त्र रूप से कई बड़े बड़े ग्रन्थ भी लिखे जा रहे हैं।

योग्य समाचार पत्रों से जितना समाज का लाभ हो सकता है उतना ही अयोग्य और निकृष्ट समाचार पत्रों से समाज का भयंकर नुकसान भी हो जाता है। इस प्रकार के गैर जिम्मेदार समाचार पत्र अपनी उच्छृंखलता से समाज में भयंकर विष बो देते हैं। यही समाचार पत्र अपनी तुच्छता और दायित्व हीनता का विचार न कर बड़े बड़े समझदार नेताओं के प्रति विष उगला करते हैं। इनकी कृपा से समाज के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाली कई उत्कृष्ट क्रान्तियां नष्ट हो जाती हैं और कई पचासों वर्ष पिछड़ जाती हैं।

फिर भी यह बात स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि समाज का आधे से अधिक जीवन समाचार पत्रों से रहता है। जिस समाज में समाचार पत्रों की कमी है या उनका अभाव है उस जाति में कोई नवीन विचार कोई नवीन क्रान्ति जन्म नहीं ले सकती, यदि लेती भी है तो बराबर प्रचार न होने की वजह से वह असमय में ही नष्ट हो जाती है। जबतक साहित्य में समाचार पत्रों का अस्तित्व न था तब तक प्रचार के दूसरे दूसरे बहुत से साधन उपयोग में लाये जाते थे, पर उनमें कोई भी साधन इतना महत्व पूर्ण और व्यापक न था। समाचार पत्रों ने समाज की इस आवश्यकता को महत्वपूर्ण ढङ्ग से पूर्ण किया है।

छठा खण्ड

स्वाधीनता

जो समाज रचना व्यक्ति स्वाधीनता से मुरझाती हो, कुम्ह-लाती हो, भ्रष्ट होती हो, तो समझ लो कि वह समाज-रचना अपूर्ण है। समाज-रचना का मुख्य उद्देश्य ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य है। जो समाज रचना अपने नियमों की रक्षा करते हुए व्यक्ति-स्वान्त्र्य को जितना ही अधिक स्थान देती है वह उतनी ही अधिक सफल कही जाती है। संस्कार गत गुलाम भावनाओं की समष्टि के कारण आज की समाज-रचना व्यक्ति पर बन्धन डालने ही में शायद अपनी सफलता मानती हो पर ज्यों-ज्यों इसका स्वरूप विकसित होता जायगा त्यों-त्यों यह व्यक्ति-स्वाधीनता के अधिका-धिक समीप पहुँचेगी।"

—ग्रन्थकार

पहिला अध्याय

स्वाधीनता

समाज-रचना, राज्य, धर्म, साहित्य, आदि जिन जिन बातों का विवेचन पहले हो चुका है उन सब बातों के मूल तत्त्व पर जब हम विचार करते हैं, तब हमें मालूम होता कि यह इतना बड़ा आयोजन, इतना विराट् परिश्रम मनुष्य केवल एक ही वस्तु को प्राप्त करने के लिए करता है और वह वस्तु सुख है। सुख की परिभाषा भिन्न भिन्न लोगों ने भिन्न भिन्न प्रकार से की है पर उन सब का सार भूत परिणाम यही है कि अपने आचार, व्यवहार में तथा प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति में पूर्ण स्वाधीनता रहने से उसके अन्दर उल्लास की जो अनुकूल भावनाएँ उठा करती हैं, वही सुख का मुख्य लक्षण है। इसके विपरीत इन बातों में किसी प्रकार की पराधीनता होने से उसके हृदय में जो प्रतिकूल भावनाएँ उठा करती हैं वही दुःख का मूल लक्षण है।

सच तो यह है कि मनुष्य-प्रकृति किसी प्रकार के बन्धन को बिलकुल पसन्द नहीं करती। मनुष्य के लिए सब से बड़ा सौभाग्य और सबसे बड़ा सुख यही है कि वह जीवन में अधिक स्वाधीनता का उपयोग करे। वह जानता है कि जहाँ स्वाधीनता है, वहीं सुख है और जहाँ बन्धन, पराधीनता तथा गुलामी है, वहीं दुःख है। इसीलिए वह अपने जीवन में अधिक से अधिक स्वाधीनता प्राप्त करने की चेष्टा करता है। और जब इस जीवन के—इस संसार

के लौकिक सुखों से उसकी तृप्ति नहीं होती, जब सुख के साधनों के साथ साथ उसकी आकांक्षाएँ भी बढ़ती जाती हैं, जब संसार के सभी सुख उसे बन्धन-रूप मालूम होने लगते हैं, तब वह अनन्त सुख और अनन्त स्वाधीनता पूर्ण एक अप्रत्यक्ष जगत् की कल्पना करता है। दुनिया के धर्म-शास्त्र मनुष्य की इसी कल्पना को "मोक्ष" या "मुक्ति" कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य के इस विराट् आयोजन और इस विराट् परिश्रम का प्रधान ध्येय "स्वाधीनता" है।

समाज-रचना भी इसी ध्येय को प्राप्त करने का साधन है। जब मनुष्य ने देखा कि अकेला रहकर वह इस ध्येय को प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकता, बलवान् का फन्दा हमेशा उस की स्वाधीनता के पैरों में बेड़ी डालने को तैयार रहता है, तब उसने दूसरे मनुष्यों के साथ मिल कर सामूहिक रूप से रहना आरम्भ किया, जिससे वह इस भय से बचकर अपनी स्वाधीनता की रक्षा कर सके। इसके पश्चात् जब केवल इस साधन से भी उसकी अभिष्ट सिद्धि न हो सकी, और मनुष्य की स्वार्थ प्रवृत्ति इसमें अधिकाधिक बाधक होने लगी, तब इस स्वार्थ-प्रवृत्ति पर शासन करने के लिए उसने राज्य, धर्म आदि और भी अनेक साधनों को उत्पन्न किया।

पर कैसा आश्चर्य्य है! ज्यों ज्यों ये नवीन साधन उत्पन्न होते गये त्यों त्यों मनुष्य के पैरों में अधिकाधिक गुलामी की जन्जीरें पड़ने लगीं। जिस मर्ज को मिटाने के लिए ये सब साधन बनाए गए, उसको मिटाने के बदले इन सबने एक एक नया मर्ज और पैदा कर दिया। समाज-रचना के गर्भ में से सामाजिक

गुलामी, धर्म के गर्भ में से धार्मिक गुलामी और राज्य-सत्ता के गर्भ में से राजनैतिक गुलामी का आविर्भाव हो गया। और इन भिन्न भिन्न प्रकार की गुलामियों ने मिलकर मनुष्य के मन को नितान्त हतोत्साह कायर और निर्जीव कर दिया।

यह भयंकर दृश्य केवल एक ही जबर्दस्त भूल का परिणाम है। वह भूल है साधन को उद्देश्य समझ कर एकान्त रूप से उसी की उपासना करना। समाज, राज्य और धर्म ये साधन मात्र हैं। इनकी उत्पत्ति का अन्तिम ध्येय पूर्ण स्वाधीनता है। इस बात को भूल कर मनुष्य ने इन्हीं को मूल उद्देश्य समझ लिया। इस सिद्धान्त की जगह कि समाज, राज्य और धर्म मनुष्य के लिए है यह सिद्धान्त स्वीकृत कर लिया गया कि मनुष्य ही समाज राज्य और धर्म के लिए है। बड़े बड़े तत्त्वज्ञानियों ने इस भयपूर्ण सिद्धान्त का समर्थन किया। इस भयङ्कर भूल का परिणाम यह हुआ कि मनुष्य के स्वतन्त्र अस्तित्व का, उसके स्वतन्त्र मनोविकारों का नाश हो गया। समाज उसे अपना पुर्जा समझने लगा, राज्य उसे अपना अनुचर समझने लगा और धर्म उसे अपना कैदी समझने लगा। इस प्रकार चारों ओर से उसके स्वच्छन्द मन पर नाना प्रकार की जंजीरें कस दी गईं। उसको सिर उठाने के लिए भी जगह न रही। वह एक मशीन की तरह हो गया। समाज राज्य और धर्म के आतङ्क से उसकी आत्मा भीतर ही भीतर झुलस कर मृतकवत् हो गई। जिन साधनों को उसने अपनी आज़ादी के लिए उत्पन्न किया था वे ही उसकी गुलामी के मूल कारण बन बैठे।

संसार का इतिहास मनुष्य-जाति की गुलामी का इतिहास है।

उसका एक एक पृष्ठ उन काली घटनाओं से रंगा हुआ है जिनमें धर्म के नाम पर, समाज के नाम पर, राजा के नाम पर मनुष्य-जाति को भीषण यंन्त्रणाएं दी गई हैं, जिनमें ईश्वर के पवित्र नाम की आड़ में उन पर अमानुषिक अत्याचार किये गये हैं, जिनमें सदाचार की दुहाई देकर उनका खून बहाया गया है, जिनमें शान्ति रक्षा का नाम ले लेकर उनके स्वाभाविक अधिकारों का बलिदान किया गया है।

इन भीषण गुलामियों के शिकंजे में मनुष्य-जाति इतनी मजबूती से फंस गई कि कई शताब्दियों तक वह आज़ादी की सांस तक न ले सकी। राज्य, धर्म या समाज की इन अनिष्टकारी सत्ताओं से दुःखित होकर यदि मनुष्य के स्वाभाविक अधिकारों के पक्ष में कोई कभी आवाज उठाता था तो वह तुरत दबोच दिया जाता था। सैकड़ों प्रतिभाशाली महा पुरुष इस वेदी पर कत्ल कर दिये गये, सैकड़ों भीषण यंत्रणाओं के द्वारा सताए गये, मगर फिर भी इस गुलामी की आंच कम न हुई। इसके अत्याचार बढ़ते ही गये। यहां तक कि कहीं कहीं तो यह क्रिया अपनी सीमा पर जा पहुँची।

क्रिया का अन्त ही प्रति क्रिया का प्रारम्भ है, इस क्रिया के अन्तिम सीमा पर पहुँचते ही इसके विरोध में प्रति-क्रिया का प्रारम्भ हुआ। छटपटाती हुई मनुष्य-जाति में से कई प्रबल महा पुरुषों ने पूरी शक्ति लगा कर सिर उठाया। एक बार दबोचे गये दूसरी बार उठाया, एक मार दिया गया दूसरा तत्काल पैदा हुआ। इस प्रकार धीरे धीरे यह प्रति-क्रिया बढी। सबसे पहले यूरोप में बल पकड़ा। वहां के तत्त्वज्ञानियों ने देखा कि समाज, राज्य और

धर्म के असीम बन्धन, इनकी अनियंत्रित सत्ता ही इस गुलामी का प्रधान कारण है। यही व्यक्ति के व्यक्तिगत अस्तित्व को जड़ मूल से हड़प गई है। यही मनुष्य-जाति के रास्ते में सबसे बड़ी दीवाल है। अतः इनकी सत्ता को अत्यन्त परिमित कर देना मानव-स्वाधीनता के लिए परम आवश्यक है। कई क्रान्तिकारियों ने तो उत्तेजित होकर यहां तक कह दिया कि मनुष्य-जाति के हित के लिए इनका समूल नष्ट हो जाना ही आवश्यक है।

इस प्रकार की प्रति-क्रियात्मक भावनाओं के उत्पन्न होते ही वहां पर धर्म, राज्य और समाज की अनियंत्रित सत्ताओं पर प्रबल आघात होने लगे। इन सब सत्ताओं की शक्तियां धीरे धीरे अत्यन्त मर्यादित कर दी गईं। इन बातों के साथ ही साथ वहां पर स्वाधीनता पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार होना प्रारम्भ हुआ। जिसके परिणाम स्वरूप वहां स्वाधीनता के सम्बन्ध में कई प्रकार की भिन्न भिन्न विचार पद्धतियां दृष्टिगोचर होने लगीं। इन सब भावनाओं का अलग अलग विवेचन करने से ग्रन्थ का विस्तार बहुत बढ़ जाने का डर है। अतः इन सबके आधार पर हम अपने ढङ्ग से इस बात पर विचार करना चाहते हैं कि व्यक्ति के ऊपर किस सीमा तक समाज, राज्य अथवा धर्म के बन्धन रहना चाहिए और किस सीमा तक वह बिलकुल स्वाधीन है।

दूसरा अध्याय

व्यक्तिगत स्वाधीनता

समाज व्यक्तियों का समुदाय है। 'समाज' शब्द अनेक व्यक्तियों की केन्द्रीभूत शक्ति के भाव को प्रकट करता है। समाज के सदस्य—उसमें रहने वाले व्यक्ति—एक दूसरे की स्वार्थ प्रवृत्ति से अपनी अपनी रक्षा करने के निमित्त अपनी अपनी शक्ति के कुछ अंश को एक स्थान पर केन्द्रीभूत कर देते हैं। यही शक्ति सत्ता कहलाती है। यह सत्ता अपने सदस्यों की रक्षा के निमित्त स्वयमेव या अथवा सब लोगों की सम्मति से कुछ नियमों की रचना करती है। इन नियमों का सब व्यक्तियों को स्वाभाविक रूप से पालन करना पड़ता है। ये नियम जब तक अपनी सीमा के अन्दर रहते हैं तब तक व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से स्वाधीन समझा जाता है और जब ये अपनी सीमा से परे हो जाते हैं, जब व्यक्ति के स्वाभाविक अधिकारों पर भी ये आक्रमण करने लग जाते हैं तब इनका स्वरूप बड़ा ही भयङ्कर हो जाता है। इन्हीं उच्छृंखल नियमों की जड़ में से सामाजिक गुलामी का जन्म होता है।

अब हमें देखना यह है कि इन विषयों की सीमा कहां जाकर समाप्त होती है? समाज का व्यक्ति पर किस हद तक अधिकार है? तथा सामाजिक जीवन के सिवाय व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन का भी स्वतन्त्र अस्तित्व है या नहीं?

जब से मनुष्य ने समाज के अन्दर रहना प्रारम्भ किया है तब से उसके जीवन के साधारण तया दो विभाग हो गये हैं। समाज बलवानों से उसकी रक्षा करता है, उसके जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करता है। समाज के इस उपकार के बदले वह अपने जीवन का कुछ भाग—शक्ति सम्पत्ति और परिश्रम—समाज को अर्पण करता है। और शेष भाग पर उसका निज का अधिकार रहता है। जीवन के जिस विभाग को वह समाज के अर्पण कर देता है वह उसका सामाजिक जीवन कहलाता है और जिस विभाग का स्वयं उसी के साथ सम्बन्ध है वह उसका व्यक्तिगत जीवन कहलाता है।

व्यक्ति के जीवन का जो हिस्सा समाज से सम्बन्ध रहता है उस पद पर समाज का अधिकार रहता है। जिस हद तक मनुष्य का समाज से सम्बंध है उसे चाहिए कि वह समाज के बनाए हुए नियमों की मर्यादा के बाहर इञ्च भर की कदम न रखे। वह अपनी प्रवृत्तियों से समाज के दूसरे सदस्यों को बिलकुल तकलीफ न पहुँचावे। जो बातें न्याय के तत्त्व से, तर्कशास्त्र की पद्धति से अथवा विद्वानों के बहुमत से प्रत्येक आदमी का सत्व या हक़ मान ली गई हैं उनमें वे किसी प्रकार का विघ्न न डालें। दूसरे इस प्रकार की व्यवस्था में जो परिश्रम या खर्च हो, उसका उचित हिस्सा प्रसन्नता के साथ वह समाज को भेंट करे। समाज की व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए इन दोनों बातों के पालन की आवश्यकता है। जो व्यक्ति बल के या धन के गर्व से इन बातों के पालन में गलती करे, जो दूसरे के वाजिब अधिकारों पर बेजा ढङ्ग से आक्रमण करे, जो समाज की

व्यवस्था में अपने हिस्से का परिश्रम व द्रव्य अर्पण न करे, समाज को अधिकार है कि ऐसे लोगों को वह बल-पूर्वक इन बातों का पालन करने के लिए बाध्य करे। इस प्रकार के बल प्रयोग से व्यक्ति विशेष की चाहे कितनी ही हानि क्यों न हो, उसका दोष समाज के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता।

पर किसी मनुष्य के द्वारा किसी मनुष्य को वास्तव में हानि पहुँच रही है या नहीं, इस बात का निर्णय कैसे हो ? कई बार तो ऐसा होता है कि मनुष्य अन्याय से, छल से, विश्वासघात से दूसरों के उचित अधिकारों को हड़प जाने की चेष्टा करता है। वह अपने अनुचित स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए दूसरों को बेजा हानि पहुँचाता है। ऐसे मनुष्य को उसके अनुचित बर्ताव के लिए सजा देना राज्य अथवा समाज के लिए आवश्यक होता है। पर कई बार ऐसा भी होता है कि किसी उचित और न्याय सङ्गत मतलब की सिद्धि के लिए काम करते समय भी दूसरों को हानि पहुँचने की नौबत आ जाती है। इस प्रकार का हित-विरोध प्रायः समाज की व्यवस्था ठीक न होने से होता है। पर कुछ हित-विरोध ऐसे भी होते हैं जो की उन्नत अवस्था में भी रहते है। जैसे व्यापारिक प्रतिस्पर्धा, विद्यार्थियों की परीक्षा के सम्बन्ध में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, इत्यादि कई बातें ऐसी होती हैं जिसमें एक व्यक्ति के अधिक परिश्रम करने से कम परिश्रम करनेवाले दूसरे व्यक्ति को स्वाभाविक रूप से हानि पहुँचाती है। पर यदि इस हानि का खयाल करके राज्य अथवा समाज इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा पर प्रतिबन्ध डाल दे तो सामाजिक व्यापार नीति का, परिश्रम करने के उत्साह का जीवन ही नष्ट हो जाय।

मतलब यह कि जो मनुष्य सदिच्छा से केवल अपनी तरक्की के लिए परिश्रम करता है उसके उस परिश्रम से यदि स्वाभाविक तथा दूसरों को हानि भी पहुँचाती है तो ऐसी हानि से बचाने के लिए उस आदमी को उन्नति से रोकने का समाज को अधिकार नहीं रहता। पर जो मनुष्य किसी प्रकार की कुचेष्टा से, छल से, कपट से, विश्वास-घात से या बलत्कार से समाज के दूसरे व्यक्तियों के अथवा राज्य के प्रति किसी प्रकार की कुचेष्टा करता है हानि पहुँचाने की चेष्टा करता है तो उसको रोकने के लिए उसका प्रतिबन्ध करने का समाज को पूर्ण अधिकार है।

यह समाज के अधिकारों की सीमा है। इसके बाहर जिन कामों का समाज से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, जिनका सम्बंध केवल करनेवाले व्यक्ति ही से रहता है। जिनसे होनेवाले हानि लाभ का सम्बन्ध भी केवल उसी से रहता है उनके अन्दर दस्तंदाजी करने का समाज को कोई अधिकार नहीं है। उदाहरणार्थ, किसी मनुष्य को अपने परम्परागत चले आनेवाले धर्म पर विश्वास नहीं है, वह किसी दूसरे ही धर्म पर विश्वास करता है, अथवा उसके स्वतन्त्र सिद्धान्त किसी भी धर्म से नहीं मिलते हैं, तो ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति के इस प्रकार के विश्वासों में हस्तक्षेप करने का समाज को कोई अधिकार नहीं क्योंकि इसका सम्बन्ध उसके व्यक्तिगत जीवन से है। इसी प्रकार समाज की परम्परा से चली आई हुई कोई सीढ़ी किसी मनुष्य को पसन्द नहीं है, और अपने जीवन में वह उसका संसर्ग नहीं होने देना चाहता तो ऐसा करने का भी उसे पूर्ण अधिकार है। इसके लिए समाज को उस व्यक्ति के प्रति उस

नियम का पालन कराने के लिए बलात्कार करना बिलकुल अन्याय-पूर्ण है।

अभी तक दुनिया के बड़े बड़े विद्वान् भी इस भ्रमजाल में पड़े हुए हैं कि मनुष्य के घरू व्यवहारों पर उसके निजी आचरणों पर भी समाज का अधिकार है। वे इस बात को निश्चित करके बैठ गये हैं कि व्यक्ति समाज का ही अङ्ग है उसका जीवन ही समाज के लिए है। इस सिद्धान्त की झोंक में वे इस बात को बिककुल भूल गये हैं कि व्यक्ति के हित के लिए ही समाज का अस्तित्व है। व्यक्ति के सुख के लिए ही उसकी उत्पत्ति हुई है। समाज की उपयोगिता व्यक्ति के लिए है पर व्यक्ति की उपयोगिता केवल समाज ही के लिए नहीं है, सामाजिक जीवन के अतिरिक्त उसके जीवन के और भी कई महान् उद्देश्य हैं। ऐसे लोगों को इस बात का बड़ा भारी सन्देह रहता है कि यदि मनुष्य के घरू जीवन पर समाज की सत्ता न होगी तो सब मनुष्य स्वेच्छाचारी हो जायँगे। उनके दुर्गुण भड़क उठेंगे। इस बात की व्यवस्था के लिए वे मनुष्य के व्यक्तिगत, धार्मिक और सैद्धान्तिक जीवन को भी समाज की सत्ता के अन्दर ले लेना चाहते हैं।

पर ऐसा करने में एक बहुत बड़ी भूल हो जाती है। सामाजिक जीवन के लिए तो समाज की स्थिति और बहुमत का झुकाव देख कर फिर भी व्यापक नियम निश्चित किये जा सकते हैं। पर व्यक्तिगत जीवन के लिए व्यापक नियमों का बनना एक प्रकार से असाध्य है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के मनोविकार अलग-अलग रहते हैं। एक व्यक्ति के लिए जो नियम अमृत का काम दे

सकता है वही दूसरे के लिए विषरूप हो सकता है। जब सामाजिक जीवन के लिए बनाए हुए नियम भी देश और काल के बन्धनों से मुक्त नहीं होते, वे भी एक देश से दूसरे देश में या एक काल से दूसरे काल में जाकर निकम्मे हो जाते हैं, तब भिन्न-भिन्न मनोविकारों को रखनेवाले व्यक्तियों के लिए बनाए हुए इस प्रकार के नियम कहां तक सफल हो सकते हैं? दूसरी बात यह है कि जो लोग इन नियमों के विधाता होते हैं, वे प्रायः या तो उच्च वर्णीय हैं, या अधिकारी होते हैं, या कुलीन होते हैं या धनाढ्य होते हैं। इन लोगों के द्वारा बनाए हुए नियमों में इन लोगों के मनोविकारों का प्रतिबिम्ब तथा इनके व्यक्तित्व का रहना अवश्यम्भावी है। इन लोगों का यह दृढ़ विश्वास रहता है कि हम लोग जो कुछ करते हैं उसी के अनुसार चल कर मनुष्य उन्नति कर सकता है। इतमें से कोई भी व्यक्ति शायद इस बात को स्वीकार नहीं करता कि मनुष्य का ज्ञान अपूर्ण है, उसमें भूल हो जाने की सम्भावना है। वे लोग अपने मनोविकारों को ही न्याय की तराजू समझते हैं। और अपने बनाए हुए नियमों को तर्क-शास्त्र के प्रमाणों से भी अधिक बलवान् और विश्वसनीय मानते हैं। पर जब समय और परिस्थिति बदल जाती है तब इन नियमों की कमजोरी आइने की तरह स्पष्ट दिखलाई देती है। सच बात तो यह है कि इन नियमों की जड़ में कभी तो भले बुरे का विचार, कभी पूर्व ग्रह और मिथ्या-धर्म, कभी मत्सर और और झूठा घमण्ड और कभी दूसरों के प्रति तिरस्कार गर्भित रहती है। पर इनकी जड़ में सब से सबल कारण स्वार्थ होता है। इन नियमों की योजना में ऐसे लोग समाज-हित की अपेक्षा

अपने निजी हितों का अधिक खयाल रखते हैं। इस बात का प्रमाण ढूंढने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं। दुनिया के इतिहास में पुरुषों और स्त्रियों के अधिकारों का निर्णय इस नियम का एक ज्वलन्त उदाहरण है। संसार के प्रायः प्रत्येक देश में शारीरिक बल की अधिकता के कारण समाज-नीति का विधान पुरुषों के हाथ में रहा है। सभी जगह स्त्रियों का व्यक्तिगत अस्तित्व पुरुषों के हाथ में रहा है। ऐसी स्थिति में जब स्त्री के व्यक्तिगत आचरण के सम्बन्ध में उनके द्वारा बनाए हुए नियमों का हम अवलोकन करते हैं तो हमें मालूम होता है कि अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए पुरुष समाज ने स्त्री के व्यक्तिगत अस्तित्व पर जितना अधिक से अधिक अन्याय हो सकता था उससे भी कहीं अधिक किया है। उसके स्वतन्त्र-जीवन को वे जितना अधिक से अधिक दबोच सकते थे वहां तक दबोचा है उन्होंने उनको निर्माल्य करके छोड़ा है। क्या कोई कह सकता है कि उनके इन विधानों में समाज रचना का खयाल रक्खा गया है? क्या कोई कह सकता है कि ये विधान न्याय, धर्म या मनुष्यत्व को सन्मुख रख कर बनाए गये हैं? सिवाय इसके कि स्त्री-जाति अनन्त-काल तक पुरुष जाति की गुलाम बनी रहे इस विधान का दूसरा उद्देश्य और क्या हो सकता है। और दूसरा उदाहरण लीजिए भारतवर्ष में पूर्व काल में समाज-नीति के विधानों को बनाने के अधिकार ब्राह्मणों के हाथ में थे। इनकी बनाई हुई स्मृतियां शायद सर्वज्ञ-प्रणीत ग्रन्थों की कोटि में रक्खी जाती हैं। इनके विधाता शायद निष्पक्षता और निःस्वार्थ के अवतार समझे जाते थे। मनुष्य के दैनिक जीवन की कुंजी उन्हीं के हाथों में थी।

उनकी बनाई हुई स्मृतियों में जब हम "शूद्र" की स्थिति को देखते हैं तो हमें आश्चर्य होता है। इतना व्यवहार तथा अन्याय तो शायद पशुओं के प्रति भी न किया जाता होगा। पढ़ना, लिखना, तपस्या त्याग, सब उनके लिए बन्द। उनको शास्त्र विद्या सीखने की मनाई! वेद मन्त्र तो वे सुनही सकते हैं? अति शूद्रों के लिए तो बेसमय शहर में आना भी बन्द! यहां तक कि मनुष्य यदि उनसे छू जाय तो उसे उसका प्रायश्चित करना पड़े। उनका कर्तव्य केवल यही था कि उच्च वर्णों की वे गुलामी करें, सो भी दूर से उनकी जूठन खावें और अपनी जरासी गलती पर उनकी गालियां और जूते खावें। यही हालत एक जमाने में यूरोप में गुलामों की थी। यह अन्याय किस धर्म को कलंकित न करेगा? यह किस सत्य और अहिंसा धर्म विधान है। गूढ़ आध्यात्मिक तत्त्वों का आविष्कार करनेवाले कठोर तपस्याएं करनेवाले ब्राह्मणों ने ऐसी अन्यायपूर्ण स्मृतियों की रचना कर और उनका नीचा सिर करके गुलामों की तरह पालन करके अपनी विद्या बुद्धि और आध्यात्मिकता को भी कलंकित और निन्दित किया है। ऐसे नियमों और स्मृतियों के बनानेवाले यदि वे जीवित होते तो देखते कि उनके इन अन्याय पूर्ण विधानों से समाज की कितनी हानि हुई है?" इसका विष-मय परिणाम यह होता है कि मानव-समाज हजारों लोगों की ज्ञान-शक्ति के लाभ से वंचित रहता है। एकएक व्यक्ति के अंतर्गत अनन्त ज्ञान-शक्ति भरी हुई रहती है। यदि उसको विकास के अनुकूल परिस्थिति मिलती जाय तो उससे मनुष्य-जाति के ज्ञान-भण्डार में बेहद उन्नति हो सकती है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति पर बन्धन डाल देने से, उसके ज्ञान के मार्ग को

सामाजिकता के नाम पर अवरुद्ध कर देने से मानव-समाज लाखों लोगों की विकसित ज्ञान-शक्ति से वंचित रहता है। स्त्री-समाज की अमूल्य सेवाओं और हीन जातियों की विकसित शक्तियों से तो अभी हमारा समाज बिलकुल वंचित ही रहा है। यह ठीक है कि व्यक्ति स्वातन्त्र्य रहने पर भी इनमें से सभी लोग विलक्षण प्रतिभा नहीं बतला सकते। हजारों में से एकाध ही ऐसा जबर्दस्त प्रतिभाशाली निकलता है। फिर भी ऐसे दो चार व्यक्तियों की जबर्दस्त प्रतिभा से मिलनेवाला लाभ ही क्या कम है? एक-एक मनुष्य अपनी विलक्षणता से संसार का काया-पलट कर देते हैं। कौन कह सकता है कि इन दलित जातियों में कोई बुद्ध, कोई ईसा, कोई गांधी उत्पन्न नहीं हो सकता। महापुरुषों को उत्पन्न करने का ठेका क्या इन उच्च कही जानेवाली जातियों ने ही ले रक्खा है?

(१) जब तक किसी समाज में व्यक्ति स्वातन्त्र्य रहता है तब तक उसमें जीवनी-शक्ति का प्रवाह भी बराबर जारी रहता है। प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत-स्वाधीनता होने से वह अपनी समझ के अनुसार समय समय पर परिस्थिति के अनुसार अपने व्यवहार में परिवर्तन करता रहता है। पर व्यक्ति स्वातंत्र्य के नाश होते ही यह कार्य बन्द हो जाता है, ज्ञान का मार्ग रुक जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि जो नियम प्रचलित होते हैं उनमें समयानुसार परिवर्तन करने की योग्यता मनुष्य में नहीं रहती। धीरे धीरे ये नियम बिलकुल प्राणहीन होकर पत्थर से हो जाते हैं। इन्हीं पत्थर के नियमों की जड़ में से रूढ़ि की उत्पत्ति होती है। धीरे धीरे इन रूढ़ियों का शासन बढ़ता जाता है। इसके परिणाम

स्वरूप समाज में समष्टिगत अप्रमाणिकता फैल जाती है। प्रत्येक बात में मनुष्य दूसरे का अनुकरण करने लगता है। जिसके घर में एक पैसा भी न होगा, वह मनुष्य भी सामाजिक इज्जत की रक्षा के लिए दस रुपये का कोट अवश्य पहनेगा। अपनी गरीबी के कारण वह पांच रुपये में आनन्द के साथ अपनी लड़की का विवाह नहीं कर सकता। उसमें उसे हजार रुपये खर्च करना ही पड़ेंगे, चाहे फिर वह उसके लिए चोरी करे, बेईमानी करे, चाहे कर्जदार हो जाय। या पूरी तरह बरबाद हो जाय। इस तरह से व्यक्ति का तो सर्वस्व नाश हो ही जाता है, वह तो दर दर का भिखारी हो ही जाता है। पर इसके साथ समाज पर भी उसका बड़ा अनिष्टकारी प्रभाव पड़ता है।

मिल का कथन है कि "रूढ़ि की प्रबलता ही मनुष्य-जाति की उन्नति में सबसे अधिक बाधक है। मनुष्य-जाति के इतिहास में उत्कर्ष-प्रेम और रूढ़ि का विरोध ही सबसे अधिक ध्यान में रखने योग्य बात है। सच पूछिए तो दुनिया के आधे से अधिक हिस्से का कोई इतिहास ही नहीं है। क्योंकि वहां एक तंत्री राज्य है। दुनिया के पूर्वी हिस्से में विशेष कर भारतवर्ष में यही दशा है। वहां हर बात में लोगों को रूढ़ि की शरण जाना पड़ता है। रूढ़ि ही हाईकोर्ट है। रूढ़ि ही उनका इन्साफ और स्वत्व भी है। इसका जो कुछ परिणाम हुआ वह हमारी आंखों के सामने है। एक समय वह था जब वहां के लोगों ने अपनी प्रतिभा के बल पर सभ्यता में कमाल कर बतलाया था। इसका खास कारण यह था कि उस समय वहां पर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का बोल बाला था।" उस समय लोगों के व्यक्तिगत अधिकारों पर किसी प्रकार

का प्रतिबन्ध न था। उस चार्वाक और कणाद के समान नास्तिक तत्त्वज्ञानी भी स्वाधीनता के साथ अपने विचारों का प्रचार कर सकते थे। लोग इनकी भी प्रतिष्ठा करते थे। इन्हें भी "मुनि" के पवित्र नाम से सम्बोधित करते थे। उस समय वहा शक्ति और प्रतिभा की पूजा होती थी। पर अब क्या हालत है ? अब उन्हीं अगुआ पश्चिम निवासियों की गुलामी कर रहे हैं। इसका खास कारण यही है कि यहां के समाज ने लोगों की व्यक्तिगत स्वाधीनता पर प्रतिबन्ध डाल दिया। यहां का मनुष्य घर में और बाहर सब जगह रूढ़ि का गुलाम बना दिया गया। इस रूढ़ि के प्रताप से वहां के धर्म और आचार की आत्मा नष्ट हो गई और समाज में जड़ता का सञ्चार हो गया।"

(२) व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के कई विरोधी कहते हैं कि मनुष्य के मनोविकारों पर स्वयं उसका अधिकार होने से उनके उच्छृंखल हो जाने का डर रहता है। ये मनोविकार समय समय पर मनुष्य को बड़ा धोखा देते हैं। इनकी वजह से केवल व्यक्ति ही की हानि नहीं होती, प्रत्युत समाज का भी एक गहरा अनिष्ट होता है। इस प्रकार के लोग मनोविकारों का सूक्ष्म अध्ययन करने में बड़ी गलती करते हैं। वे शायद नहीं जानते कि मनोविकार शक्ति का ही एक दूसरा नाम है। जब मनुष्य में शक्ति का विकास होने लगता है तभी उसके मनोविकार भी प्रबल होने लगते हैं। यह सत्य है कि जो वासनाएं बहुत प्रबल हो जाती हैं उनसे अनिष्ट होने का डर जरूर रहता है। किन्तु यह डर तभी रहता है जब एक तरह की वासनाएं प्रबल हो जायं, पर उनके साथ दूसरी जिन वासनाओं को प्रबल होना चाहिए वे कमजोर

पड़ जायँ। कामनाओं के प्रबल हो जाने से मनुष्य दुराचार नहीं करते। पर अन्तःकरण के कमजोर हो जाने से ही वे इसमें प्रवृत्त होते है। प्रबल वासनाओं में और निर्बल अन्तःकरण में कोई सम्बन्ध नहीं है। सच बात तो यह है कि जो मनुष्य बढ़ता रहता है, गति करता रहता है उसके बिगड़ने का धोखा नहीं रहता। वह तो भर्तृहरि की तरह शृंगार से नीति में और नीति से वैराग्य में स्वाभाकि रूप से चला जाता है। बिगड़ने का धोखा उन्हीं लोगों का रहता है जो निर्बलता और कामनाओं की कमजोरी से एक जगह रुक जाते हैं। प्रबल मनोविकारों वाला मनुष्य जिस प्रकार बुरे काम में कमालियत दिखला सकता है। उसी प्रकार अच्छे कामों में भी वह अपनी विलक्षण प्रतिभा दिखला सकता है। जो अग्नि अपने क्रूर रूप में संसार को जलाकर भस्म कर सकती है वही अपने सदुपयोग करने पर संसार का पालन भी करती है। जिस ग्रहण शक्ति, ज्ञान और समझ के कारण आदमी के मनोविकार प्रबल हो जाते हैं उसीसे सद्गुणों को प्राप्त करनेकी आत्म-संयम करने की प्रबल इच्छा भी उत्पन्न होती है। अभी तक संसार में जितने भी महा पुरुष पैदा हुए हैं वे सब प्रबल मनोविकारों से युक्त थे। वे जिस तरफ को झुक गये उधर ही उन्होंने कमाल करके बतलाया। यदि वे विलास की तरफ झुके तो उधर ही कमाल दिखला करके दिखा दिया—"शृंगार-शतक" के समान ग्रन्थ निर्म्माण कर दिया। नीति की तरफ झुके तो उधर भी आश्चर्य्यजनक काम किया। वैराग्य में झुके तो उधर भी अपने वैराग्य की पराकाष्ठा दिखला दी। मतलब यह कि जिस मनुष्य की वासनाएं, जितनी ही अधिक प्रबल होंगी उसकी शक्तियां भी

उतनी ही बढ़ी हुई होंगी। सम्भव है दूषित वायु-मण्डल की वजह से उसकी शक्तियां बुरे मार्ग पर लग जायं पर यह निश्चित है कि यदि उसकी शक्तियां अच्छे मार्ग पर झुक जायं तो वह उस आलसी और जड़ मनुष्य की अपेक्षा जो एक सदाचारी परन्तु निर्जीव दीवाल की तरह समाज में पड़ा हुआ है, कई गुना अधिक काम कर गुज़रेगा। क्योंकि उसके पास मनुष्य की कच्ची सामग्री अधिक है। इसी तत्त्व को लक्ष्य में रख कर एक दार्शनिक ने कहा था कि "मैं एक ऐसी निर्जीव पतिव्रता की अपेक्षा जिसमें जीवनीशक्ति बिलकुल नहीं है एक जीवनी शक्ति युक्त दुराचारिणी वैश्या को अच्छी समझता हूँ" ये शब्द सुनने में चाहे कर्णकटु हों पर हैं बिलकुल सत्य।

इन्हीं मनोविकारों को स्वाधीनतापूर्वक उत्तेजन देने से संसार में वीर और मनस्वी पुरुषों की उत्पत्ति होती है। अतः जो लोग यह कहते हैं कि मनोवेग और वासनाओं को नहीं बढ़ने देना चाहिए वे मानों संसार में उत्कृष्ट स्वभाव के महापुरुषों की आवश्यकता का विरोध करते हैं।

(३) व्यक्ति स्वातन्त्र्य के विरोध में एक यह भी दलील दी जाती है कि व्यक्ति समाज ही का अङ्ग है। उसके हानि लाभ का जिम्मेदार भी समाज ही है। ऐसी स्थिति में यदि कोई मनुष्य अज्ञान या दुराचार के वश होकर अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मार ले यद्यपि उसके इस कार्य से दूसरों की कोई हानि नहीं रही है—तो क्या उसको ऐसे कामों से रोकने का समाज को अधिकार नहीं है? दूसरे, क्या कोई कह सकता है कि व्यक्ति के किसी आचरण का समाज पर बिलकुल ही प्रभाव न

पड़ेगा ? समाज के अन्दर रहनेवाले सदस्यों की कड़ियाँ परस्पर इतनी मिली हुई रहती हैं कि बाहर से अलग अलग दिखलाई देने पर भी वे एक दूसरे के साथ अभिन्नतया बँधी हुई हैं। जिस प्रकार एक छोटा सा कङ्कर सारे समुद्र में लहर उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य का छोटे से छोटा कार्य भी सारे समाज में एक लहर पैदा कर देता है। समाज के अन्दर एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं, जो दूसरों से बिलकुल जुदा हो। उदाहरणार्थ यदि कोई अपने कु-व्यवहारों से अपने शरीर अथवा मन को नुक़सान पहुँचा ले तो उसके इस नुक़सान से क्या उन लोगों की हानि न होगी जो उसके शरीर, मन अथवा सम्पति से किसी न किसी प्रकार का लाभ उठा रहे हैं ? और क्या उस हानि से समाज के एक हिस्से में गड़बड़ नहीं मच जायगी ? इसलिए क्या ऐसी बातों पर भी जो सदियों के अनुभव से व्यक्ति और समाज के लिए भयङ्कर साबित हो चुकी हैं, जैसे जूआ, शराब, व्यभिचार इत्यादि, समाज की ओर से प्रतिबन्ध लगाना अनुचित है ? जिन बातों के फेर में पड़ कर मानव समाज ने प्राचीन काल में गहरी हानि उठाई है, जिनके कारण जातियाँ और राज्य नष्ट हो गये, क्या उन पर प्रतिबन्ध लगाना बुरा है ?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कई बातें ऐसी होती हैं जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो व्यक्ति ही से रहता है, मगर उसका प्रभाव उसके कुटुम्बियों और समाज पर भी किसी न किसी अंश में पड़ता है। ये बातें इतनी प्रत्यक्ष होती हैं कि जिन्हें सब लोग जानते हैं। इस प्रकार की बातों का अन्तर्भाव पूर्ण रूप से व्यक्तिगत बातों के अन्तर्गत नहीं हो सकता। क्योंकि इनसे दूसरे

लोगों की हानि लाभ का भी सम्बन्ध रहता है। उदाहरणार्थ एक मनुष्य शराब खोरी में पैसे उड़ा देने के कारण अपना कर्ज नहीं चुका सकता, तथा अपने आश्रितों की शिक्षा और भोजन की व्यवस्था नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में उसकी निर्भर्त्सना करना अथवा किसी न किसी रूप में उसे दण्ड देना समाज के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि यह दण्ड उसे उसकी शराबखोरी या बुरी आदत के लिए नहीं दिया जायगा प्रत्युत इसलिए दिया जायगा कि वह अपना रुपया ज्यादा आवश्यक कामों में, महाजन का कर्ज चुकाने में, या कुटुम्ब का पालन करने में लगाने के बजाय अनावश्यक या आवश्यक कामों में खर्च करता है। यदि वह अपना रुपया इन बुरे कार्य्यों में न लगा कर किसी अच्छी संस्थाओं को दे देता या और कोई अच्छे काम में भी खर्च कर देता, तो भी उसी दण्ड का पात्र होता। कुपात्र को दान देनेवाली तथा अपनी हैसियत न होने पर भी विवाह शादी तथा मृत्यु प्रसंगों पर अधिक खर्च करवाले लोग भी इसी प्रकार दण्ड के पात्र हैं।

लेकिन कई बातें ऐसी होती हैं जिनसे न तो कोई सार्वजनिक कर्तव्य बिगड़ता है और न काम करनेवाले को छोड़ कर अन्य किसी की प्रत्यक्ष हानि होती है। इस प्रकार के कामों से भी यदि अप्रत्यक्ष रूप से समाज की कोई हानि होती हो तो समाज का कर्तव्य है कि वह दूसरे उपायों के द्वारा उसे रोकने का प्रयत्न करे। इसके लिए उसके पास और भी कई अच्छे अच्छे साधन रहते हैं जैसे शिक्षा, उपदेश, साहित्य वगैरह। मनुष्य तो जब से पैदा होता है तब से समाज ही के अन्दर रहता है। समाज

चाहे तो उसे प्रारम्भ ही से आदर्श के सुन्दर साँचे में ढाल सकता है। इन सब साधनों का उपयोग करने पर भी यदि किसी की स्वाधीनता से उसकी कोई छोटी-बड़ी हानि हो तो व्यक्ति स्वाधीनता से मिलनेवाले सैकड़ों लाखों के मुकाबिले में उस हानि को उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। पर यहां स्मरण रहे कि समाज कोई पृथक वस्तु नहीं है। सामाजिक हानि के मानी हैं। काम करनेवाले के अतिरिक्त जो व्यक्तियां समाज में हैं उन सबके या उनमें से किसी एक दो या अनेक व्यक्तियों की प्रगति में रुकावट हो या प्रत्यक्ष कष्ट हो। समाज के संचालकों को व्यक्ति और समाज के हिताहित का इस तरह ख्याल करके निर्णय करना चाहिए। यदि हम इस तरह विचार करने लगते हैं तो सिवाय मरी हुई रुढ़ियों के पालन से छुट्टी देने के, समाज व्यक्तियों के लिए स्वच्छन्द सुविधा कर ही नहीं सकता। पर यह भी कम नहीं है।

तत्त्ववेत्ता मिल का कथन यह बिलकुल सत्य है कि "जिस युग में व्यक्ति स्वातंत्र्य का क्षेत्र जितना ही अधिक विस्तृत रहा है; सभ्यता और जीवन की दृष्टि से वह युग उतना ही आगे रहा है।"।

तीसरा अध्याय

विचार-स्वाधीनता

जान स्टुअर्ट मिल ने एक स्थान पर लिखा है कि—किसी भी व्यक्ति के विचार स्वातन्त्र्य को दबाने का या उन विचारों के लिए उसे तंग करने का अधिकार किसी भी गवर्नमेण्ट या समाज को नहीं है। मेरी समझ में किसी को दमन करने का उसे सताने की शक्ति या सत्ता का अस्तित्व ही अनुचित है। गवर्नमेण्ट को इस प्रकार की सत्ता को काम में लाने का कोई अधिकार नहीं है। फिर चाहे वह गवर्नमेण्ट कितनी ही अच्छी या बुरी क्यों न हो। प्रजा के विचार के विरुद्ध इस प्रकार की शक्ति काम में लाना जितना बुरा है उतना ही, बल्कि उससे भी ज्यादा बुरा प्रजा की तरफ़ से या प्रजा के विचार के अनुसार उसे काम में लाना भी है। कल्पना कीजिए कि एक मनुष्य को छोड़ कर दुनिया भर के मनुष्यों के विचार एक तरह के हैं। और अकेले एक मनुष्य के विचार एक तरह के हैं। और अकेले एक मनुष्य के विचार दूसरी तरह के। यह भी कल्पना कर लीजिए कि उस अकेले आदमी का सामर्थ्य बहुत बढ़ा चढ़ा है तो भी दुनिया भर के आदमियों का मुँह बन्द कर देना उसके उसके लिए जैसे न्याय संगत न होगा वैसे ही उस अकेले आदमी का मुँह बन्द करना भी दुनिया भर के मनुष्यों के लिए न्याय संगत न होगा। विचार पर किसी एक मनुष्य का इजारा नहीं।

वह ऐसी वस्तु नहीं जिससे किसी के व्यक्तिगत स्वार्थ ही की सिद्धि हो। या उसके नष्ट हो जाने से किसी एक ही व्यक्ति की हानि हो। नहीं, विचार एक ऐसी बहुमूल्य वस्तु है कि उसका प्रतिबन्ध करना, मनुष्य जाति तक उसके पहुँचने का मार्ग बन्द करना मानों मनुष्य-जाति का सर्वस्व लूट लेना है। किसी को अपने विचार प्रकट न करने देने से जो हानि होने की सम्भावना है वह बहुत भारी है। इस हानि से केवल वर्तमान पीढ़ी को ही हानि नहीं पहुँचती प्रत्युत होनेवाली संतति को भी हानि पहुँचने का डर रहता है।

आजकल यह विचार बड़ा प्रबल हो रहा है कि जो विचार समाज के लिए अनिष्टकर है, जिससे समाज की शक्ति में बाधा पड़ने का डर है, जो सामाजिक जीवन में तहलका मचा देनेवाला है, जो असत्य है, उसके प्रचार पर राज्य और समाज की ओर से कानून के द्वारा नियंत्रण करना अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार का निर्णय करते समय निर्णायक लोग एक बहुत ही भयंकर भूल करते हैं। जो संसार की ज्ञानोन्नति में बहुत भारी विघ्न करती है। इस प्रकार का निर्णय करते समय वे अपने आपको इतना विद्वान समझ लेते हैं कि हम से कभी कोई भूल ही नहीं हो सकती। वे इस प्रकार का फैसला देते समय अपने को सारी दुनिया का प्रतिनिधि समझ लेते हैं। इस बात को वे बिलकुल भूल जाते हैं कि जगत् में उनके ज्ञान से आगे बढ़ा हुआ भी कोई ज्ञान है, उनकी समझ से भी अधिक सत्य कोई दूसरी समझ है। सैद्धान्तिक रूप से प्रत्येक मनुष्य अपने आपको कभी पूर्ण नहीं समझता। वह जानता है कि मुझ

से भूल हो सकती है। पर व्यवहार में अपने विचारों का उपयोग करते समय वह इस बात को जरा भी नहीं सोचता कि सम्भव है जो बात मैं बतला रहा हूँ वही आगे जाकर भ्रान्ति पूर्ण ठहर जाय और जिस बात को रोकने के लिए हम कानून बना रहे हैं वही बात आगे जाकर मनुष्य जाति के लिए हित कर सिद्ध हो जाय।

इस प्रकार के प्रतिबन्ध से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हानि यह होती है कि इससे सत्य का बराबर प्रकाश नहीं होने पाता। वह दबोच दिया जाता है। सत्य एक ऐसी वस्तु है, जो विरोध से दबता नहीं, प्रत्युत अधिकाधिक प्रकाशित होता है। जो सिद्धान्त विरोध से डरता है, जो सिद्धान्त समालोचना से नष्ट हो जाता है, वह सिद्धान्त सत्य का नहीं कहा जा सकता। सत्य का सिद्धांत वही है जो लाखों विरोधों के बीच में से अक्षुण्ण भाव से लौट आता है। यदि मनुष्य को कोई सिद्धान्त सत्य मालूम होता हो तो उसका कर्तव्य है कि वह उस सिद्धान्त को खुले आम रख कर सारी दुनिया को उसका खण्डन करने के लिए चुनौती दे दे। जो सिद्धान्त दुनिया के विरोध के भीतर से जिन्दा चला आयगा; वह जितना महत्त्व पूर्ण होगा, उसके आगे उस सिद्धान्त का महत्त्व कुछ भी न रहेगा जो अपने विरोध से डराता है।

कानून के द्वारा मनुष्यों की जबान पर इस प्रकार ताले लगा देना सचमुच बहुत अनिष्ट कर है। मानव-बुद्धि अभी तक इतनी अपूर्ण है कि वह कभी यह दावा ही नहीं कर सकती कि मुझ से कभी कोई भूल नहीं हो सकती। मनुष्य के ज्ञान का क्षेत्र बहुत ही परिमित है। संसार के जितने हिस्से से उसका काम पड़ता है

वही उसका संसार है। जो आदमी जिस देश और जिस काल में रहता है उसी को दुनिया समझता है। इसके सिवाय दूसरे काल और दूसरे देश को वह अपने ज्ञान की सीमा के भीतर नहीं समझता। वहां के आदमियों की राय उसकी राय से बिलकुल विपरीत है यह बात मालूम हो जाने पर भी उसका विश्वास अपनी राय पर से नहीं हटता। उसके मन में यह बात नहीं आती कि किसी एक देश-किसी एक काल के मत पर विश्वास करना सिर्फ इत्तिफ़ाक की बात है—सिर्फ एक आकस्मिक घटना है। वह इस बात का विचार नहीं करता कि जिस परिस्थिति के फेर में पड़ कर वह भारतवर्ष में ब्राह्मण हुआ है उसी परिस्थिति से वह चीन में बौद्ध या इङ्गलेण्ड में ईसाई होता। वह कभी इस विचार को मन में स्थान नहीं देता। इस प्रकार की भूल जिस प्रकार एक व्यक्ति से होती है उसी प्रकार एक पुश्त की पुश्त से भी हो सकती है। इतिहास में इस बात के बहुत से प्रमाण मिल सकते हैं। यह बात तो बहुत साधारण है कि एक पुश्त को जो नियम बहुत उपयोगी और निर्भ्रान्त मालूम हुए हैं वे ही आगे जाकर दूसरी पुश्त के काल में बहुत अनर्थकारी और घातक सिद्ध हुए हैं।

ऐसी स्थिति में जब हम यह देखते हैं कि बड़े से बड़े आदमियों के मत भी जो किसी समय में निर्भ्रान्त माने जाते थे आगे जाकर परिवर्तित हो गये हैं—अपने आपके मत को निर्भ्रांत मान कर उसके खण्डन करनेवाले के मुंह पर कानून से ताला देना समाज का कितना भारी नुकसान कर लेना है। कई लोग किसी व्यक्ति के मत पर इस बात की आड़ में प्रतिबन्ध लगवाने

की चेष्टा करते हैं कि बहु मत उसकी राय को असत्य और घातक समझते हैं पर वे यह नहीं जानते कि जिस प्रकार एक व्यक्ति कोई भूल कर सकता है उसी प्रकार बहुत से व्यक्तियों का समुदाय भी कर सकता है। इस प्रकार के उदाहरण इतिहास में स्थान स्थान पर भरे पड़े हैं। जिस समय "गैलिलिओ" ने यह प्रतिपादित किया था कि सूर्य नहीं पृथ्वी घूमती है, उस समय सारे जन समुदाय ने उसे पागल करार दिया था। "न्यूटन" ने पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का आविष्कार किया था उस समय भी सारा जन-समुदाय उसके भी विरोध में था, मगर आज क्या हालत है ? आज संसार उस "गैलिलिओ" और "न्यूटन" की प्रतिष्ठा करता है। उनके सिद्धान्तों को सत्य और निर्भ्रान्त समझता है। और उन विरोधियों के समुदाय को अज्ञानी अत्याचारी कहता है।

मिल का कथन है कि " आजकल लोगों को विश्वास तो किसी बात पर नहीं होता पर अविश्वास जाहिर करने में उन्हें बड़ा भय लगता है। इस समय कोई भी विश्वास पूर्वक यह नहीं कह सकता कि हमारा मत बिलकुल सच्चा है—जो राय हमारी है उसमें शङ्का करने को ज़रा भी जगह नहीं है। परन्तु लोग यह समझते हैं कि यदि हमारे मत निश्चित न होंगे, यदि हम विशेष विशेष बातों पर दृढ़ न रहेंगे तो हमारा काम ही न चलेगा, संसार में रहना भी हमारे लिए कठिन हो जायगा। वे लोग यह नहीं कहते कि अमुक राय या अमुक सम्मति निर्दोष है इसलिए उसे ग्रहण करना चाहिए। प्रत्युत वे यह कहते हैं कि अमुक बात से समाज का प्रत्यक्ष लाभ हो रहा है अतः उसके सम्बंध में तर्क

वितर्क करते बैठना व्यर्थ है। जिन बातों का कर्तव्य से घना सम्बन्ध है उनके सच होने में पूरा पूरा निश्चय न भी हो तो भी बहुमत के आधार पर उनको जारी रखना और उनके अनुसार काम करना गवर्नमेण्ट का कर्तव्य है। यहाँ तक कि यदि कोई विचारशील पुरुष ऐसी बातों के विरोध में कभी कुछ कह देता है तो लोग उसकी भलमनसाहत में भी सन्देह करने लग जाते हैं।

ऐसे लोग कहते हैं कि किसी विषय के वादविवाद को इस लिए नहीं रोका जाता कि वह सत्य या झूठ है। वह तो विषय की उपयोगिता तथा अनुपयोगिता पर अवलम्बित रहता है। अर्थात् इस बात का विचार नहीं किया जाता कि वह विषय सत्य है या असत्य। विचार केवल इस बात का किया जाता है कि वह उपयोगी है या नहीं। उससे कुछ काम निकलता है या नहीं? यदि उससे कुछ काम निकलने की सम्भावना है तो उसके विरोध में विचार प्रकट करने की या वाद-विवाद करने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। पर इस प्रकार की दलील देने वाले भी उसी गहरी भूल में पड़ जाते हैं जिसमें विचार-स्वातंत्र्य के दूसरे विरोधी पड़ते हैं। क्योंकि किसी विषय को उपयोगी या निरुपयोगी समझना भी तो सिर्फ राय की बात है। जिस बात को एक आदमी उपयोगी समझते हैं उसे सम्भव है दूसरे लोग उपयोगी न समझें। ऐसी स्थिति में उसकी उपयोगिता साबित करने के लिए भी तो विचार करने की आवश्यकता है। जो बात बिना विचारे केवल कुछ था बहुत लोगों की मर्जी के अनुसार सत्य मान ली जायगी, जिस बात में विरोधियों को बोलने का

मौका न दिया जायगा वह बात निर्दोष, सत्य अथवा उपयोगी निर्धारित रूप से केसे कही जा सकती है ?

कई लोगों का यह मत है कि निरुपयोगी बातों को आज़ादी दे देने से समाज में अव्यवस्था फैल जाती है अतः ऐसी बातों की विवेचना पर बन्धन होना आवश्यक है। पर सच यह है कि जो बात भिन्न भिन्न प्रकार की विवेचनाओं के द्वारा झूठी, असत्य और हानिकर साबित हो जाती हैं उससे लोग जितना डरते हैं उतना उन बातों से नहीं डरते जो केवल कल्पना के आधार पर बिना विवेचना के हानिकारक ठहरा दी गई हो। मसलन जो मनुष्य ब्रह्मचर्य्य के गुणों को और व्यभिचार की बुराइयों को नाना प्रकार के तर्कों और विवेचनाओं के द्वारा भली प्रकार समझ गया है वह व्यभिचार से स्वाभावतः जितना दूर रहेगा उतना वह व्यक्ति नहीं रह सकता जो बिना तर्क-विवेचना के उस बात को "बाबा वाक्यं प्रमाणं" मानता आ रहा है। कोई बात खाली उपदेशों से तब तक नहीं रुक सकती जब तक पूर्ण विचार और विवेचना के साथ उसको प्रतिपादित न कर दिया जाय।

इस विवेचना से मालूम होता है कि समाज के स्वास्थ्य के लिए व्यक्ति-स्वाधीनता और विचार-स्वाधीनता की कितनी बड़ी आवश्यकता है। इन स्वाधीनताओं पर अनुचित हस्तक्षेप करते रहने के कारण अभी तक समाज जैसी चाहिए वैसी उन्नति के पथ पर नहीं आ सका। इन स्वाधीनताओं में आनेवाली बाधाओं ने अब तक मनुष्य जाति को बहुत रोक रक्खा है। कई लोग यह समझते हैं कि इन बातों में पूर्ण स्वाधीनता होने से, मनुष्य की

स्वाभाविक उच्छृंखलता पर बहुत बुरी असर डालेगी। जिससे समाज नष्ट भ्रष्ट हो जायगा। इस विचार को पोषण करनेवाले दुनिया में आज भी कई विचारक मिलते हैं। वे व्यक्तिगत स्वाधीनता की आवश्यकता तो अनुभव करते हैं पर मन ही मन में इनके द्वारा होनेवाले अनिष्टों की कल्पना कर इन बातों को मुँह पर लाते हुए भी काँपते हैं। वे बड़े डर डर कर स्वाधीनता सम्बन्धी छोटे छोटे अधिकारों का प्रतिपादन करते हैं। पर ऐसे लोग बहुत गलती पर हैं। जो समाज वास्तव में व्यक्तिगत स्वाधीनता और विचार-स्वाधीनता का विरोध हो, जिसे इनकी स्वधीन वायु से अपने मुरझाने और नष्ट-भ्रष्ट होने का डर है उसकी रचना ही अपूर्ण है। उत्कृष्ट समाज-रचना वही है जो व्यक्तिगत स्वाधीनता से नष्ट भ्रष्ट नहीं होती प्रत्युत उससे फलती फूलती है। जो समाज-रचना अपने संगठन की रक्षा करते हुए व्यक्ति को जितनी अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करती है, वह सफलता के उतनी ही समीप जाती है। हम स्वयं जानते हैं, समष्टिगत अज्ञान की अवस्था में अवश्य ऐसी स्वाधीनता से कई प्रकार के अनिष्ट उत्पन्न हो जाते हैं जो समाज-नीति के लिए भयंकर साबित होते हैं। पर इसका वास्तविक इलाज यही है कि मनुष्य अपनी स्वाधीनता का सदुपयोग कर सके। इसके विपरीत जो लोग अज्ञान का नाश करने के बजाय इन अनिष्टों से बचने के लिए मानव-स्वाधीनता के पैरों में बेड़ियाँ डालते हैं वे मानों विश्व की प्रगति के मार्ग में कांटे बिछाते हैं। वे इस बात को नहीं जानते कि अनिष्ट अज्ञान से होते हैं स्वाधीनता से नहीं। हम फिर से दुहरा कर इस बात को कहते हैं कि पारम्परिक संस्कार गत गुलाम की

भावनाओं के कारण चाहे आज की समाज-रचना व्यक्ति पर बन्ध डालने में शायद् अपनी सफलता समझती हो पर ज्यों ज्यों इसका स्वरूप विकसित होता जायगा त्यों त्यों यह व्यक्ति-स्वातंत्र्य के समीप पहुँचती जायगी।

चौथा अध्याय

धार्मिक-स्वाधीनता

अब हम उस स्वाधीनता पर थोड़ासा विवेचन करना चाहते हैं जिसके अभाव ने अब तक दुनिया में बड़े बड़े अनर्थ किये हैं, खून की नदियां बहाई हैं, दुनिया की छाती पर अत्याचार का ताण्डव नृत्य करवाया है, मनुष्य को पिशाच बनाकर उसके द्वारा नाना प्रकार के नारकीय-काण्ड करवाये हैं, पवित्रता की आड़ में मनुष्य-जाति को यंत्रणाओं की चक्की में पीसा है। इसका बहुत कुछ विवेचन उदाहरणों के साथ पहले हो चुका है। बार बार उनका विवेचन होने से पुनरुक्ति-दोष आने की सम्भावना है फिर भी प्रसङ्गवशात् इसका थोड़ा बहुत उल्लेख कर देना आवश्यक है।

जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार स्वाभाविक रूप से प्राप्त है कि वह इच्छानुसार भोजन करे, पानी पिये, वस्त्र पहने, व्यापार करे उसी प्रकार यह अधिकार भी उसे स्वाभाविक रूपसे है कि वह अपने इच्छानुरूप धर्म पालन करे, जैसे उसके विश्वास हों, जो बात उसके तर्क में जँच गई हो, उसी के अनुसार वह व्यवहार करे, उसी का प्रचार करे। इस प्रकार के स्वाभाविक अधिकार में बाधा देने का किसी को कोई अधिकार नहीं है।

कई लोग सत्य प्रचार के बहाने कहते हैं कि "हमारा मजहब सच्चा है, उसके तत्त्व बहुत सच्चे हैं, वे सर्वज्ञ के द्वारा कहे

हुए हैं, उनके प्रचार से मनुष्य समाज का इस लोक और पर-लोक दोनों में कल्याण होगा। इसी लिए हम इनका प्रचार करते हैं।"

इस प्रकार कहने वाले मानों इस कथन के द्वारा यह सिद्ध करना चाहते हैं, कि हमारे विश्वास ही दुनिया में सबसे अधिक सत्य हैं और सब लोगों के विश्वास झूठे हैं। इसी प्रकार जब दूसरे मजहब वाले भी यही बात कहते हैं तो ये उससे लड़ पड़ते हैं। जब वादानुवाद में इनका निपटारा नहीं होता तब ये शारीरिक बल के द्वारा आपस में अपनी बातें दूसरों को मानने के लिए मजबूर करते हैं। जो मनुष्य इनके मजहब के खिलाफ कुछ ज़बान उठाता है उसका ये मूलोच्छेद ही कर डालते हैं।

बुद्धि का यह कैसा दिवाला है। उसका यह कितना झूठा अभिमान है। इस अभिमान की झोंक में वह इतना मतवाला हो जाता है कि दूसरे लोगों को बोलने का अवसर ही नहीं देता। मनुष्य के इसी अविवेक से वे प्रसङ्ग उपस्थित होते हैं जिनमें एक पुश्त के आदमी ऐसी ऐसी भयङ्कर गलतियां करते हैं जिनका खयाल करके अगलो पुश्तवालों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। बड़े बड़े महापुरुषों के उदार मतों को ये बातें जड़ से उखाड़ कर फेंक देती हैं। यही वे प्रसङ्ग हैं जिनके द्वारा मनुष्यत्व की हत्या होती है, सदाचार का गला घोंट दिया जाता है, न्याय का कचूमर कर दिया जाता है। इस बात को याद करके भी अपार दुःख होता है कि ऐसे ही प्रसङ्गों के फेर में पड़ कर बड़े बड़े सत्पुरुषों का—बड़े बड़े महात्माओं तक को मार डाला गया है। पर, हाँ यह जरूर कुछ सन्तोष की बात है कि फिर भी उनके मतों का

कुछ अंश अब तक बाकी है। जो लोग ऐसे मतों का प्रतिवाद करते हैं—मानों उनकी दिल्लगी करने ही के लिए वे अब तक विद्यमान हैं।

महात्मा सुकरात का जीवन इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण है। आज इस महात्मा का यश सारे संसार में फैला हुआ है। पर उस समय के समाज का धार्मिक विश्वास सुकरात के विचारों से भिन्न प्रकार का था। उस समय का कानून भी समाज ही के पक्ष में था। जो लोग सुकरात से और उसके समय से अच्छी तरह परिचित थे उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि सुकरात के बराबर नीतिमान् और सदाचारी पुरुष उस समय दूसरा कोई नहीं था। यही प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो का गुरु था। इस महान् तत्त्वज्ञानी, सदाचारी और नीतिमान् महात्मा पर उस समय समाज ने दुराचार और नास्तिकता का इलजाम लगाया था। उसकी नास्तिकता यही थी कि सारा देश जिन देवताओं को पूज्य समझता था उन पर उसका विश्वास न था। उसका दुराचार यह था कि उसने अपने सिद्धान्त और उपदेशों से लड़कों के खयालात बिगाड़ दिये थे। बस, केवल इन्हीं अपराधों पर उस समय मैजिस्ट्रेट ने उसे एक साधारण मनुष्य की तरह मार डालने का हुक्म दिया था।

इसी प्रकार जिस महात्मा की उपासना आज सारा ईसाई जगत् कर रहा है, उस मसीह ईसा का वध भी बड़ी बेइज्जती के साथ किया गया था क्योंकि उस समय के लोगों ने उन्हें भी धर्म्म-द्वेषी समझा था।

पैगम्बर साहब को आज करोड़ों मुसलमान भक्ति की निगाह से देखते हैं, उनकी इबादत करते हैं। पर पैगम्बर यदि उस समय

मक्का से भाग कर मदीने नहीं आते तो उनकी क्या दशा होती इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनको भी शुरू शुरू में वहां के निवासियों ने नास्तिक समझा था।

यही हालत मन्सूर और शम्स तबरेज की भी हुई। हिन्दुओं का धार्मिक इतिहास इस प्रकार की हत्या पूर्ण घटनाओं से कलंकित नहीं हुआ है। पर फिर भी धर्म ग्रन्थों में असहिष्णुता तो अवश्य ही थी। और इसके कारण भिन्न भिन्न मत वादियों ने एक दूसरे पर अन्याय अत्याचार किये हैं।

और एक मार्के की घटना का वर्णन करना हम यहां आवश्यक समझते हैं। यह उदाहरण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है :—

प्राचीन रोम में मार्कस आरेलियस नामक एक बड़ा प्रतापी बादशाह रहता था। यह बड़ा न्यायी प्रजा पालक और संयमी था यूरोप के जितने देश उस समय सभ्यता को पहुँचे थे उन सबका एक छत्र राजा होकर भी आमरण उसने अत्यन्त शुद्ध और निर्दोष न्याय किया। प्रजा से वह बहुत प्यार करता था। अपने ग्रन्थों में उसने नीतिमत्ता और सदाचार पर बहुत ही अधिक जोर दिया है। क्राइस्ट के उपदेशों में और उसके उपदेशों में कोई भी तात्विक भेद नहीं है। आज तक जितने भी ईसाई बादशाह हुए हैं उन सबकी अपेक्षा यह बादशाह अधिक ईसाई (धार्मिक) कहलाने के योग्य था। पर वह ईसाई न था। बस केवल इसी बाहरी अन्तर के कारण इस महा धार्मिक बादशाह ने इसाइयों के साथ द्रोह किया। उन्हें बेहद सताया। यदि कोई यह कहे कि किसी द्वेष भाव से प्रेरित होकर, उसने यह काम किया तो सचमुच ऐसा कहने वाले उसके प्रति बड़ा अन्याय करेंगे। उसका

उद्देश्य बड़ा महान था। उसका विचार था कि मेरे रहते मनुष्य समाज की शान्ति में किसी प्रकार का विघ्न न पड़े। उसकी एकता न टूटे, इसी कारण वह प्राचीनता का पक्षपाती था। ईसाई धर्म नया था, पुराने रीति रिवाजों के विरोध में वह खड़ा हुआ था। अतएव उसकी बुद्धि में यह जंच गया कि इस धर्म से मनुष्य समाज छिन्न भिन्न हो जायगा। वह यह नहीं जानता था कि नवीनता पाप नहीं है, परिवर्तन सर्वनाश नहीं है। वह नहीं जानता था कि पुराने रीति रिवाजों के नष्ट होने पर उनके स्थान पर नवीन रीति रिवाजों की पुनः प्रतिष्ठा हो सकती है। इसी गलत फहमी में, इसी विश्वास में पड़ कर उसने ईसाई धर्म के उच्छेद करने ही में कल्याण समझा। इतना न्यायी संयमी और बुद्धिमान होने पर भी उसके राज्य में ईसाइयों पर बेहद अत्याचार हुए।

आजकल के धर्माभिमानी लोग इस प्रकार के अत्याचार करनेवालों को गालियां देते हैं। सुकरात को दी हुई अन्याय-पूर्ण सजा को सुन कर वे कान बन्द कर लेते हैं, ईसा के निर्दयता पूर्ण वध का स्मरण कर वे त्राहिमाम् कर उठते हैं। मार्कस आरोलियस के अत्याचारों की कहानी पढ़ते-पढ़ते उनके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मुहम्मद पैगम्बर पर किये गये अत्याचारों, और हसन-हुसैन की करुणाजनक मृत्यु का वृत्तान्त सुन कर वे आंसू बहाने लगते हैं। पर वास्तव में देखा जाय तो जिन लोगों ने ऐसे-ऐसे दुष्कर्म किये वे व्यक्तिगत रूप से दुर्जन या दुराचारी न थे। बल्कि साधारण श्रेणी के मनुष्यों से वे किसी कदर अच्छे ही थे। धर्म, नीति और स्वदेशाभिमान भी उनमें बहुत काफी था। पर

उनमें तनिक दोष था। अपने सिद्धान्तों पर उन्हें इतना अन्ध विश्वास था कि वे उसका तनिक भी विरोध नहीं सह सकते थे।

इस प्रकार के दुनिया में जितने भी पाप, हत्या और रक्त-पात के बीभत्स काण्ड हुए हैं, वे किसी व्यक्ति विशेष की क्रूरता या दुष्टता के परिणाम नहीं है प्रत्युत एक भयंकर सिद्धान्त के परिणाम हैं। इसके दोषी उस समय के व्यक्ति नहीं है प्रत्युत वही सिद्धान्त हैं, जो उस समय भी प्रचलित था और आज भी है। कैसा आश्चर्य्य है, वही लोग जो इन अत्याचारों की कहानि सुन कर तौबा पुकार उठते हैं, स्वयं ही इस अत्याचारी सिद्धान्त के फेर में पड़ जाते हैं। इमाम हुसैन की निर्दयता पूर्ण हत्या पर आठ-आठ आंसू बहानेवाले मुसलमानों ने अपने से दूसरे धर्म का पालन करनेवालों पर क्या उससे भी भयंकर अत्याचार नहीं किये हैं? क्या एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ में तलवार पकड़ कर उन्होंने सब्ज धरती पर खून की लाल नदियाँ नहीं बहाई है? ईसा के पथ पर आकाश और पाताल का कुलाबा मिला देनेवाले इसाईयों ने क्या स्वतन्त्र विचार का आश्रय ग्रहण करनेवाले लोगों पर पाशविक अत्याचार नहीं किये हैं? सच बात तो यह है कि धार्मिक स्वार्थ भी मनुष्य को अन्धा बना देता है—उसके विवेक पर परदा डाल देता है। इसके वश होकर मनुष्य वही काम करने को तैयार हो जाता है जिसको करनेवाले दूसरे मनुष्य को वह महापापी और अधम समझता है।

जिस सिद्धान्त की वजह से भूतकाल में उपर्युक्त घटनाएं घटित हुई, वही सिद्धान्त आज भी समाज में नाना प्रकार की भीषण-ताओं का कारण बना हुआ है। विज्ञान के आविष्कारों की सहायता

से विश्व के सब मनुष्य अब परस्पर में मिलने को उत्सुक हो रहे हैं, मगर यही सिद्धान्त उनको मिलने से रोक रहा है, उनके मनुष्यत्व में अन्तर डाल रहा है, उनके बीच में भेद भाव की दीवार खड़ी कर रहा है। इसी क्षुद्र सिद्धान्त के वश होकर हिन्दू और मुसलमान मनुष्यत्व के महान् सिद्धान्त को भूल कर आपस में कुत्तों की तरह लड़ रहे हैं और हिन्दू, बौद्ध, जैन, तथा मुसलमान अपने को जुदा-जुदा समझ रहे हैं। सब अपने आपको पवित्र और शेष सब को अपवित्र समझते हैं। यही सिद्धान्त मनुष्य जाति को मनुष्यत्व से पाशवास्था में डाल रहा है।

वह सिद्धान्त है "निर्बुद्ध हो अन्ध श्रद्धा की धार में बहते हुए, आंखें मूंद कर अपनी बात रटते जाना और दूसरे का विरोध करना।" वह सत्य को नहीं विरोधियों को खोजता फिरता है। वास्तव में देखा जाय तो समस्त धर्मों के मूलभूत सिद्धान्त मनुष्यत्व के पोषक हैं और वे प्रायः सभी धर्मों में समान रूप से पाये जाते हैं। उनके विषय में कोई मतभेद नहीं। मतभेद केवल ऊपरी, छोटी-छोटी और तफसील की बातों में होता है, जिनमें तत्त्व को जरा भी स्थान नहीं रहता। केवल देश, काल और पात्र का ख्याल कर धर्म पालन की सुविधा का ख्याल किया जाता है। पर मनुष्य जाति की कैसी दयनीय स्थिति है? बीजों को छोड़ कर छिलकों के लिए कुत्तों की भांति लड़ना, शायद इसी जाति के भाग्य में बदा है।

ओ मूर्ख मनुष्य! तू खूब लड़ ले आपस में कट मर पर यदि लड़ते-लड़ते तेरा जोश ठण्ढा हुआ, कहीं तेरे दिमाग में बुद्धि की किरणों का प्रवेश हो सका तो तू देखेगा कि सहिष्णुता—अहिंसा

ही धर्म प्राप्ति का राजमार्ग है। जब तक तू शान्ति-पूर्वक अपने धर्म तत्त्व दूसरे को न समझावेगा। अथवा प्रतिपक्षी की बातें न सुनेगा तब तक तू शुद्ध पशु ही बना रहेगा और अपनी पाशविकता से भक्तों की नहीं अपने ही जैसे मूर्ख, बुद्धिहीन, और ईश्वर द्वेषी पशुओं की संख्या-मात्र बढ़ावेगा।

पांचवां अध्याय

आर्थिक-स्वाधीनता

विज्ञान का उदय होने के पहले समाज में धार्मिक और सामाजिक गुलामी का प्रचार बड़े जोरों से हो रहा था। विज्ञान के प्रचार ने ज्ञान और वास्तविकता का प्रत्यक्ष दर्शन करवा कर इन गुलामियों को बहुत हद तक दूर कर दिया है। यद्यपि संसार में इनका अस्तित्व अब भी विद्यमान है और करोड़ों मनुष्य अभी इनके फेर में पड़े हुए हैं, फिर भी प्रत्येक विचारवान इस बात को भली प्रकार समझ सकता है कि अब इनके पतन का समय है, मनुष्य जाति अब इनकी असलियत को समझ गई है। पर विज्ञान के उदय से संसार में एक नवीन गुलामी का प्रादुर्भाव हुआ है। इन सब गुलामियों का स्थान अब आर्थिक गुलामी ने ग्रहण कर लिया है।

विज्ञान का सबसे बड़ा और भयङ्कर दुष्परिणाम जो विचारवानों के मस्तिष्क में शूल की तरह खटक रहा है वह है संसार में आर्थिक पराधीनता का प्रादुर्भाव। कई लोगों का यह कथन है—और हम भी इससे सहमत हैं कि यह विज्ञान की वास्तविकता का परिणाम नहीं है, बल्कि विज्ञान की कृपा से संसार में जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई है उसका परिणाम है। ज्यों-ज्यों यह प्रति क्रिया शान्त होती जायगी त्यों त्यों वह आर्थिक पराधीनता की समस्या भी हल होती जायगी। विज्ञान का अन्तिम और सच्चा परिणाम वैषम्यवाद

नहीं प्रत्युत साम्यवाद है। कुछ भी हो, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि इस समय जगत् में अर्थ का प्रश्न सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण हो रहा है। इस समय मनुष्य का धर्म, कर्म, विश्वास सब अर्थ की ओर झुका हुआ है। उसका उपास्य देवता ही अर्थ हो रहा है। जो लोग धर्म के अन्दर बड़ी बड़ी डींगे हांकते हैं, जो समाज में बड़े बड़े पंचों के स्थान पर बैठते हैं, जो मजहब वाद की छोटी छोटी और कपोल कल्पित बातों के लिए मूर्खों की तरह जान कुरबान करने को तैय्यार हो जाते हैं, वे ही अपने और अपने बाल बच्चों की पेट पूजा के लिए दस दस रुपये की नौकरी प्राप्त करने के लिए साहब बहादुर के बंगलों पर जूतियाँ चटकाते फिरते हैं। इस आर्थिक गुलामी ने दुनिया में रोटी के प्रश्न को बहुत विकट कर दिया है। अब तक संसार पर ब्राह्मणों और क्षत्रियों का साम्राज्य हो रहा था। अब तक मनुष्य जाति ने इन्हीं दोनों श्रेणियों के अत्याचार सहन किये थे। पर अब उस पर बनियों का साम्राज्य प्रारम्भ हुआ है। अब उसे बनिया-शाही का अत्याचार सहन करना पड़ रहा है। यह बनियाशाही संसार के लिए बड़ा भारी शाप है।

(१) आर्थिक पराधीनता से समाज में सब से बड़ा अनिष्ट जो घटित होता है वह यह कि समाज के अन्दर अर्थ का अभाव और प्रभाव समष्टिगत हो जाते हैं। जिस प्रकार अर्थ का अभाव समाज के लिए हानि कर होता है उसी प्रकार बल्कि उससे भी अधिक उसका प्रभाव भी उसके लिए हानिकारक होता है। अर्थ के अभाव और प्रभाव दोनों ही से समाज का सदाचार गिर जाता है। अभाव-सम्पन्न व्यक्ति अर्थ की प्राप्ति के लिए

नाना प्रकार के दुराचार और छलछिद्र में प्रवाहित हो जाते हैं। धनाभाव के कारण सैकड़ों स्त्रियाँ वैश्यावृत्ति को ग्रहण कर लेती है, सैकड़ों मनुष्य सट्टा, जुआ, चोरी आदि भ्रष्ट व्यवसायों में महा पाप का अनुभव करते हुए भी सम्मिलित हो जाते हैं, बीसियों तत्त्वज्ञानी अपने कुटुम्ब का भरण पोषण न कर सकने की वजह से अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध काम करने को तैयार हो जाते हैं। इधर अर्थ के प्रभाव से प्रभावित व्यक्ति अर्थ के मद मे आकर नाना प्रकार के सदाचार विरुद्ध कामों में प्रवृत्त हो जाते हैं। नाच, रङ्ग, खेल, तमाशे, बलात्कार आदि भयङ्कर से भयङ्कर पाप करने पर ये लोग उतारू हो जाते हैं। इनका विरोध करनेवाला भी समाज में कोई नहीं रहता। अच्छे अच्छे शिक्षित और विद्वान् मनुष्य भी नाना प्रकार की चापलूसियों के द्वारा इनके मन को बहलाते रहते हैं। वे इनके भयंकर पाप का भी विरोध नहीं करते। इसके विपरीत उनके जीवन चरित्र छपा छपा कर समाचार पत्रों में उनकी प्रशंसा करके ये लोग उनको और भी उत्तेजित करते रहते हैं। अर्थ का यह भयंकर प्रभाव समाज की मनोवृत्तियों में भी प्रविष्ट हो जाता है। ऐसे युग में शिक्षा, परिश्रम, तत्त्वज्ञान, धर्म आदि सभी बातों से अर्थ का महत्व अधिक समझा जाता है। अर्थ-विहीन सदाचारी और ज्ञानी की अपेक्षा अर्थ सम्पन्न व्यभिचारी और मूर्ख की महत्ता समाज में अधिक हो जाती है। एक दिन अर्थ सम्पन्न व्यक्ति एक अर्थ विहीन तत्वज्ञानी से कह रहा था कि मैं तुम्हारे समान दरिद्र तत्वज्ञानी की अपेक्षा अर्थ सम्पन्न गौहरजान का (एक वैश्या) लाखों दर्जे बढ़ कर समझता हूँ। ये सब अर्थ के प्रभाव के लक्षण है।

(२) अर्थ के अनुचित प्रभाव से दूसरा अनिष्ट यह होता है कि न्याय और कानून अर्थ के हाथ में बिक जाते हैं। अदालत पोलिस, दीवानी, फौजदारी आदि जो संस्थाएँ समाज की शान्ति रक्षा और निष्पक्ष न्याय के लिए बनाई जाती हैं सब अर्थ के अधीन हो जाती हैं। इस युग में इनके फैसले न्याय के पक्ष में नहीं होते प्रत्युत अर्थ के पक्ष में होते हैं। जिन लोगों के पास वकील करने को द्रव्य नहीं है, ऑफिसरों की मुट्ठी गर्म करने को पैसा नहीं है, वे लोग चाहे कितने ही न्याय के पक्ष में क्यों न हों पर शायद कोर्ट की सीढ़ियां चढ़ना भी उनके लिए कठिन हो जायगा। इसके विपरीत अर्थ-सम्पन्न व्यक्ति, व्यभिचार, बलात्कार और यहाँ तक कि हत्या करके भी द्रव्य के जोर से सम्मान के साथ मुक्त हो जाते हैं। मतलब यह कि इस युग में व्यभिचार करना पाप नहीं समझा जाता, अत्याचार करना पाप नहीं समझा जाता, प्रत्युत गरीब होना–निर्धन होना ही सबसे बड़ा पाप समझा जाता है। इस युग के सदाचार की परिभाषा है—श्रीमान् होना और दुराचार की परिभाषा है गरीब होना।

(३) आर्थिक पराधीनता का तीसरा विषमय परिणाम यह होता है कि समाज में अर्थ के अनुसार दो वर्ग हो जाते हैं। एक अर्थ सम्पन्न पूंजीपति वर्ग और दूसरा अर्थविहीन मज़दूर वर्ग। इन दोनों वर्गों के स्वार्थों में बड़ा जबर्दस्त विरोध उत्पन्न हो जाता है। अर्थ सम्पन्न पूंजीपति अपने अर्थ के प्रभाव के नीचे अर्थ विहीन मज़दूर वर्ग को कुचल देना चाहता है—पीस देना चाहता है। वह मनुष्य के शारीरिक, और बौद्धिक परिश्रम पर अर्थ की अबाधित सत्ता कायम करना चाहता है। वह चाहता

है कि दिन भर परिश्रम करके भी ये लोग दरिद्र बने रहें तो अच्छा। इधर मजदूर वर्ग दिन भर सिर तोड़ कर परिश्रम करके भी शाम को भर पेट भोजन नहीं पाता। अपने स्त्री और बच्चों के शरीर पर फटे हुए चिथड़े देखता है, रहने के लिए वायु विहीन और अन्धकार मय मकान पाता है और इसके विपरीत अपने सामने ही दिन रात गद्दी, तकियों पर लेटने वाले मनुष्यों को आनन्द के गुलछर्रे उड़ाता हुआ देखता है। यह सब देख कर वह अपने भाग्य पर निराशा के आँसू बहाता है। धीरे धीरे ज्यों ज्यों उसका अनुभव बढ़ता है त्यों त्यों उसकी निराशा विद्रोह में परिणत होती है। वह समझने लगता है कि ये पूँजीपति इस निर्जीव अर्थ की बदौलत हम सजीव प्राणियों पर अत्याचार करते हैं। इस प्रकार अन्तमें जाकर समाज में इन दोनों के स्वार्थों की टक्कर होने लगती है। आज कल मजदूरों और पूँजीपतियों की यह टक्कर पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। खास कर यूरोप में तो इस टक्कर ने एक प्रकार का तहलका मचा दिया है। यह सब अर्थ के अनुचित प्रभाव का ही परिणाम है।

(४) आर्थिक पराधीनता का चौथा नाशकारी परिणाम समाज में समष्टिगत नौकरी की वृद्धि है। कॉलेज और स्कूलों से बड़ी बड़ी महत्वाकांक्षा लेकर निकलने वाले युवक समाज में आकर अर्थ के अभाव से बड़े दुःखी होते हैं। वे न तो कोई आविष्कार कर सकते हैं न स्वतन्त्र व्यवसाय ही करने में समर्थ हो सकते हैं। इधर कुटुम्ब के लोग पहले ही से उनके मुँह की ओर ताकते रहते हैं। जिसके फल स्वरूप उन्हें शीघ्र ही किसी नौकरी में हाथ डालना पड़ता। इस प्रकार लाखों नवयुवक अपनी बड़ी बड़ी

महत्त्वाकांक्षाओं पर पानी फेर कर गुलामी के अमर शिकंजे में फँस जाते हैं।

इस आर्थिक गुलामी के मूल कारणों पर जब हम विचार करते हैं तो हमें इसमें निम्नलिखित बातें प्रधानतया दृष्टिगोचर होती हैं।

(१) आवश्यकताओं की अत्यन्त वृद्धि—यह आर्थिक गुलामी का सबसे प्रधान कारण है। भौतिक विज्ञान के नये नये आविष्कारों ने मनुष्य की आवश्यकताओं को बढ़ाने में बहुत सहायता दी है। इससे हमारा यह मतलब नहीं है कि विज्ञान के द्वारा होने वाले ये आविष्कार बुरे हैं, या इनकी आवश्यकता नहीं है। हम तो मनुष्य-जाति की प्रगति के लिए इनकी अत्यन्त आवश्यकता समझते हैं। हमारा कहने का मतलब यह है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को चाहे जितना बढ़ावे पर वह उन आवश्यकताओं का गुलाम न हो। वह ऐसी स्थिति उत्पन्न न कर ले जिससे उनके लिए उसे दुःखी होने का अवसर आवे। आजकल तो यह हाल है कि लोग अज्ञान के वशवर्ती होकर अपनी आवश्यकताओं के बन्धन में बुरी तरह से फँस गये हैं। वे अपनी आवश्यकताओं को तो बढ़ाते जा रहे हैं और आर्थिक स्थिति की ओर ध्यान ही नहीं देते। फलतः विज्ञान के ये आविष्कार जो मनुष्य जाति के सुख के लिए आविष्कृत हुए थे, उसके दुःख के कारण बन रहे हैं। आवश्यकताओं की इस बेहद बुद्धि ने मनुष्य को आर्थिक गुलामी के पंजे में फंसा रक्खा है।

(२) रीति-रिवाजों और धर्म के नाम पर अर्थ का अनुचित दुरुपयोग यह आर्थिक गुलामी का दूसरा मूल कारण है।

समाज का कितना धन सामाजिक रीति-रिवाजों और धर्म के नाम पर बरबाद हो जाता है इसका शायद कोई अन्दाज भी नहीं कर सकता। इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए भारत वर्ष का दृष्टान्त बहुत उपयुक्त होगा। साधारणतया भारतवर्ष बहुत गरीब देश हैं। करोड़ों मनुष्यों को इस देश में बराबर खाने को भी नहीं मिलता है। फिर भी यहाँ विवाह-शादी, क्रियाकर्म, नुक्ता, यात्रा, ग्रहण, कुम्भ आदि के अवसरों पर अर्थ का जो महायज्ञ होता है उसको देख कर आश्चर्य होता है। गरीब मनुष्य को भी—जिसे समय पर खाने को भी नहीं मिलता, जो पहले ही कर्ज के बोझ से लदा हुआ है, विवाह और नुक्ते के अवसर पर सामाजिक रीति रिवाजों के अनुसार खर्च करना ही पड़ता है। चाहे वह और भी कर्ज के बोझ से क्यों न लद जाय, चाहे उस के लिए जेल ही में क्यों न सड़ना पड़े, अथवा चाहे फिर वह उसके लिए आत्म—हत्या ही क्यों न कर ले। हमने हिसाब तो नहीं लगाया, मगर फिर भी अनुमान से कह सकते हैं कि इन बातों में देश का अरबों रुपया प्रति वर्ष स्वाहा होता होगा। छोटे से छोटे ग्रामों से लेकर बड़े से बड़े शहरों में मिला कर लाखों विवाह शादी और नुक्ते होते हैं। कम से कम दो सौ रुपये और अधिक से अधिक लाखों रुपयों तक एक एक रस्म में खर्च हो जाते हैं। लोग खर्च करते समय कर डालते हैं और बाद में जीवन भर के लिए आर्थिक गुलामी के पंजे में पड़ जाते हैं। यह तो सामाजिक रीति-रिवाजों की बात हुई। अब धार्मिक रीति रिवाजों की ओर देखिए। साल भर में एक दो ग्रहण हो ही जाया करते हैं। इन अवसरों पर सभी प्रधान तीर्थ स्थानों में सूर्य्य या चंद्र की

रक्षा करने के लिए लाखों आदमी एकत्रित होते हैं, इन अवसरों पर यदि प्रति मनुष्य दो रुपया भी खर्च का औसत लगाया जाय तो लाखों ही नहीं वल्कि करोड़ों पर संख्या जा पहुँचती है। इसके अतिरिक्त सनातन धर्मियों का कुम्भ के मेलों पर, जैनियों का तीर्थ स्थानों के मेलों पर, मुसलमानों का उनके मेलों पर, वल्लभ सम्प्रदायों का उनके उत्सवों पर कितना खर्च होता होगा, इसका शायद अभी तक किसी ने अनुमान भी न लगाया होगा। मन्दिरों का बनना उनकी प्रतिष्ठा होना आदि वातें इनसे बिलकुल अलग ही है। इस प्रकार दरिद्र समाज का अरबों रुपया इन अन्य धार्मिक कामों में खर्च हो जाता है। इनकी वजह से शिक्षा प्रचार, स्वास्थ्य संरक्षण, आदि उपयोगी काम ज्यों के त्यों पड़े रहते हैं। और समाज भयङ्कर रूप से आर्थिक गुलामी का शिकार हो जाता है।

(३) समष्टिगत तामस की वृद्धि—मजहब के द्वारा उत्पन्न किये हुए निराशावाद से, तथा सामाजिक और धार्मिक रीति रिवाजों के बेहद खर्च को देख कर,—और उस खर्च के मुकाबिले में अपनी क्षुद्र आमदनी से त्रस्त होकर मनुष्य अत्यन्त निराश आलसी और तमोगुणी हो जाते हैं। व्यापार में तथा नौकरी में उनका चित्त नहीं लगता। ऐसे मनुष्य या तो नशा करके मतवाले रहने लग जाते हैं, या घर की पुजी बेंच-बेंच कर काम चलाते हैं अथवा अन्त में बेईमानी, चोरी इत्यादि दुष्कर्मों में फँस जाते हैं। भारतवर्ष में हजारों आदमी अकर्मण्य अवस्था में अपना जीवन बिता रहे हैं। यह कारण भी आर्थिक गुलामी की जंजीर का मजबूत करने में बड़ा सहायक होता है।

इस प्रकार और भी कई ऐसे कारण बतलाए जाते हैं जो समाज में आर्थिक गुलामी को समष्टिगत करते हैं। आर्थिक स्वाधीनता की रक्षा के लिए इन सब कारणों को रोक देना अत्यंत आवश्यक है। यदि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं पर संयम करके उत्साह के साथ अपने कार्य-क्षेत्र में जुट जाय और यदि समाज, धर्म और सामाजिक रीति रिवाजों के नाम पर होनेवाले अपरिमित द्रव्य को विशेष कानून बना कर नष्ट होने से बचा ले, इसके अतिरिक्त पूँजी और मजदूरी के हकों का न्याय पूर्ण निर्णय समाज अथवा राज्य के द्वारा हो जाय तो समाज में आर्थिक स्वाधीनता समष्टिगत हो सकती है।

छठा अध्याय ।

राजनैतिक-स्वाधीनता

समाज की जीवन रत्ता के लिए राजनैतिक स्वाधीनता की अत्यन्त आवश्यकता है। जिस समाज में राजनैतिक-स्वाधीनता का अस्तित्व नहीं है, उसमें व्यक्ति स्वाधीनता, विचार-स्वाधीनता आदि किसी भी प्रकार की स्वाधीनता की कल्पना नहीं हो सकती। क्योंकि राजनैतिक—स्वाधीनता विहीन समाज में राज्य पत्त और प्रजा पत्त के बीच हित-विरोध का होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में राज्य-पत्त अपनी सत्ता के बल से प्रजा पत्त को कुचल देने का प्रयत्न करता है। उसके सभी प्रयत्नों का अन्तिम लक्ष्य यही रहता है कि प्रजा पत्त का कोई भी व्यक्ति उसके विरोध में सिर न उठा सके। इसके लिए वह स्वाभाविक शित्ता का और उठते हुए स्वाधीन विचारों को नष्ट करने का प्रयत्न करता रहता है।

राजनैतिक स्वाधीनता के बिना जनता का मानसिक और नैतिक विकास होना भी असम्भव है। क्योंकि ऐसे समाज में जनता हमेशा राज्य के भय से अभिभूत रहती है। वह समझती है कि हमारा थोड़ा सा विकास भी हमारे लिए कष्ट का कारण हो जायगा। इसलिए वह अपने विचारों को और अपने विकास दबाए रखती है। उसके सब व्यक्ति एक निर्जीव मशीन की तरह हो जाते हैं। इस प्रकार के समाज में जनता अपनी व्यापारिक

उन्नति भी नहीं कर सकती। क्योंकि व्यापार की सारी कुंजी राज्य अपने हाथ में रखता है। मतलब यह कि राजनैतिक स्वाधीनता के विना समाज किसी भी प्रकार अपनी उन्नति नहीं कर सकता।

इतने विवेचन से यह बात सिद्ध हो चुकी कि बिना राज-नैतिक स्वाधीनता के समाज की गति-विधि स्वाभाविक नहीं हो सकती। समाज की जीवन रक्षा के लिए राजनैतिक स्वधीनता का होना अत्यन्त आवश्यक है। पर इसके साथ ही हम यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि राजनैतिक स्वाधीनता की नींव कई दूसरे सामाजिक तत्त्वों पर अवलम्बित रहती है। जब तक इन तत्त्वों में किसी प्रकार की विकृति नहीं होती तब तक राजनैतिक पराधीनता नष्ट नहीं हो सकती। इन तत्त्वों में विकृति उत्पन्न होने ही से राजनैतिक पराधीनता उत्पन्न होती है और जब तक उन तत्वों में पुनः सुधार नहीं कर लिया जाता तब तक राजनैतिक स्वाधीनता का पुनः उदय होना असम्भव है। जो लोग इन मूल तत्वों में सुधार किये बिना ही राजनैतिक स्वाधीनता को प्राप्त करना चाहते हैं वे मानों जड़ को कायम रख कर वृक्ष को नष्ट करना चाहते हैं। ऐसे लोगों के प्रयत्न से कुछ समय के लिए चाहे स्वाधीनता की झलक दिखलाई देने लगे, पर कुछ समय के पश्चात् वहां फिर वही गुलामी का ताण्डव नृत्य आरम्भ हो जाता है।

राजनैतिक गुलामी के मूल कारणों में समाज-नीति और धर्मनीति की भ्रष्टता तथा संगठन का अभाव ये बातें प्रधान हैं, इनका विस्तृत विवेचन हम इस पुस्तक के दूसरे भाग में करेंगे।

॥ पूर्वार्द्ध समाप्त ॥

उत्तरार्ध

पहला खण्ड

समष्टिगत-असंगठन

पहला अध्याय

(१) जाति-पांति

इस ग्रंथ के प्रथम भाग में समाज-रचना का विवेचन करते हुए हम वर्णाश्रम धर्म की महत्ता का विवेचन कर आये हैं। हम लिख आये हैं कि यदि निर्द्धारित सिद्धान्त के अनुसार ही यह पद्धति व्यवहार में लाई जाय तो अब इस संबंध में जितनी भी प्रणालियां आविष्कृत हुई हैं उन सब से यह श्रेष्ठ सिद्ध हो सकती है। यदि गुण कर्म के अनुसार समाज के चार विभाग कर दिये जांय और उन चारों में समष्टिगत रूप से साम्य-तत्त्व का प्रधान्य रक्खा जाय तो इस व्यवस्था से समाज-रचना के सम्बन्ध की एक बहुत बड़ी कठिनाई हल हो सकती है।

लेकिन इसके साथ ही हम यह भी कहना चाहते हैं कि जिस प्रकार अपने प्रकृत रूप में यह व्यवस्था समाज-रचना सम्बन्धी कई कठिनाइयों को—कई रोगों को दूर कर देती है, उसी प्रकार अपने विकृत रूप में यह समाज में कई नवीन रोगों को उत्पन्न भी कर देती है। यह पद्धति उस पोर के समान है जो अपने शुद्ध रूप में मनुष्य की भीषण से भीषण बीमारियों को दूर करके उसे स्वस्थ और चंगा कर देता है मगर यदि उसमें जरा भी अशुद्धि रह जाय तो वह मनुष्य शरीर में और भी बुरी तरह से फूट निकलता है। जहां शुद्ध रूप में इस पद्धति के द्वारा शान्ति-मय व्यवस्था और साम्य तत्त्व की उत्पत्ति होती है वहां अशुद्ध

रूप में इसका व्यवहार होने से जाति-पांति और छुआछूत के समान महा रोग समाज के शरीर में से फूट निकलते हैं।

अब हम एक दो उदाहरणों के द्वारा अपने इस कथन को सप्रमाण सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे। यह हम पहले ही बतला चुके हैं कि सैद्धान्तिक रूप में इस नतीजे पर चाहे जितने देश में पहुँचे हों। मगर इसका साङ्गोपाङ्ग व्यावहारिक उपयोग तो केवल भारतीय समाज ने ही अपने जीवन में पूर्ण रूप से किया है। जब तक यह व्यवस्था यहां पर शुद्ध रूप में प्रचलित रही, अर्थात् जब तक गुण और कर्म के अनुसार यहां के सामाजिक वर्गों का चुनाव होता रहा, तब तक यहां का समाज, समाज-रचना की दृष्टि से संसार के लिए आदर्श रहा। पर आगे जाकर जनता के प्रमाद से या और किसी कारण से इस पद्धति में विकृति का कीड़ा घुसा और चुनाव की पद्धति ने गुण तथा कर्म का आश्रय छोड़ कर जन्म का आश्रय ग्रहण किया। अर्थात् चारों वर्णों का चुनाव वंश परम्परा की पद्धति से होने लगा। इस पद्धति के अनुसार प्रत्येक मनुष्य पर उसके जन्म के अनुसार वर्ण की चिरस्थायी छाप लग गई। शूद्र की सन्तानें हमेशा के लिए शूद्रत्व में रह गई। कठिन तपस्या करके भी उपर्युक्त तीन वर्णों में आना उनके लिए कठिन हो गया। इधर ब्राह्मणों की सन्तानें हमेशा के लिए बाकायदा ब्राह्मण करार दी गई। इसका विषमय परिणाम यह हुआ कि उच्च वर्ण के प्रत्येक मनुष्य को अपने जन्म और कुल का अभिमान हो गया। वह स्वाभाविक रूप से अपने नीचेवाले वर्ग के प्रति घृणा और अत्याचार करने लगा। ब्राह्मण समझने लगे कि हमारा जन्म ही तीनों वर्णों पर

शासन करने और उनकी सेवा ग्रहण करने के लिए हुआ है; इधर शूद्र विचारे समझने लगे कि परमात्मा ने हमें अत्याचार सहन करने ही के लिए भेजा है। हमारा काम ही सेवा करना और जुल्म सहन करना है। इस भीषण परिणाम से भारत के सामाजिक इतिहास में कितनी अत्याचार पूर्ण, भीषण और दुःखान्त घटनाएं घटी हैं उनका स्मरण करने से भी कलेजा कांप उठता है।

.. केवल यहीं तक होकर समाप्ति नहीं हुई। बात और भी आगे बढ़ी। अब इन उच्च वर्णों में भी अलग-अलग जातियां उत्पन्न होने लगीं। किसी ने समाज में कोई महत्त्व-पूर्ण काम करके दिखला दिया, किसी ने किसी महत्त्व-पूर्ण शास्त्र या स्मृति की रचना कर दी, बस उसी के नाम से एक स्वतंत्र जाति चल निकली। उसके वंशज अपने पूर्वजों के गौरव से फूल कर दूसरों की ओर घृणा पूर्ण दृष्टि से देखने लगे। इस प्रकार प्रत्येक वर्ण में सैकड़ों और सैकड़ों से सहस्रों जातियां फूट निकालीं। ये जातियां परस्पर एक दूसरे से घृणा करने लगीं, इन्होंने आपस में रोटी-बेटी का व्यवहार बन्द कर दिया।

इसका भीषण परिणाम आज हमारी आंखों के सम्मुख है। इस समय भारतीय समाज अठारह हजार जातियों में विभक्त हो रहा है। इन जातियों में कोई संगठन नहीं है, कोई सहयोग नहीं है। कोई पांच बिस्वा है, कोई दस बिस्वा है, कोई बीस बिस्वा है। उसके चौके में यह चला जाता है तो उसका चौका भ्रष्ट हो जाता है। एक की बेटी को दूसरा ग्रहण कर लेता है तो उसकी जाति चली जाती है। मतलब यह कि मनुष्य पशु के साथ भी जितनी घृणा नहीं करता उतनी ये जातियां आपस में एक दूसरे

के साथ करती हैं। ऐसी स्थिति में समाज के अन्दर संगठन कैसे हो सकता है।

यह सब बातें गुण और योग्यता की प्रतिष्ठा नष्ट होने से समाज में उत्पन्न होती हैं। आज भारतवर्ष में सामाजिक दृष्टि से गुण और योग्यता की कोई कदर नहीं है। योग्यता की दृष्टि से मजिस्ट्रेट के आसन पर बैठा हुआ, गुण की दृष्टि से परम विद्वान् और स्वास्थ्य की दृष्टि से बिलकुल स्वच्छ रहनेवाला मनुष्य भी यदि जन्म की दृष्टि से शूद्र है तो समाज में शायद उसके हाथ का छुआ हुआ पानी पीने के लिए भी कोई तैयार न होगा। इधर योग्यता की दृष्टि से निरक्षर भट्टाचार्य्य स्वास्थ्य की दृष्टि से महा गन्दा रहनेवाला, तथा सदाचार की दृष्टि से महा व्यभिचारी और नशेबाज मनुष्य भी यदि जन्मतः ब्राह्मण होगा तो लोग उसकी पूजा करेंगे, उसको भोजन कराने में महान् पुण्य समझेंगे और उसके हाथ का पानी पीने में तो शायद् किसी को भी बाधा न होगी।

वर्णाश्रम धर्म की विकृति का यह पहिला दुष्परिणाम है। इससे समाज की एकता नष्ट होकर वह हजारों जातियों में बिखर जाता है, और पारस्परिक सहयोग होनेवाले जितने लाभ हैं उनसे हाथ धो बैठता है।

मतलब यह कि जाति-जाति की प्रथा समाज के लिए एक एक भयंकर वस्तु है। जो समाज जितनी ही अधिक जातियों में बंटा हुआ रहता है, उसका संगठन करना उतना ही कठिन होता है। ऐसे समाज बहुत शीघ्र पतन की राह पर लग जाते हैं और भगीरथ प्रयत्नों से ही फिर संभलते हैं।

(२) छुआछूत

विकृत वर्णाश्रम पद्धति की जड़ में से उत्पन्न होनेवाल यह दूसरा भयंकर परिणाम है। यह भी इस पद्धति को जन्म के सिद्धान्त पर कायम कर देने की वजह से उत्पन्न होता है। वैसे तो उच्च कोटि के वर्ण शूद्रमात्र के ही प्रति घृणा के भाव रखने लगते हैं। पर उनमें से भी जो शूद्र नीचे दर्जे के काम करनेवाले होते हैं, उनके प्रति तो इन लोगों की घृणा के भाव बहुत ही अधिक बढ़ जाते हैं। उनके हाथ का जल पीना तो दूर रहा, उन्हें छूना, उनकी परछांई का पड़ना मुँह देखना भी ये लोग पाप समझने लगते हैं। इसका कारण यही कि ये लोग उनकी ऐसी सेवाएं करते हैं जो उनकी (उच्च वर्णों की) दृष्टि में बहुत ही घृणास्पद है। जैसे मैला उठाना, मृतक पशुओं का चमड़ा उपयोग में लेकर उन लोगों के जूता बनाना इत्यादि।

इसी प्रकार की विचार पद्धति के फल स्वरूप भारतवर्ष में इन गरीबों के प्रति भयंकर से भयंकर अत्याचार हुए हैं और अब भी हो रहे हैं। यहाँ के उच्च वर्णीय लोग इनको पशुओं से भी अधम समझते आ रहे हैं। मैला खानेवाले कुत्ते और बिल्लियों को तो यहाँ के उच्च वर्णीय कहलाने वाले लोग प्रेम के साथ पालते हैं, उनको खिलाते हैं, उनकी छुआछूत नहीं मानते, उनको नाना प्रकार की शिक्षा देते हैं, मगर इन्सान के बच्चे उनके लिए घृणा के पात्र हैं, इनका मुख देखने से उनकी गति चली जाती है। भूल से यदि उनको छू लिया तो उसके लिए उन्हें प्रायश्चित करना पड़ता है। पहले के जमाने में यदि कोई अछूत किसी उच्च वर्णीय मनुष्य के नजर आ जाय तो उसकी पूरी कमबख्ती आ जाती थी। इधर

तो उच्च वर्णीय मनुष्य को उसके लिए प्रायश्चित करना, उधर बेतों से उसकी पूजा की जाती थी, मारते मारते जब तक वह बेहोश न हो जाता तब तक उसका पीछा न छोड़ा जाता था। इसी प्रकार यदि कोई अछूत अपने कल्याण की इच्छा से कुछ पढ़ता या तपस्या करता तो उसका भी कल्याण न था। महात्मा शूद्रक को केवल तपस्या करने के अपराध ही में परम न्यायी और मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र ने प्राणदण्ड की सजा दी थी। यदि कभी भूल से कोई वेदमंत्र किसी शूद्र के कानों में पड़ जाता तो उसके लिए उसके कानों में खीले तक ठुकवा दिये जाते थे।

इन अत्याचारों की जड़ पर विचार करते करते हमारे मन में सहज ही यह प्रश्न उठता है कि क्या नीच कर्म करने ही की वजह से लोग इनसे इतनी घृणा करते थे? नहीं वह कथन केवल बहाना मात्र है। वैद्यों और दाइयों को भी कई बार इस प्रकार के काम करना पड़ते हैं, यदि यही तत्त्व प्रधान होता तो उस समय इन लोगों के प्रति भी इसी प्रकार की भावनाएँ पाई जाना स्वाभाविक था। मगर हम देखते हैं कि वैद्यों के प्रति उस समय भी बहुत सम्मान के भाव प्रदर्शित किये जाते थे। इसके अति-रिक्त इनसे भी घृणित काम करने वाले कुत्ते और बिल्ली के समान पशु भी इतने घृणा के पात्र नहीं समझे जाते थे। बात असल में यह है कि उच्च वर्ण के लोगों की प्रबल स्वार्थ बुद्धि ने भी ऐसे भयंकर अत्याचार करने के लिए उन्हें मजबूर किया। केवल इसी देश में नहीं दुनिया के प्रायः सभी सभ्य और असभ्य देशों में इस प्रकार की घृणित गुलामी की भावनाओं का अस्तित्व पाया जाता है। यहाँ के आचार्य्यों की तरह यूनान के

प्रसिद्ध आचार्य्य अरिस्टोटल ने भी इस पद्धति का समर्थन किया किया है। इससे सिद्ध होता है कि एक तो उच्च वर्ण के लोगों की स्वार्थ बुद्धि ने और दूसरे दुनिया के सम सामयिक प्रभाव ने इस स्थिति को उत्पन्न किया। उच्च वर्ण के लोगों ने देखा कि यदि हम इन लोगों के प्रति जरा भी उदारता दिखलाएँगे, यदि हम उन्हें थोड़ी सी भी शिक्षा देंगे और यदि ये किसी भी अंश में अपने अधिकारों को समझने लग जायँगे तो हमारे स्वार्थ में बड़ी भारी बाधा पड़ेगी। फिर हमें मुफ्त में हजारों और लाखों की संख्या में गुलाम नहीं मिलेंगे। इसलिए उन्होंने नाना प्रकार के विधानों के द्वारा उन्हें इस बात को समझाने का भरसक प्रयत्न किया कि "तुम महा पापी हो, पशुओं से भी तुम अधम हो, पूर्व जन्म में तुमने भीषण से भीषण पाप किये हैं, वे पाप केवल हमारी सेवा करने ही से दूर हो सकते हैं, ईश्वर तुम्हारा मुख नहीं देखना चाहता, शास्त्र तुम्हारे स्पर्श से गन्दे हो जाते हैं, मोक्ष तुम्हारे लिए अप्राप्य है, इत्यादि। शूद्र भी बेचारे इन लोगों पर विश्वास करके अपने आपको महान पापी समझ कर उनकी सेवा करने लगे। इतने पर भी यदि कोई शूद्र किसी स्वाभाविक बुद्धि से प्रेरित होकर कुछ सिर उठाता तो वह शक्ति के बल से दबोच दिया जाता था।

मतलब यह कि अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए मनुष्य-जाति का एक बहुत बड़ा भाग समाज से जुदा कर दिया गया। फल यह हुआ कि जाति प्रथा की वृद्धि, छुआछूत की प्रथा तथा और भी कई सामाजिक कारणों ने समाज में गुलामी का क्षेत्र तैयार कर दिया। जब तक देश की सत्ता इन उच्च कुलीन लोगों के हाथ

रही तब तक तो उनकी बनाई हुई व्यवस्था चलती रही, मगर ज्यों ही देश पर मुसलमान जाति का आक्रमण हुआ और उनका साम्राज्य यहां पर स्थापित हुआ त्यों ही इस व्यवस्था में खलबली मची। मुसलमानों के सामाजिक विचार उस समय के हिन्दुओं की अपेक्षा कुछ अधिक उदार थे दूसरे उन्हें अपनी जन-संख्या भी बढ़ाना थी। यहां आते ही उन्होंने मनुष्य समाज के इस बहुत बड़े भाग को पाशव अवस्था में जीवन व्यतीत करते हुए देखा। यह देखते ही तुरन्त उन्होंने इनको इसलाम का सन्देश देकर अपने में मिलाना प्रारम्भ कर दिया। हिन्दू इन घटनाओं को हाथ पर हाथ धरे देखते रहे। क्योंकि उनकी स्वार्थ-बुद्धि अब सामाजिक रूढ़ि का रूप धारण कर चुकी थी। उनकी जीवनी शक्ति अब जड़ हो चुकी थी। समय के अनुसार नया विधान बनाने की योग्यता अब इनमें न रही थी परिणाम यह हुआ कि उनके देखते-देखते हजारों अछूत इसलाम की शरण में चले गये और उन पर शासन करने लगे। कल तक उनकी दृष्टि में जो अछूत था; गुलाम था, वही आज इसलाम की शरण में जाकर उनका मालिक हो गया। इस प्रकार देखते-देखते इस देश में मुसलमानों की संख्या हजारों से लाखों और लाखों से करोड़ों तक जा पहुँची। इन लोगों ने भी मुसलमान होकर अपने पर किये हुए अत्याचारों का खूब जोरों से बदला लिया।

आज भी भारतवर्ष में मुसलमानों और ईसाइयों में घुस जानेवाले अछूतों को छोड़ कर साढ़े छः करोड़ अछूत अपने असली स्वरूप में और विद्यमान हैं। ये लोग हिन्दुओं के कुओं पर पानी नहीं भर सकते उनके मन्दिरों में दर्शन नहीं कर सकते, कहीं-कहीं

तो इनकी परछाईं का पड़ जाना भी हिन्दुओं के लिए प्रायश्चित्त का कारण हो जाता है। मगर यह छुआछूत तभी तक रहती है जब तक वे हिन्दू समाज की शरण में रहते हैं। यदि वे इस समाज से रिश्ता तोड़ कर विधर्मी हो जांय, गो भक्षक हो जांय तो फिर हिन्दू समाज के उनके स्पर्श करने में, उनका आदर करने में किसी बात का परहेज नहीं रहता।

इस प्रकार जिस समाज में बाईस करोड़ में सात करोड़ मनुष्य छुआछूत के नाम पर अलग कर दिये गये हों और शेष पन्द्रह करोड़ अठारह हजार जातियों में विभक्त हो रहे हों उस समाज में संगठन और राष्ट्रीयता की कल्पना कैसे हो सकती है?

मतलब यह है कि जाति पांति और छुआछूत यह दोनों समाज रूपी शरीर के भयङ्कर रोग हैं। जिस प्रकार क्षय रोग मनुष्य शरीर को क्रमशः क्षीण करता हुआ अन्त में मृत्यु के मुख में ढकेल देता है उसी प्रकार ये दोनों बीमारियां भी समाज को क्रमशः क्षीण करती हुई पतन की परम सीमा पर पहुँचा देती हैं। जो समाज धीरे धीरे अधिकाधिक जातियों में विभक्त हो रहा हो, जिस समाज में छुआछूत के प्रश्न का महत्व दिनों दिन बढ़ रहा हो जिस समाज के लोग धन, कुल या सत्ता के मद में मदोन्मत्त हो दूसरे मनुष्यों से घृणा करते हों, उन पर अत्याचार करते हों, निश्चित समझ लीजिए कि वह समाज महा भयङ्कर क्षय रोग के पंजे में फंस चुका है।

इन भयङ्कर रोगों को दूर करने के लिए भिन्न भिन्न चिकित्सक भिन्न भिन्न औषधियों का प्रयोग करते हैं। पर हमारे ख्याल से इन दोनों रोगों की एक ही दवा प्रधान है। एक ही वाक्य में

यदि हम उसका विवेचन करना चाहें तो इस प्रकार कर सकते हैं— "महत्ता, कुलीनता, और प्रतिष्ठा का आश्रय जन्म से हटाकर गुण और कर्म पर स्थापित करना ।" किसी भी मनुष्य की जाति या वर्ण का निश्चय उसके जन्म से बिलकुल न किया जाय । उनकी शिक्षा, दीक्षा, हो जाने के पश्चात् यौवन के प्रारम्भ में उनकी योग्यता और उनकी मनोवृत्तियों को देखकर उनकी जाति या उनके वर्ण का निश्चिय किया चाय । यह बात--यह चिकित्सा—नवीन नहीं है, भारतवर्ष में सैद्धान्तिक रूप में इसका आविष्कार हुए बहुत समय गुजर चुका, मगर इसका व्यावहारिक उपयोग शायद इस देश में बहुत कम हुआ और इसी वजह से आज यहां इस प्रश्न ने इतना महत्व पूर्ण और भयङ्कर रूप धारण कर रक्खा है ।

कई लोग कहते हैं कि "इस पद्धति का वर्णन करना बड़ा आसान है मगर इसका व्यावहारिक उपयोग करना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। देश में हजारों बच्चे प्रति दिन उत्पन्न होते हैं । उनका नित्य प्रति अलग अलग वर्णों में चुनाव करना कैसे सम्भव हो सकता है । दूसरे मान लीजिए कि यदि पिता ब्राह्मण वर्ग का हुआ और उसके पुत्र के गुण और कर्म शूद्र की तरह हुए और वह शूद्र वर्ण में चुन दिया गया तो फिर उनका पिता और पुत्र का रिश्ता कैसे रह सकता है । वे लोग फिर साथ कैसे रह सकते हैं" ।

पहली दलील के उत्तर में हम कह सकते हैं कि एक एक प्रान्त में जन संख्या के मान से एक एक दो दो विद्यालय ऐसे खोल दिये जांय जिनमें उचित और वास्तविक शिक्षा की पूर्ण

व्यवस्था हो, तथा जिनमें सभी अध्यापक मानस शास्त्र के जानकार हों और एक प्रधानाध्यापक ऐसा हो जो मानस शास्त्र समाज शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र और सामुद्रिक का प्रकाण्ड पण्डित हो। ऐसे विद्यालयों में समाज का प्रत्येक बच्चा सात बरस का होते ही शिक्षा ग्रहण करने के लिए अनिवार्य्य रूप से भेज दिया जाय। ये सब विद्यार्थी इन विद्यालयों में बीस वर्ष की आयु तक रक्खे जांय। पधान अध्यापक इनमें से प्रत्येक की मनोवृत्ति पर सूक्ष्म निगाह रक्खे। और जब वे विद्यालय से बाहर निकालने लगें तब वे जिस वर्ण के उपयुक्त हो उस वर्ण का प्रमाण पत्र उन्हें दिया जाय।

इस कार्य्य से एक साथ ही दो लाभ सम्पन्न हो सकते हैं। एक तो प्रत्येक विद्यार्थी के शिक्षित हो जाने से उसे काम करने को विशाल कार्य क्षेत्र मिलेगा, उसकी मनोवृत्तियों को फलने और फूलने के लिए पर्याप्त क्षेत्र मिलेगा और दूसरे समाज रचना की वर्ण-चुनाव सम्बन्धी कठिनाई बहुत आसानी से दूर हो जायगी। दूसरी दलील तो और भी अधिक लचर है। ब्राह्मण पिता का पुत्र यदि गुण और कर्म से शूद्र हुआ तो उससे और पुत्र के सम्बन्ध में बाधा पड़ सकती है। यह बाधा तो तभी पड़ती है जब ब्राह्मणों के मनमें शूद्रों के प्रति घृणा के भाव रहते हैं या उनमें छुआछूत का रिवाज रहता है। इस स्थिति में घृणा, अत्याचार और छुआछूत के भाव का तो अस्तित्व ही नहीं रहेगा। क्योंकि इन भावों का अस्तित्व तो तब रहता है; जब कुल और वर्ण का अभिमान हो। पर इस व्यवस्था में कुल और वर्ण का अभिमान कैसे रह सकता है? प्रत्येक मनुष्य इसमें यही समझता

रहेगा कि आज मैं यदि ब्राह्मण कुल का अभिमान करके दूसरों के प्रति घृणा के भाव रक्खूंगा और कल यदि मेरी संतति ही शूद्र गुण से सम्पन्न हुई या मैं ही अपने गुण और कर्म से पतित हो गया तो मुझे भी दूसरे लोग इसी भाव से देखने लगेंगे। इसी प्रकार के विचार समाज में समष्टिगत रहेंगे। और इन विचारों के कारण कोई भी मनुष्य अपनी जाति और कुल का झूठा अभिमान न सकेगा और न दूसरे वर्ण वालों को वह नीची दृष्टि से देखने का प्रयत्न करेगा। ऐसी स्थिति में यदि ब्राह्मण पिता का शूद्र पुत्र हुआ, या क्षत्रिय पुत्र का वैश्य पिता हुआ तो इस वर्ण विभेद की वजह से उनके पारस्परिक प्रेम में कोई भी अन्तर नहीं आ सकता। जिस प्रकार आज एक किसान का पुत्र सेना में भरती होकर अथवा एक ब्राह्मण पिता का पुत्र दूकान लगाकर भी परस्पर में आनन्द के साथ सम्मिलित रह सकते हैं, उसी प्रकार भिन्न भिन्न कार्य्य क्षेत्रों में काम करते हुए भी इस व्यवस्था में कुटम्ब के लोग आनन्द के साथ सम्मिलित रह सकेंगे। बल्कि आज तो यदि ब्राह्मण पिता का पुत्र शूद्र वृत्ति करने पर कमर कसता है तो उसके पिता को उसके उस कर्म से दुःख और घृणा भी होती है मगर उस स्थिति में यह बात भी न रहेगी।

इस प्रकार इस एक ही औषधि से सैकड़ों रोग नष्ट हो सकते हैं, इस एक ही तीर से सैकड़ों निशाने बिंध सकते हैं। जाति पांति का प्रश्न भी इससे हल हो सकता है, छुआछूत का प्रश्न इससे मिट सकता है, शूद्रों के प्रति वैषम्य की भावनाएं इससे नष्ट हो सकती हैं और संगठन का सुन्दर रूप भी इससे दृष्टि गोचर हो सकता है।

दूसरा अध्याय

धार्मिक-मतभेद

जिस प्रकार भिन्न-भिन्न जातियों से समाज कई भागों में विभक्त हो जाता है। बिखर जाता है। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न धार्मिक विश्वासों की वजह से भी मनुष्य-समाज कई भागों में बंट जाता है। बल्कि यों कहना चाहिए कि बहुत सी जातियां तो इस धार्मिक मतभेद की वजह से ही उत्पन्न हो जाती हैं। सामाजिक जातियों से समाज के संगठन का जितना नुकसान नहीं होता उससे अधिक—बहुत अधिक—नुकसान इन धार्मिक जातियों की वजह से होता है।

इस समय भारतवर्ष में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, खंडेलवाल, ओसवाल, माहेश्वरी, अग्रवाल, इत्यादि सामाजिक जातियां तो हैं ही, पर इनके साथ ही ये जातियां भी सनातन धर्मी, जैनी, आर्य्य-समाजी, रामसनेही, वल्लभपंथी, रामानुजपंथी आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के धार्मिक सम्प्रदायों में फंसी हुई हैं। समाज के लोगों में जितना रागद्वेष इन सामाजिक जातियों की वजह से नहीं होता उससे अधिक इन धार्मिक मत-भेदों की वजह से होता रहता है। इन धार्मिक मतभेदों की वजह से इनमें नित्य प्रति मुकदमे बाजी होती रहती है, जिसमें करोड़ों रुपयों का नाश हो जाता है। इससे भी जब इनका जी नहीं भरता तब परस्पर में गालियों की बौछार और सिर फुटौवल होती है। यह बात नहीं

कि इनमें से एक-एक धर्मवाले तो आपस में संगठन के साथ रहते हों, इन एक-एक धर्मवालों में भी फिर सैकड़ों फिरके बंटे हुए रहते हैं और वे भी आपस में लड़ते हैं। ऐसी भीषण स्थिति में किसी प्रकार के संगठन की कल्पना कैसे हो सकती है ?

यदि यह राग, द्वेष, यह लड़ाई झगड़ा किसी तत्त्व पर होता हो, यदि बुद्धि का आश्रय लेकर-सिद्धांत का आश्रय लेकर ये लोग परस्पर में लड़ते हों तब तो झगड़ा मिट भी सकता है, और संगठन में भी कोई बाधा नहीं पड़ सकती। मगर यह धार्मिक मत-भेद से शुरू से अन्त तक हठवाद की जड़ पर, जिहालत की नींव पर ठहरा हुआ रहता है इससे इसका अन्त कभी नहीं हो सकता।

उदाहरणार्थ हिंदू और मुसलमानों के प्रश्न को ही लीजिए, इनका पारस्परिक मत-भेद सैकड़ों बरसों से चला आ रहा है। सामाजिक दृष्टि से तथा धार्मिक दृष्टि से हिन्दू लोग प्रारम्भ ही से मुसलमानों के प्रति घृणा करते आ रहे हैं। वे इनका छुआ हुआ पानी नहीं पीते, यहां तक कि यदि कोई मुसलमान फर्श पर बैठा हुआ हो तो उस फर्श से भी उनका पानी अपवित्र हो जाता है। हिन्दुओं से जब इस घृणा का कारण पूछा जाता है तो वे कहते हैं कि ये लोग मांस खाते हैं तथा ये लोग बड़े अपवित्र रहते हैं इसलिए हम इनका छुआ जल नहीं पीते, इसके बाद जब इनसे यह पूछा जाय कि मांस तो बहुत से हिन्दू भी खाते हैं और अपवित्र भी कई हिन्दू रहते हैं, मुसलमान लोग शराब नहीं पीते, मगर हिन्दू तो शराब भी पीते हैं फिर उनके हाथ का जल क्यों पिया जाता है ? इसके जवाब में वे फिर कहते हैं कि

दूसरा मांस खाने में हरकत नहीं मगर ये लोग गौ मांस खाते हैं इसलिए बड़े अपवित्र हैं। फिर यदि इनसे पूछा जाय कि कुत्ते और बिल्ली भी गौमांस खाते हैं, उनके फर्शपर आ जाने से तो आपका जल अपवित्र नहीं होता। तब अन्त में ये लोग लड़ने-झगड़ने लगते हैं। मतलब यह कि इन लोगों की इस भावना में कोई तर्क का आधार नहीं रहता। फिर यह भी नहीं कि ये लोग पूर्ण रूप से उनसे घृणा ही करते हों, उनकी नौकरी कर लेंगे, उनकी गुलामी कर लेंगे, यदि मौका आया तो किसी मुसलमान वैश्या के साथ व्यभिचार भी कर लेंगे, उसके लब से लब भी मिला लेंगे, मगर उनका छुआ हुआ जल नहीं पियेंगे। इस मूर्खता पूर्ण व्यवहार से उनका हित तो कुछ भी नहीं हुआ उलटे उन्होंने एक बड़ी भारी जाति की जाति को अपना दुश्मन बना लिया। मुसलमानों ने इस घृणा का बदला लाखों गायें मार कर, लाखों हिन्दू स्त्रियों का सतीत्व हरण करके, लाखों हिन्दुओं को मुसलमान बना कर और लाखों हिन्दुओं पर भीषण अत्याचार करके मय सूद के ले लिया। इस उदाहरण से कोई यह न समझे कि केवल हिन्दुओं ही में इस जिहालत का अस्तित्व है, नहीं, मुसलमानों में मज़हबी जिहालत हिन्दुओं से सैकड़ों गुना अधिक है उनकी इस जिहालत ने भयंकर क्रूरता का रूप धारण कर लिया है। इस जिहालत के वश होकर उन्होंने एक हाथ में कुरान और दूसरे हाथ में तलवार लेकर हजारों मनुष्यों को कत्ल कर डाला। यदि इनसे पूछा जाय कि भाई यदि तुम्हारे कुरान के सिद्धान्त अच्छे हैं यदि सचमुच मनुष्य को उससे बहिश्त मिलता है तो फिर जबर्दस्ती क्यों करते हो कुरान के सिद्धान्तों को खोल कर

मनुष्य जाति के सामने रख दो, यदि सचमुच ही उससे बहिश्त मिलता होगा तो मनुष्य-जाति दौड़ कर उसे ग्रहण कर लेगी। उसमें बलात्कार की जरूरत ही क्या। लेकिन इस प्रकार की तर्क-पूर्ण बातों से कोई मुसलमान नहीं समझेगा। इससे भी बड़ी जिहा-लत यह है कि इस प्रकार का वे ही लोग नहीं करते जिन्होंने कुरान को पूरा पढ़ लिया है प्रत्युत ये भी करते हैं जो कुरान के एक अक्षर को भी नहीं जानते।

इसी प्रकार आज कल इन लोगों ने यहां पर मसजिद और बाजे का प्रश्न उठा रक्खा है। इनका कथन है कि मसजिद में पूर्ण शान्ति की आवश्यकता रहती है। बिना पूर्ण शान्ति के खुदा की इबादत एक दिल से नहीं हो सकती। बाजे से उसी शान्ति में खलल पहुँचती है, अतएव शान्ति रक्षा के लिए मसजिद के आगे बाजा बन्द होना आवश्यक है। सिद्धान्त की दृष्टि से देखा जाय तब तो यह किसी हद तक सच मालूम होती है। मगर यदि मुसलमान लोग इसी सिद्धान्त को मानते होते तो वे कभी अपनी मसजिदें बस्ती या शहरों के अन्दर न बनाते प्रत्युत उनसे बहुत दूर शान्तिमय जङ्गलों में बनाते। क्योंकि जहां पर मनुष्यों का समुदाय रहेगा वहां तो किसी न किसी प्रकार का कोलाहल अवश्य ही रहेगा, पर इतना होते हुए भी ये लोग अपनी मसजिदें शहरों के कोलाहल पूर्ण स्थानों पर ही बनाते हैं। वहां पर और किसी प्रकार के कोलाहल से उनकी शान्ति भङ्ग नहीं होती। मोटरों की आवाज, घोड़े गाड़ियों की आमद-रफ्त, आदमियों का कोलाहल आदि सब बातें उनकी पाक मसजिद्र सहन कर लेती है मगर केवल बाजा ही उनकी शान्ति में विघ्न डालता है। और

इसी के लिए वे खून खच्चर करने को तैयार रहते हैं। मजहबी जिहालत का यह कितना भीषण नमूना है!

केवल इसी देश में नहीं, दुनिया के सभी देशों में मजहब के दीवानों ने अशान्ति का प्रचार किया है। यूरोप के धार्मिक अत्याचारों का वर्णन हम पहले कर आये हैं। सच बात तो यह है कि ये लोग अकल के अन्धे होते हैं। यदि ये लोग अपने धर्म शास्त्रों का तथा अपने आचार्यों के उपदेश का पूर्ण रीति से पालन करें तो दुनिया में किसी प्रकार का बखेडा उत्पन्न न हो। मगर इन लोगों में से शायद एक भी अपने असली धर्म शास्त्र के अनुसार न चलता होगा। ये लोग भी क्या करें इनके पादरी, महन्त, पण्डे अपने नीच स्वार्थ और वासनाओं की तृप्ति के लिए इन्हें धर्म-शास्त्रों के उलट सुलट अर्थ समझाते रहते हैं। ये लोग इनको आपस में मुर्गों की तरह लड़ाकर आनन्द के गुलछर्रे उड़ाते हैं। क्योंकि वे यह भली प्रकार जानते हैं कि यदि ये लोग आपस में प्रेम के साथ रहने लग जावेंगे तो फिर हमारी दाल नहीं गल सकती। इसलिए येनकेन प्रकारेण इन्हें दूसरे धर्म वालों के प्रति वे उकसाते रहते हैं।

ऐसी स्थिति में जब समाज में धार्मिक मत-भेद इतने जोरों से चल रहा हो—जहां छोटी अप्रत्यक्ष कल्पनाओं के पीछे लोग एक दूसरे को मार डालने के लिए तैयार हों, संगठन की भावनाएं कैसे समष्टिगत हो सकती हैं? यह कभी सम्भव नहीं कि दुनिया के या किसी एक देश के सभी लोग एक ही धर्म के, एक ही विश्वास के अनुयायी हो जायँ। ऐसी स्थिति में यह मत-भेद भी अमर है और जब तक यह मत-भेद है तब तक संगठन भी असम्भव है।

यह भयङ्कर मत-भेद समाज का उन्माद रोग है। जिस प्रकार उन्माद रोग से ग्रसित मनुष्य के ज्ञान-तंतु विकृत हो जाते हैं, उसका शारीरिक संगठन बिगड़ जाता है और दूसरे मनुष्यों के द्वारा उसका सम्हलना मुश्किल हो जाता है उसी प्रकार इस रोग से समाज के ज्ञानतंतु नष्ट हो जाते हैं, सारा समाज इस रोग के फेर में पड़कर भले बुरे का खयाल छोड़कर पागल हो जाता है। इस रोग के रहते समाज का संगठन किसी हालत में नहीं हो सकता।

इस भयङ्कर रोग की एक ही चिकित्सा है। वह है "मनुष्य को पूर्ण धार्मिक स्वाधीनता दे देना। अर्थात् धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में कोई मनुष्य किसी भी विश्वास का अनुयायी हो उसमें किसी प्रकार हस्तक्षेप न करना। यदि कोई मनुष्य-समाज में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं डालता है, यदि वह किसी व्यक्ति के उचित अधिकारों में किसी प्रकार की बाधा नहीं डालता है तो फिर चाहे वह हिन्दू, मुसलमान, ईसाई अथवा नास्तिक ही क्यों न हो, पूर्ण स्वाधीन है। किसी को किसी दूसरे के धर्म-मत के प्रति घृणा प्रदर्शित करने का कोई अधिकार न रहे। इस धार्मिक स्वाधीनता के लिए यह भी आवश्यक है कि धर्म-नीति के सभी केन्द्र-मंदिर मसजिद, गिरजा-आदि बस्ती से दूर-जंगल में हों, और इस नीति के आचार्य भी जंगलों में ही रहें उन्हें समाज में आने का अधिकार न रहे। तीसरी बात यह कि समाज या इस लोक से सम्बन्ध रखनेवाले सभी कामों में जैसे विवाह, शादी आदि में धर्म का कोई हस्तक्षेप न रहे। ये सब काम सामाजिक विधानों के अनुसार होते रहें। मतलब यह कि धर्म केवल परलोक को

बनाने के साधन रूप में रक्खा जाय। जो मनुष्य जिस नीति के द्वारा अपना परलोक बनता हुआ समझे वह स्वाधीनता पूर्वक उसी मार्ग का अनुयायी बने। इसमें उसके मार्ग में कोई किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे।

इस तरह जब तक मनुष्य समाज धार्मिक दृष्टि से पूरा-पूरा स्वाधीन न हो जायगा, तब तक उसका यह उन्माद रोग दूर नहीं हो सकता।

तीसरा अध्याय

रोग—समष्टिगत प्रेम का प्रभाव—१ गृह-कलह—२ विधवा वृद्धि—३ व्यभिचार—४ दुर्बल-सन्मान—५

कारण—स्त्री के अधिकारों का वैषम्य और विवाह पद्धति की भ्रष्टता

इस समय समाज-शरीर को पक्षाघात (लकवा) रोग है। इस रोग से समाज का पुरुष-अङ्ग तो जीवन-शक्ति युक्त है, और उसका दूसरा स्त्री-अङ्ग जीवन-शक्ति-विहीन, जड़ और निर्माल्य हो रहा है।

इस रोग ने शुरू से अब तक दुनिया की प्रगति में बहुत ही बड़ा विघ्न डाला है। इसकी वजह से मनुष्य-जाति लाखों चेष्टा करके भी उन्नति की राह पर नहीं आ सकी है।

समाज स्त्री और पुरुष दोनों से बनता है। माता के गर्भ से दोनों ही समान रूप से उत्पन्न होते हैं। प्रकृति की ओर से दोनों ही को एक से अधिकार प्राप्त हैं। समाज की दृष्टि से भी दोनों अङ्गों का समान महत्त्व है। पर फिर भी पुरुष-जाति ने अपने स्वार्थ की सिद्धि के निमित्त बहुत दीर्घ-काल से स्त्री-जाति को अपना गुलाम बना रक्खा है। कहीं कहीं रक्षा का नाम लेकर और कहीं कहीं प्रेम की दुहाई देकर पुरुषों ने स्त्रियों का अपनी मौरूसी जायदाद बना लिया है। यह बात किसी एक या एक ही समाज में घटित नहीं हुई, प्रत्युत संसार की प्रायः सभी जातियों

में पुरुष की यह नीच स्वार्थ-वृत्ति फैली हुई है। और इसे अमर बनाने के लिए पुरुषों ने धर्मशास्त्रों में भी इस प्रकार के विधानों की सृष्टि करके स्त्रियों की इस गुलामी को सदियों के लिए अमर बना दिया है। उनका धर्म, उनका सदाचार, उनका व्यवहार और उनका जीवनोद्देश सभी का लक्ष्य पुरुषों की गुलामी ही बना दिया गया है।

इसका भीषण परिणाम यह हुआ कि दुनिया का आधा-अंग संसार का सारा स्त्री-समाज किसी प्रकार की स्वतन्त्र गति-विधि न पा सकने के कारण एक सिरे से दूसरे सिरे तक जड़ हो गया, जिससे समाज को स्त्री-जाति की ओर से जो सहायता, जो सह-योग मिलना चाहिए वह न मिला और पुरुष-वर्ग के लाख प्रयत्न करने पर भी संसार की प्रगति रुक गई है।

वैसे तो इस स्वार्थमय विधान का विषमय परिणाम सारी मनुष्य-जाति को ही उठाना पड़ा। पर इसकी जितनी भीषणता भारतवर्ष में दृष्टिगोचर हुई उतनी संसार के किसी दूसरे देश में शायद ही दिखलाई दी हो।

इस देश के धर्माचार्य्यों और समाज विधायकों ने स्त्री के स्वतन्त्र अस्तित्व को किसी भी अंश में स्वीकार नहीं किया है। उनके मतानुसार नारी का जीवन जन्म से लेकर मृत्यु तक गुलामी के सांचे में ढला हुआ है, जिसके अनुसार उसे बाल्यावस्था में पिता, युवावस्था में पति और पति के न रहने पर वृद्धावस्था में अपने पुत्रों की गुलामी करना चाहिए। जो स्त्री अपने पिता, पति और पुत्रों से विमुख होकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना करती है वह अनन्त काल तक नरक की अधिकारिणी होती है।

अब यहां की विवाह-पद्धति का नमूना देखिए। यहां के विधानानुसार स्त्री को जीवन में सिर्फ एक विवाह करने की आज्ञा है। और उस विवाह में भी वर उसकी पसन्दगी या उसकी मरजी के अनुसार चुना हुआ होना आवश्यक नहीं है। उसके माता पिता जिस किसी के साथ उसके भाग्य की बागडोर बांध दें, उसी को परमेश्वर समझ कर उसकी आजीवन सेवा करने के लिए ही वह बाध्य है। फिर वह चाहे बालक, बूढ़ा, लँगड़ा, लूला, कामी अथवा नपुंसक ही क्यों न हो, उसकी आज्ञा का एक इञ्च भर भी तिरस्कार उसके लिए अनन्त नरक को तैयार कर देता है फिर चाहे वह आज्ञा कितनी ही अनीति मूलक या दुराचार पूर्ण क्यों न हो। यह तो पति के जीतेजी की दशा है। अब उसकी मृत्यु के पीछे की हालत देखिए। भारतीय विधान के अनुसार ऐसी स्त्री को काले वस्त्रों से शरीर को ढक कर एक कोने में बैठे-बैठे अपना जीवन बिता देना चाहिए। जो स्त्री अपने पति की मृत्यु के पश्चात् अच्छा भोजन करती है, अच्छे वस्त्र पहनती है, वह अगले जन्म में घोर कष्टमय नरक यातना को सहती है। इस विकृत विधानों से समाज-शरीर में जो रोग उत्पन्न हुए हैं उनका नीचे वर्णन किया जाता है।

१——सती-प्रथा

इन विधानों के परिणाम स्वरूप सैकड़ों जीवन शक्ति-युक्त नारियां मृत पुरुषों की चिताओं के साथ जीते जी जला दी गई हैं। यदि किसी स्त्री ने इस प्रकार जलने से इन्कार किया है, किसी प्रकार का भय प्रदर्शित किया है, किसी प्रकार की आनाकानी की

है तो निर्मम पुरुषों के द्वारा वह गठरी बांध कर जबर्दस्ती चिता में डाल दी गई है। यदि कोई स्त्री चिता की भयंकर लपटों से घबरा कर चिता से निकल कर भागने की चेष्टा करने लगी है, तो वह इन अत्याचारियों के द्वारा बांसों से ढकेल कर चिता में ढकेल दी गई हैं। भारत की सती-प्रथा का इतिहास मनुष्य-जाति के उस कलंक का एक नमूना है, जिसमे मनुष्यत्व की भीषण हत्या की गई है; जिसमें दया, अहिंसा, न्याय और तमाम सद्वृत्तियों का गला घोंट दिया गया है। यह एक ऐसा लांछन है, जो सदियों के पश्चात्ताप से भी नहीं धुल सकता, जो अनन्त काल तक चन्द्रमा के कलंक की तरह भारतीय समाज की अत्याचार-पूर्ण गाथा को मनुष्य-जाति के आगे रखता रहेगा, जिस जौहर व्रत की आज के इतिहासज्ञ प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते हैं वह भी इसी अत्याचार-पूर्ण नीति का एक भीषण राक्षसी नमूना है।

२—समष्टिगत-प्रेमाभाव

ऊपर जिस दिल को दहला देनेवाली सती-प्रथा का विवेचन किया गया है वह तो ब्रिटिश साम्राज्य ने कानून के बल से बन्द कर दी। लेकिन इसके नष्ट हो जाने पर इस विकृत पद्धति से उत्पन्न होनेवाले दूसरे रोगों का नाश न हुआ। ये रोग आज भी भारतीय समाज में दिन प्रति दिन बढ़ रहे हैं। इनमें सब से पहला और भयंकर रोग नर और नारी के बीच स्वाभाविक प्रेम का अभाव है। वास्तव में देखा जाय तो विवाह की उत्पत्ति ही जगत् में प्रेम के तत्त्व पर हुई है। अवश्य नर और नारी के बीच में होनेवाला शारीरिक आकर्षण भी विवाह के कारणों में से एक है।

विवाह के अन्दर केवल इसी आकर्षण का, केवल इसी काम-वासना का प्राधान्य नहीं है। इस वासना की तृप्ति के लिए विवाह के समान महत्त्वपूर्ण विधान की आवश्यकता न होती। यदि ऐसा ही होता तो पशु-पक्षियों की भांति स्त्री-पुरुष भी जब किसी से शरीर की भूख बुझाना चाहते बुझा सकते थे। पर प्रत्यक्ष-जीवन में हम देखते हैं कि इस वासना की तृप्ति ही सब कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त भी स्त्री-पुरुषों को एक ऐसे आधार, एक ऐसे आधान की जरूरत रहती है, जिस पर वे अपने सुख दुःख का बोझा डाल कर हलका होने की इच्छा रखते हैं। हर किसी से भोग करके शारीरिक भूख को बुझाने से ही मनुष्य-हृदय तृप्त नहीं हो जाता। वह तो पारस्परिक प्रेम ही से बुझ सकती है। अतः उसी तत्त्व का विकास करने के लिए विवाह की सृष्टि हुई है।

विवाह का यह उद्देश्य तभी पूरा हो सकता है, जब नर और नारी-पूर्ण स्वाधीनता के साथ एक दूसरे की ओर आकर्षित होकर समानता की भावना रखते हुए एक दूसरे के अभाव की पूर्ति करे। लेकिन पुरुष की इस स्वार्थमयी इच्छा ने की स्त्री हमारी दासी होकर रहे, विवाह के इस श्रेष्ठ उद्देश्य को बिलकुल ही भ्रष्ट कर दिया उसे लड्डू, पूड़ी, मोहनभोग आदि की तरह भोग्य वस्तु समझ कर उसके तथा अपने जीवनानन्द को भी पुरुष ने बिलकुल किर-किरा कर दिया। समझ में नहीं आता कि पुरुष इतनी भारी बेवकूफी कैसे कर सका? अपने सुख-दुखों में समानता के साथ भाग लेकर सुखों को बढ़ाने और दुख को घटानेवाले मित्र, साथी के लिए हृदय तड़फता रहता है; छटपटाता है। संसार के सम्राट को भी सदा हाथ जोड़े खड़े रहनेवाले दास-दासियों से परिवेष्टित रहना

अच्छा नहीं मालूम होता। उसे वह सारा वैभव एक जीवन-साथी बिना सूना मालूम होता है। और मूर्ख पुरुष जाति ने ने इसी अमूल्य साथी को अपने पास से हटा कर दासियों की श्रेणी में जबर्दस्ती खड़ा कर दिया। विश्व दो सहगामी, सम महत्त्ववाली शासक-शक्तियों द्वारा संचालित है। उनमें से पुरुष ने एक शक्ति को (अपने लिए) अप्रतिष्ठित कर विश्व-संगीत में असंवादिता उत्पन्न कर दी है। क्योंकि विश्व में तो वह ज्यों की त्यों प्रतिष्ठित है। पुरुष ने उसे अपनी तरफ से ही ठेल दिया है। जिसका फल परमेश्वरी शक्ति उसको दे रही है। और वह इस अपराध के लिए दण्ड का भी पात्र है। पुरुष चाहता है मैं स्त्री का मालिक होकर रहूँ। जिस दिन से उसका विवाह होता है उसी दिन से वह धर्म और शास्त्रों की दुहाई देकर उस पर अपना आधिपत्य गांठना प्रारम्भ करता है। इधर स्त्री भी चारों ओर से अपने को जकड़ी हुई पाकर पहले तो बड़ी दुःखी होती है। पर वह भी पुरुष की इस वृत्ति का अनुकरण कर पुरुष पर अपना शासन करना चाहती है। पर प्रेम का अभाव होने के कारण वह दूसरे शास्त्रों का उपयोग करती है। वह इनका ऐसा-ऐसा जाल बिछाती है कि बड़े-बड़े मूछों पर ताव देनेवाले व्यक्ति भी उसमें उलझ कर औंधे मुँह गिरते हैं और स्त्री के गुलाम हो जाते हैं। फल क्या हुआ ? कहने को तो पुरुष अपने को मालिक कहते हैं और स्त्रियां दासियां कही जाती हैं, मगर ये मालिक, कहलानेवाले वास्तव में उन दासियों के भी गुलाम हो जाते हैं। आज भारत के अधिकांश पुरुष—केवल मूर्ख ही नहीं प्रत्युत बुद्धिमान भी—अपनी-अपनी स्त्रियों के इशारे पर नाच रहे हैं, और उनकी

इस दशा पर हँसी और दया आती है। विजय के लिए निकले हुए दो सेनापति—नहीं पंडित, शास्त्री,—भक्त, अपनी भक्ति को भुलाकर मानों एक दूसरे पर अपना सिक्का जमाने के लिए जादू चला रहे हैं। विश्व विजय एक तरफ रही, ईश्वर प्राप्ति भुला दी गई, ये दो श्रेष्ठ व्यक्ति हिल-मिलकर उस परमतत्त्व की प्राप्ति को छोड़ कर शराब पीकर अपने आपको एक दूसरे से श्रेष्ठ बताने की कोशिश कर रहे हैं। स्त्री और पुरुष के महान सम्बन्ध की। पवित्र प्रेम की, यह कैसी दुर्दशा है!

गार्हस्थ्य-कलह

हम केवल जड़-सम्पत्ति की ही विरासत नहीं छोड़ते। अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति और मनोविकारों की भी विरासत छोड़ते रहते हैं और कालान्तर में ये छोटे छोटे बीज फूलते फलते हैं। स्त्रियों पर अस्वाभाविक सत्ता प्राप्त करने की विपरीत बुद्धि से विवाह पद्धति में विकार उत्पन्न हुआ, और विकृत विवाहों का निश्चित परिणाम है गृहसौख्य का नाश। जब विवाह-सम्बन्ध के चुनाव की कोई भी विशिष्ट पद्धति समाज में प्रचलित नहीं रहती, जब लड़की को लड़के के चुनाव की और लड़के को लड़की के चुनाव की कोई स्वतन्त्रता नहीं होती, बल्कि ये कार्य्य उनके लिए लज्जाजनक समझे जाते हैं, जब लड़की और लड़के का सम्बन्ध माता पिता की इच्छा पर ही निर्भर रहता है, तब इस का परिणाम यह होता है कि माता पिता अपने अज्ञान या स्वार्थ के वश होकर अपने लड़कों का मनमानी लड़कियों से और अपनी लड़कियों का मनमाने लड़कों से विवाह-सम्बन्ध कर देते हैं।

इनके इस अधिकार के फल-स्वरूप कई जगह बड़ी बड़ी तरुणी लड़कियों के गले में छोटे छोटे बालकों को वर कह कर लटका दिया जाता है, और कहीं कहीं बड़े बड़े बुड्ढों की दाढ़ी में छोटी बच्चियां फांद दी जाती हैं। कहीं शिक्षित पुरुषों के अशिक्षित स्त्रियों के साथ सम्बन्ध कर दिये जाते हैं तो कहीं अशिक्षित पुरुषों के घरों में शिक्षित स्त्रियों को कैद कर दिया जाता है। कहीं पति बड़े दार्शनिक विद्वान् हैं तो पत्नी महा मूढ़ लड़ाकू तथा अशिक्षित है और कहीं यदि पत्नी शिक्षित और सभ्य है तो पति महा अज्ञानी और कामी। इसका परिणाम यह होता है कि प्रकृति-भेद की वजह से घर में भयङ्कर कलह छिड़ जाता है। लोगों का खाना पीना हराम हो जाता है। घर स्मशान की तरह हो जाते हैं। आज भारतवर्ष में शायद ही कोई भाग्यवान् घर ऐसा बचा होगा जिसमें इस रोग का बीज न पहुँचा हो। इस रोग का भीषण परिणाम यह होता है कि मनुष्य तो दुःख और क्षोभ के मारे भीषण रोगों में ग्रस्त हो जाते हैं और कई आत्म-हत्या करके मर जाते हैं।

समष्टिगत विधवा-वृद्धि

यह इसी पद्धति से उत्पन्न होने वाला तीसरा रोग है। इसके मुख्य कारण दो हैं, एक तो प्राकृतिक और दूसरा ऊपर लिखा हुआ बेमेल विवाह। लेकिन भारतीय समाज में पाई जानेवाली विधवाओं में से अधिकांश विधवायें इस दूसरे ही कारण से उत्पन्न होती हैं। हम ऊपर लिख आये हैं कि माता-पिता अपनी इच्छानुसार बड़ी लड़की का छोटे लड़के के साथ और छोटी लड़की का बुड्ढे पुरुष के साथ विवाह कर देते हैं। इस प्रकार के बेमेल

विवाह यहां के समाज में बहुत अधिक होते रहते हैं, इसका परि-णाम यह होता है कि यहां के छोटे-छोटे बच्चे बड़ी-बड़ी लड़कियों के साथ अपने ब्रह्मचर्य्य का नाश करके अकाल ही में भयंकर रोगों के फन्दे में पड़ कर काल कवलित हो जाते हैं। इधर बूढ़े पति भी अपने जीवन का सार-शेष झटपट इन बालिकाओं को अर्पण कर चल बसते हैं। फल स्वरूप ये लाखों बालिकाएं निरा-श्रय हो चूड़ियां फोड़ कर जीवन भर के लिए एक कोने में बैठ जाती हैं। तो भी, गैर जिम्मेदार और दुष्ट माता-पिता तथा वृद्ध लंपट पति के पापों का बोझ इन निरपराध बालिकाओं पर लादा जाता है। "इसने पूर्व जन्म में भयंकर पाप किये होंगे। यह बड़ी दुर्भागिनी है, इसीलिए तो इसकी यह दशा हुई," ऐसा कह कर कुटुम्ब के लोग, तथा समाजवाले इन बेचारियों का तिरस्कार किया करते हैं।

इस प्रथा के फल स्वरूप आज भारतवर्ष में लाखों करोड़ों युवती विधवाएं विद्यमान हैं। इन बेचारियों का जीवन बड़ा ही दुःखपूर्ण है, सच पूछा जाय तो नरक की कल्पना से भी भीषण यन्त्रणाएं इन्हें समाज देता है। समाज उन छोटी-छोटी बालिकाओं को जिन्होंने अभी संसार में प्रवेश भी नहीं किया है, और जो इसी समाज की महती कृपा से विधवा हो गई हैं, बलात्कार ब्रह्म-चर्य्य का पालन करने को मजबूर करता है। इन बेचारियों के सामने विलास-मन्दिरों में दिन रात विलास-क्रीड़ा होती रहती हैं। इन्हीं के सामने इनकी भौजाइएं, इनकी बहनें यहां तक कि इनकी सासुएं और माताएं भी विलास में तल्लीन रहती हैं, और यह सब देख कर भी इन्हें अपने मन को वश में रखना पड़ता है। इतने

ही में समाप्ति नहीं होती। इनके रूप और जवानी की कहानी सुन कर समाज के वे ही पुरुष जो सामाजिक रूप में इनको ब्रह्मचर्य्य का आदेश करते हैं, व्यक्तिगत रूप में इनके पास गुप्त संदेश भेजते हैं कि कभी-कभी तो इनके देवर जेठ भी इनको भ्रष्ट करने पर उतारू हो जाते हैं। इसका फल क्या होता है? विलास की मारी हुई रमणियां इनके फन्दे में आकर भ्रष्ट हो जाती हैं। कुछ समय के पश्चात इन पतित पुरुषों के पाप का फल गर्भ के रूप में प्रकट होता है तब ये पुरुष तो अलग हो जाते हैं और ये भाग्य की सताई हुई या तो किसी तीर्थस्थान में जाकर या घर ही में उस गर्भ को गिरा देती हैं। इस प्रकार इस अभागे समाज में प्रति दिन सैकड़ों भ्रूण हत्याएं होती रहती हैं। पर बहुत सी स्त्रियां ऐसी भी होती हैं जो या गर्भ गिराना ही नहीं चाहती अथवा लाख चेष्टा करने पर भी उनका गर्भ नहीं गिरता, समाज ऐसी विधवाओं को अपने से अलग कर देता है, सासु, ससुर उसे निकाल देते हैं, माता-पिता उसे कुल कलंकिनी कर दुतकार देते हैं। फल यह होता है कि वह भाग्य की मारी निराश्रय होकर चारों ओर मारी-मारी फिरती है। हिन्दू-धर्म तो उसे शरण नहीं देता अन्त में वह मुसलमान या ईसाई समाज में शामिल हो अपनी रक्षा करती है।

आजकल के बहुत से समाज सुधारक और हिन्दू संगठन के हिमायती इसके लिए ईसाइयों और मुसलानों को दोष देते हैं, और इसके लिए उनसे लड़ने को तैयार होते हैं। पर अपने को इस सामाजिक रोग पर इस पुराने घाव पर ध्यान नहीं देते। इनका यह कार्य्य उसी प्रकार है जिस पर कोई मनुष्य अपने घाव

को तो आराम करने की चेष्टा नहीं करता मगर उस पर बैठनेवाली मक्खियों पर क्रोधित होकर उन्हें मारने की चेष्टा करता है। वह यह नहीं जानता कि जब तक घाव है तब तक मक्खियां उस पर भिनभिना कर बैठेंगी। इन मक्खियों को दूर करने का इलाज घाव को मिटाना है न कि मक्खियों को मारना। जब तक समाज में विधवाओं की ऐसी दुर्दशा रहेगी तब इस प्रकार की घटनाएं होती ही रहेंगी। इन घटनाओं को समाज का भय, धर्म का ढोंग, पातिव्रत्य का सौन्दर्य्य और कुल की लज्जा सब मिल कर भी नही रोक सकते।

समष्टिगत व्यभिचार

रुकावट जितनी जबर्दस्त होती है प्रवाह भी उतना ही शक्तिशाली और वेगवान होता है। जितनी कड़ी ऐंठन होती है गिरह उतनी ही ढीली पड़ जाती है। स्त्रियों पर ये जबर्दस्त बन्धन डाले तो इसलिए गये थे कि वे अनन्त-काल तक पुरुषों की गुलामी करती रहें। उन्हें ब्रह्मचर्य्य का पाठ पढ़ाया, उन्हें पातिव्रत का महत्त्व बतलाया उनके आगे सदाचार के गीत गाये। मगर ये सब बातें इतने अस्वाभाविक ढंग से की गईं कि इनका परिणाम बिलकुल उलटा हुआ। यदि सदाचार का उपदेश देनेवाले पुरुष स्वयं भी उनके आगे सदाचार आदर्श रखते तब तो उनका मंत्र सोलहों आने सिद्ध हो जाता, और पारस्परिक प्रेम का धागा भी नहीं टूटता। मगर इन्होंने व्यवहारिक जीवन में बिलकुल इसके विपरीत कार्य्य किया। उपदेश तो इन्होंने सदाचार का दिया लेकिन प्रत्यक्ष जीवन में इन्होंने दुराचार को अपनाया। फल यह

हुआ कि स्त्रियों का हृदय इनकी ओर से टूट गया। चारों ओर गार्हस्थ्य कलह का कुहराम मच गया। कौटुम्बिक शान्ति नष्ट-भ्रष्ट हो गई, और कोने-कोने से व्यभिचार की आग भभक उठी। आज गुप्त ही गुप्त रूप में भारत के अन्दर व्यभिचार का भीषण कारखाना चल रहा है, बड़े-बड़े राजघरानों में, धनिकों के विलास मन्दिरों में, गरीबों की टूटी हुई झोंपड़ियों में तीर्थ-स्थानों में, यहां तक कि विधवाश्रमों और कन्या शालाओं में भी जो व्यभिचार का ताण्डव नृत्य हो रहा है उसके शतांश का भी वर्णन करने के लिए कोई विद्वान् बैठे तो उसके आगे लन्डन-रहस्य के समान कई पुस्तकें फीकी पड़ जांयगी। दुनिया के और देशों में जहां स्त्रियों पर इतने बन्धन नहीं है, वहां पर भी व्यभिचार का इतना भयंकर स्वरूप देखने को नहीं मिलता। यहां की तो मनोभावनाएं ही व्यभिचार-मय हो गई हैं। जहाँ चार युवती स्त्रियाँ इकट्ठी होंगी, वहां उनका मनोरंजन भी व्यभिचार की भावनाओं से होगा। जहाँ चार युवक मिलेंगे वहाँ भी यही बातें होंगी। कोई तरुण पुरुष यदि किसी तरुणी स्त्री के साथ मिलेगा तो सब से पहले उसके दिल में इन्हीं भावनाओं का उदय होगा। मतलब यह कि यहाँ पर स्त्री और पुरुष के बीच व्यभिचार को छोड़ कर और किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रह गया है। यह पतन की चरम सीमा है।

जब तक यह भयंकर रोग इस प्रकार किसी समाज में लगा रहता है तबतक उस समाज में उन्नति की भावनाओं का उत्पन्न होना असम्भव है।

समष्टिगत दुर्बल सन्तान

विकृत विवाह-पद्धति का सब से अधिक भयंकर और अन्तिम दुष्परिणाम समाज में दुर्बल, अशक्त, कायर और बुद्धि-हीन सन्तानों की वृद्धि है। सबल और मेधावी सन्तानें तभी उत्पन्न हो सकती हैं जब दम्पत्ति का उचित आयु (२५ × १६) में विवाह हुआ हो, जब उनका पारस्परिक प्रेम द्वितीया के चन्द्रमा की तरह प्रति दिन एक-एक कला की वृद्धि पा रहा हो, जब दोनों के संस्कार बहुत उच्च श्रेणी के हों। मतलब यह कि योग्य सन्तान, स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन, और विकसित प्रेम के परिणाम हैं। पर जिह जगह की विवाह-पद्धति विकृत होती है वहां पर इनमें से एक भी बात नहीं पाई जाती। इस प्रकार की विवाह-पद्धति से युक्त समाज में काम वासना के सिवाय विवाह का कोई दूसरा उद्देश्य नहीं रहता। फिर वह काम-वासना चाहे ६० वर्ष के पुरुष से १३ वर्ष की स्त्री के साथ हो, चाहे चौदह वर्ष के बालक से अठारह वर्ष की स्त्री के साथ हो। फिर वह चाहे परम विद्वान् और दार्शनिक से किसी मूर्ख स्त्री के साथ हो, चाहे किसी मूर्ख और जड़ मनुष्य से किसी विदुषी स्त्री के साथ हो। ऐसी स्थिति में ऐसी विरुद्ध प्रकृति के दम्पत्तियों में पारस्परिक प्रेम का उत्पन्न होना कैसे सम्भव हो सकता है। फल यह होता है कि पुरुष स्त्री को अपने लिए भार स्वरूप समझता और स्त्री-पुरुष को अपने लिए स्वरूप समझती है। इस प्रकार के दम्पत्तियों में प्रेम और विचारों का कोई सम्बन्ध रहता ही नहीं। रह जाता है बलके काम-वासना का सम्बन्ध। दिन में या रात में जब कभी

इस प्रकार के स्त्री-पुरुष मिलते हैं तब केवल काम-वासना के सिवाय उन्हें कोई दूसरी बात ही नहीं सूझती । फल यह होता है कि नियम विरुद्ध संयोग से उनका निजी स्वास्थ्य गिर जाता है, जिसका असर उनके द्वारा होनेवाली सन्तति पर सोलहों आना पड़ता है । इसका भयंकर नतीजा यह होता है कि समाज में बेत-हाशा सन्तानें बढ़ने लगती हैं- मगर सब दुर्बल, सब अस्वस्थ, सब बुद्धिहीन, सब निर्माल्य । किसी के हाथ पांव गले हुए और पेट बढ़ा हुआ रहता है, किसी की आंखें धंसी हुई रहती हैं, और कोई जन्म ही से क्षय रोग से ग्रसित रहता है ।

इस दृश्य का नमूना भी भारतवर्ष में खूबी के साथ देखने को मिलता है । यहाँ पर बारह-बारह वर्ष की दुर्बल लड़कियाँ भी सन्तानों की माताएं हो जाती हैं । पन्द्रह वर्ष की लड़कियाँ तो आम तौर से माताएं हो ही जाती हैं । इतनी उम्र तक भी यदि किसी के सन्तान न हुई तो उसके ससुराल और पीहरवाले सभी देवताओं को मनाने लगते हैं । इतनी छोटी-छोटी लड़कियों की सन्तानें कितनी स्वस्थ और मेधावी होंगी यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है । परिणाम यह होता है कि १०० में से केवल २३ बच्चे जीवित रहते हैं, मगर आश्चर्य्य यह है कि इतने कम बच्चों के जीवित रहते हुए भी यहाँ की जनसंख्या दिन पर दिन बढ़ती ही चली जा रही है । बीमारियाँ चलती हैं, दुर्भिक्ष पड़ते हैं, दङ्गे होते हैं, हजारों लाखों मनुष्य इसमें स्वाहा हो जाते हैं फिर भी दस बरस के पश्चात् की मर्दुमशुमारी में यहाँ की जनता करोड़, डेढ़ करोड़ बढ़ी हुई ही मिलती है । इससे मालूम होता है कि अनियमित कामवासना से यहाँ पर कितनी बुरी

तरह से सन्तान वृद्धि हो रही है। अब इन उत्पन्न सन्तानों की बुद्धि और इनके स्वास्थ्य का हाल किसी स्कूल में जाकर हम देखते हैं तो मालूम होता है एक सिरे से दूसरे सिरे तक सब विद्यार्थी जैसे निराशा के सागर में डूबे हुए हों। सब के चेहरे पर एक प्रकार की मुर्दनी छायी हुई नजर आती है, सब का स्वास्थ्य एक दम गिरा हुआ दिखलाई देता है, ऐसा मालूम होता है मानों किसी ने उनके शरीर का सारभूत तत्त्व, उनकी रूह खींच ली हो।

जो समाज इस प्रकार की दुर्बल, बुद्धि-विहीन और कायर सन्तानों से बना हुआ हो वह समाज दुनिया के उन्नतिमय काल में स्वाधीनतापूर्वक कैसे जीवित रह सकता है। जिसका एक एक परमाणु, जिसका एक बच्चा इस प्रकार बिगड़ रहा हो वह अपने स्वास्थ्य को कैसे प्राप्त कर सकता है। विकृत विवाह-प्रणाली का यह सब से भयङ्कर परिणाम है।

चिकित्सा—

ऊपर जिन-जिन सामाजिक व्याधियों का विवेचन किया गया है उन सब का फैलाव चाहे कितना ही क्यों न हो, पर उन सब की जड़ एक ही स्थान पर है, उसमें सुधार कर देने से ये सब व्याधियाँ अपने आप नष्ट हो सकती हैं। उस सुधार की व्याख्या एक ही वाक्य में इस प्रकार हो सकती है "स्त्रियों की स्वाभाविक स्वाधीनता की रक्षा अथवा विवाह प्रणाली में सुधार।"

ऊपर हम इस बात को भली भांति सिद्ध कर चुके हैं कि स्त्री जाति को अपने उपभोग की वस्तु समझ लेने से ही विवाह-

प्रणाली में यह भयङ्कर विकृति उत्पन्न हुई है और इस विकृति के उत्पन्न होने ही से यह दुर्दशा हुई है। यह दुर्दशा तभी नष्ट हो सकती है जब पुरुष समाज अपनी इस नाशक प्रवृत्ति को नष्ट कर के स्त्री-समाज की स्वाभाविक स्वाधीनता पर हाथ डालना छोड़ दे। जिस प्रकार बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध करने की ओर उसका ध्यान है उतना ही, बल्कि उससे भी कई अंशों में ज्यादा वह बालिकाओं की शिक्षा की ओर ध्यान दे। वह शिक्षा ऐसी न हो जो उन्हें गुलामी के सांचे में ढाल कर निर्माल्य कर दे। प्रत्युत उन्हें स्वाधीनता के प्रकाश में ले जानेवाली हो। जब तक बालक और बालिकाएँ नाबालिग रहें तब तक उनके माता पिता उनका विवाह न करें, और उनके पूर्ण रूप से बालिग होने पर उन्हें इस बात की स्वतन्त्रता दे दें कि वे चाहें तो ब्रह्मचारी रहें और चाहें तो अपनी पसन्दगी से, माता पिता की अनुमति ले कर योग्य युवक से विवाह कर लें इस सम्बन्ध में माता पिता उन पर किसी प्रकार का दबाव न डालें। हाँ, समय समय पर इस सम्बन्ध में उन्हें उचित सलाह अवश्य देते रहें। यदि कोई स्त्री एक पति के मरने पर अपना दूसरा विवाह करना चाहे तो पातिव्रत की दुहाई देकर समाज उसमें हस्तक्षेप न करे, ऐसा करने का उसे कोई हक नहीं है। अपने चरित्र और अपने पाति-व्रत की जिम्मेदार स्वयं वह स्त्री है। यह बातें ऐसी हैं जिनकी रक्षा हृदय ही कर सकता है बाहरी सामाजिक विधान नहीं। इस प्रकार के बलात्कार पूर्ण सामाजिक विधानों से लाभ तो रंचमात्र भी नहीं होता और हानि पहाड़ों के बराबर हो जाती है। हाँ, तो विधवाओं का विवाह करना या न करना इस सम्बंध

में समाज उनको पूर्ण स्वाधीनता दे दे। यदि कोई विधवा अपना विवाह करना चाहे तो वह उतनी ही आसानी से कर सके जितनी आसानी से आजकल एक पुरुष अपना दूसरा विवाह करता है, उसके लिए समाज उसे रंचमात्र भी तिरस्कार की दृष्टि से न देखे। इसके अतिरिक्त अत्यन्त छान-बीन के साथ विवाह करने पर भी यदि किसी दम्पति में पारस्परिक प्रेम न हो, उनमें नित्य कलह होता रहे तो समाज उन्हें इस बात का अधिकार दे दे कि वे परस्पर में सम्बन्ध-विच्छेद कर लें। और यदि वे आवश्यक समझें तो विचार पूर्वक अपना दूसरा विवाह कर लें। एक बार इस प्रकार सम्बन्ध-विच्छेद होने पर समाज की ओर से उनके प्रति हिकारत की निगाह न रक्खी जाय।

इस प्रकार पुरुष और स्त्री दोनों को उनकी स्वाभाविक स्वाधीनता दे देने से उपर्युक्त सब बीमारियाँ अपने आप दूर हो जायँगी, और समाज आज़ादी के साथ फलने फूलने लगेगा। जब बाल्यावस्था में बालकों के साथ ही साथ बालिकाओं को भी उत्तम शिक्षा मिलने लगेगी, और मानसशास्त्र, अधिजननशास्त्र, समाजशास्त्र के प्रधान तत्त्वों से वे परिचित हो जायँगी तो आगे जाकर उनका मानसिक विकास स्वाभाविक रूप से होने लगेगा, यौवन के आते आते वे इस बात का निश्चय कर लेंगी कि उनके लिए विवाह ज्यादा उपयुक्त है या अविवाहित रहना। आजकल स्त्रियों का अविवाहित रहना पाप समझा जाता है। इसका कारण यही है कि इस समय विवाह का मूल उद्देश्य काम-वासना ही समझा जा रहा है। इसका परिणाम यह होता है कि कई ऐसी स्त्रियाँ जो दूसरे ऊँचे दर्जे के काम करना चाहती हैं वे भी

जबर्दस्ती विवाह के बन्धन में बान्ध दी जाती हैं। वे इस बात को सोच भी नहीं सकतीं कि उनके लिए विवाहित रहना ज्यादा अच्छा है, या अविवाहित रहना। मगर शिक्षित स्त्रियाँ इस बात को भली प्रकार सोच सकेंगी। अतएव जो राजनीति, समाज नीति, योगविद्या आदि में प्रविष्ट होना चाहेंगी वे स्वभावतः ही अविवाहित रह जायँगी और जो कौटुम्बिक जीवन और दाम्पत्य प्रेम का विकास करना चाहेंगी वे अपनी इच्छानुसार, अनुकूल प्रवृत्तियों वाले युवकों को चुन कर उनसे विवाह सम्बंध कर लेंगी। जो दम्पति स्वयं अपनी पसन्दगी से बनेंगे उनमें पारस्परिक प्रेम का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। उनका अधिकांश समय विचार करने में, जीवन की जटिल समस्याओं को सुलझाने में और ज्ञान की खोज करने में ही व्यतीत होगा। इसका परिणाम यह होगा कि दिन रात भोग-विलास करनेवाले व्यक्तियों की कृपा से जो बेतहाशा सन्तान वृद्धि हो रही है वह अपने आप रुक जायगी। इसको रोकने के लिए और कृत्रिम उपायों की आवश्यकता न रहेगी। सन्तानें कम उत्पन्न होंगी, मगर जो होंगी वे सब बहादुर, परिश्रमी, मेधावी और दीर्घजीवी होंगी। इस प्रकार प्रेमाभाव गार्हस्थ्य-कलह और दुर्बल सन्तानों का प्रश्न अपने आप हल हो जायगा। रहा, विधवाओं का प्रश्न, सो इसका भी उस समय कोई महत्त्व नहीं रहेगा। जिस प्रकार इस समय पुरुषों के लिए दूसरा विवाह करना अस्वाभाविक नहीं समझा जाता है उसी प्रकार उस समय विधवाओं का दूसरा विवाह भी अस्वाभाविक नहीं समझा जायगा। ऐसी स्थिति में अधिकांश तरुणी विधवाएँ तो अपना विवाह कर ही लेंगी। शेष जो अपना विवाह करना

न चाहेंगी वे आजादी के साथ कुटुम्ब-धर्म या समाज की सेवा कर सकेंगी। ऐसी विधवाओं के रहने के लिए समाज में स्थान स्थान पर संरक्षण गृह बना दिये जावेंगे। जहाँ रह कर वे अपने ज्ञान से, अपनी बुद्धि से और अपने चातुर्य से समाज की सेवा कर सकेंगी इस प्रकार एक ही उपाय से समाज की ये सारी व्याधियाँ नष्ट हो जायँगी, और वह फलने फूलने लगेगा।

चौथा अध्याय

रोग—समष्टिगत प्रारब्धवाद

,, —— ,, ,, तामस

,, —— ,, ,, अकर्मण्यता

,, —— ,, ,, जड़ता

कारण—अपूर्ण ईश्वरवाद, [illegible],

अनेक देववाद।

चिकित्सा—आनन्दमय धर्म, और भौतिक

विज्ञान का प्रचार।

ये सब समाज के प्रमेह रोग हैं। जिस प्रकार प्रमेह मनुष्य शरीर का नाश करते करते उसे दुर्बल, क्षीण और नपुंसक बना देता है, उसकी उत्साह शक्ति को नष्ट कर देता है; उसी प्रकार ये प्रारब्धवाद या समष्टिगत तामस या अकर्मण्यता समाज की जीवनी-शक्ति को नष्ट करते करते उसे अत्यंत दुर्बल, क्षीण, नपुंसक और जड़ बना देते हैं। ये बड़े ही भयानक रोग हैं जिस समाज में ये लग जाते हैं उस समाज के अन्दर रहने वाले व्यक्ति नितान्त तमोगुणी, अकर्मण्य और उत्साह-शून्य हो जाते हैं।

(१) ये सब रोग अपूर्ण ईश्वरवाद की जड़ में से उत्पन्न होते हैं। इस वाद को माननेवाले मनुष्य-समाज का विश्वास रहता है कि यह सारी सृष्टि ईश्वर की बनाई हुई है। जगत् में होने वाले

सभी कार्य्य उसी की इच्छा के परिणाम हैं। हम सब उस मशीन के पुर्जे मात्र हैं। ईश्वर ने हमें पैदा करते समय हमारे तक़दीर में, हमारे प्रारब्ध में जो बातें लिख दी हैं वे सब होकर ही रहेंगी, हमारे लाख चेष्टा करने पर भी वे मिट नहीं सकती। इस प्रकार इस विचार पद्धति की जड़ में से प्रारब्धवाद की उत्पत्ति होती है। कहना न होगा कि यह प्रारब्धवाद ही समष्टिगत तामस, अकर्मण्यता और जड़ता का जनक है।

अब तक मनुष्य-जाति को अकर्मण्य, गुलाम, जड़ और तमोगुणी बनाने में इस प्रारब्धवाद ने जितनी सहायता दी है उतनी शायद किसी दूसरी चीज़ ने नहीं दी। इस भयङ्कर रोग ने मनुष्य की विशाल कल्पना-शक्ति के मार्ग में, उसके ज्ञान के विकास में, उसकी कर्म-शक्ति के उत्साह में बड़े बड़े भयङ्कर विघ्न डाले हैं। इस प्रारब्धवाद पर विश्वास करके अब तक मनुष्य-जाति ने भयङ्कर से भयङ्कर दुःखों को, बिना उनका प्रतिकार किये सहन किया है।

भारतवर्ष में तो इस भीषण रोग ने बड़ी ही मज़बूती से अपना पञ्जा जमाया है। यहां के बड़े बड़े महात्मा, कवि और विचारक इस रोग के पंजे में फंसे हुए नज़र आते हैं।

सुनहु भरत भावी प्रबल, विलखि कहेऊ मुनिनाथ !
हानि, लाभ, जीवन, मरण, यश अपयश विधि हाथ !

यहां के साधारण जन समाज में प्राचीन काल से लेकर अब तक तक़दीरवाद का बहुत बोल बाला रहा है। यहां कर्म-हीन जनता ने छोटे छोटे कामों में भी इस तक़दीरवाद का पचड़ा घुसेड़ दिया है। हाथ में से चाकू छूट कर पैर पर गिर पड़ा, घाव हो

गया, क्या किया जाय तक़दीर में ऐसा ही लिखा था, रण्डीबाज़ी की, शराब पी, पैसा उड़ गया और दरिद्रता आ गई। क्या करें, भाग्य के खेल हैं, मनुष्य का क्या वश है। लड़के को पढ़ाया, लिखाया नहीं, वह महा दुराचारी और नालायक निकला, क्या करें अच्छे भाग्य के बिना अच्छे लड़के कहां से मिलेंगे। आम के वृक्ष को खाद्य नहीं दिया, उसकी सम्हाल नहीं की, वह सूख गया, क्या करें ईश्वर की कुदरत ही ऐसी है। आठ बरस की उमर में ही एक दस बरस की लड़की से लड़के की शादी कर दी, चार बरस के बाद लड़का मर गया। क्या करें, हमारे और इस छोटी लड़की के भाग्य फूटे हुए हैं; नहीं तो क्या ऐसा हो सकता था ?

इस प्रकार यहां की जड़ जनता ने तक़दीरवाद के फेर में पड़ कर अपनी प्रयत्न-शक्ति को बिलकुल ही छोड़ दिया। इस उदासीनता को बढ़ाने में यहां की धर्म-शिक्षा ने भी खूब सहायता दी। संसार झूठा है, स्त्री नरक की खान है, जो जितना कर्म करता है वह उतना ही संसार में फंसता है इस प्रकार शिक्षा दे-देकर उसने उसकी रही सही कर्म-शक्ति को भी नाश कर दिया। इस प्रकार यहां के मनुष्यों की प्रयत्न-शक्ति का विकास और ज्ञान की वृद्धि जहां की तहां रुक गई।

इस प्रकार उदासीन होकर यहां के लोगों ने समझा कि हम सतोगुण की उपासना कर रहे हैं, उनके धर्म ने उनके इस विश्वास का समर्थन किया। इधर उनकी अकर्मण्यता ने उनके अन्दर सतोगुण को तो नहीं ठहरने दिया मगर उसके स्थान में महापतित और निकृष्ट तमोगुण की स्थापना कर दी। क्योंकि आलसी मन

शैतान का घर होता है। मतलब यह कि सतोगुण की उपासना के ढोंग ने यहां के समाज को घोर तमोगुण में गिरा दिया। जिससे यहां की जनता घोर अकर्मण्य, आलसी और राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक सभी दृष्टियों से गुलाम हो गई। उसकी तरक्की एक दम रुक गई। यहां तक कि प्राचीन काल में उसके पूर्वजों ने राजनैतिक, सामाजिक और अर्थ सम्बन्धी जिन तत्त्वों का आविष्कार किया था, उन सबको भी वह भूल गई। वह अपना इतिहास ही खो बैठी। "मनुष्य का ज्ञान कुछ नहीं तकदीर ही सब कुछ है।" इस एक विश्वास ने उसका जड़ बुनियाद से नाश कर दिया।

(२) प्रारब्धवाद के सिवाय "अनेक दैववाद" की भावनाओं ने भी इन रोगों को बढ़ाने में बहुत सहायता दी। यद्यपि यह विश्वास मनुष्य-जाति की आदिम अवस्था का है फिर भी यह अब तक मनुष्य-जाति में विद्यमान है, खास कर भारतवर्ष में तो आज भी इसका बहुत प्रभाव है। इस देश में भिन्न भिन्न प्रकार के हजारों लाखों देवताओं का इस समय भी अस्तित्व है, और दिन प्रतिदिन नये नये भी उत्पन्न होते जाते हैं। हिन्दुस्थान का पत्थर किस दिन देवता हो जाय इसका कोई निश्चय नहीं। क्योंकि यहां पर दो पैसे के सिन्दूर और एक पैसे का तेल ही किसी पत्थर को देवता बनाने के लिए पर्याप्त है। कोई भी बात मनुष्य की समझ में नहीं आई, उसका उपाय उससे नहीं हुआ कि चट किसी पत्थर के सिन्दूर लगा कर उसका देवता बनाया और लगे ढोल पीट पीट उसके सामने नाचने। वृष्टि नहीं हुई; देवता का कोप है, महामारी चली; देवता का कोप है, खेती में रोग लगा

गया, देवता नाराज़ हो गये, बच्चे को माता की बीमारी हुई; शीतला देवी का प्रकोप है। मतलब यह कि इस विश्वास के लोग प्रारब्ध की जगह इन देवताओं को मानते हैं। और प्रत्येक विपत्ति के होने पर सब उपायों को छोड़ कर इनको मनाते हैं। इनके इस विश्वास पर कई बच्चे, कई हरी भरी फसलें नष्ट हो जाती है, तब ये तक़दीर पर हाथ रक्खे आंसू बहाने लगते हैं। इनका यह विश्वास भी इनकी अकर्मण्यता को बढ़ाने में बड़ा सहायक होता है।

इन्हीं दोनों प्रधान कारणों की वजह से आज भारत की जनता अत्यन्त निराश, अकर्मण्य, जड़ और गुलाम होकर तक़दीर और ईश्वर के भरोसे बैठी हुई है। उसमें जीवन नहीं है, स्फूर्ति नहीं है, काम करने का उत्साह नहीं है। उसका मस्तिष्क और उसकी विचार-शक्ति ठस हो गई है। दुनिया की वैज्ञानिक उन्नति को देखकर वह आश्चर्य्य-चकित हो रही है। मगर उसमें भाग लेने की उसकी इच्छा नहीं है। दुनिया के सभी देशों में दिन प्रतिदिन किसी न किसी प्रकार के आविष्कार हो रहे हैं, मगर भारत में किसी भी आविष्कार की चर्चा नहीं सुनी जाती। इतने भीषण रोगों से ग्रसित जनता आविष्कार कर भी कैसे सकती है? पहले तो उसका कौटुम्बिक जीवन ही इतना दुःखमय है कि उसको सुख की एक सांस भी नसीब नहीं होती। दिन रात जीवन संघर्ष के मारे वह परेशान रहती है। उस परेशानी को दूर करने का वह कोई उपाय भी नहीं करती क्योंकि उसे वह अपने प्रारब्ध का अनिवार्य्य परिणाम समझती है। इसके अतिरिक्त इस भारतीय समाज में बहुत ही कम कुटुम्ब ऐसे होंगे

जिनमें कोई बालिका या तरुण विधवा न हो। करोड़ों विधवाएं प्रारब्ध के नाम पर इस समाज में निर्माल्य कर दी गई हैं। इनके द्वारा समाज की जो अमूल्य सेवाएँ हो सकती हैं उनसे तो तो यह हतभागा समाज वंचित है ही, उलटे इनकी वेदनाओं और गर्म आहों से सारे कुटुम्ब के कुटुम्ब महान् दुःखी रहते हैं। इनका त्रास उन्हें रात दिन दुःखी करता रहता है। इनकी रक्षा की हमेशा उन्हें चिन्ता रहती है, कहीं यह दुराचारिणी न हो जाय, कहीं कोई गुण्डा इसके सतीत्व को भ्रष्ट न कर दे, बस इसी चिन्ता में उनका बहुतसा समय चला जाता है। यह तो यहां का कौटुम्बिक जीवन है। इसके पश्चात् यहां का सामाजिक और धार्मिक जीवन और भी भ्रष्ट है।

चिकित्सा

(१) इन भीषण रोगों की चिकित्सा आनन्दवाद और आशावाद को समर्थन करने वाले धर्म का प्रचार है। मनुष्य पापी है, नीच है, क्षुद्र है, संसार झूठा है, असार है, इस प्रकार से मनुष्य निराशा की अतल गर्त में डूब जाता है। सच पूछा जाय तो इसकी भावनाएँ धर्म के सौन्दर्य्य ही को नष्ट कर देती है। अतएव धर्म के अन्दर से ऐसी भावनाओं को निकाल कर उनके स्थान में आशावाद की भावनाएँ भर देनी चाहिए। तुम अनंत ज्ञान, अनंत शक्ति और अनत-आनंद से भरपूर हो। तुम्हारे अन्दर विश्वात्मा का सौन्दर्य्य विचरण कर रहा है। तुम दिन प्रति दिन उत्थान के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हो। तुम्हारी शक्तियाँ दिन प्रति दिन विकसित होकर संसार का कल्याण कर रही हैं,

तुम पाप के पथ में नहीं जा सकते। तुम्हें इस लोक में पूर्ण आनन्द और परलोक में चिर-शान्ति-युक्त लोक प्राप्त होगा, इत्यादि आशाप्रद संस्कारों को प्रदान करनेवाला धर्म ही इस रोग को नष्ट कर मनुष्य जाति की उन्नति में सहायक होगा। संसार के तत्वज्ञान, दुनिया के दर्शन-शास्त्र भी अब इसी प्रकार के धर्म की खोज में लगे हुए हैं। अब निराशावाद का समर्थन करनेवाले दुनिया की उन्नत।सभ्यता के प्रकाश में ठहर नहीं सकते। वेदान्त ने सब से पहले आनन्दवाद का आविष्कार किया और अब थियासोफी के आचार्य्य विकासवाद के आविष्कार में जी तोड़ कर परिश्रम कर रहे हैं। कुछ भी हो, मनुष्य जाति की यह निराशा, उसका यह तमोगुण और उसका यह जड़त्व तभी नष्ट होगा जब निराशावाद का समर्थन करनेवाले धर्मों का नाश होकर आशावाद का समर्थन करनेवाले धर्म का उदय होगा।

(२) इन रोगों की दूसरी चिकित्सा प्रारब्धवाद का नाश है। मनुष्य ने अपने अज्ञान के वश हो अब तक इस प्रारब्ध को इतना अधिक महत्त्व दे डाला है कि जिसे देख कर बड़ा आश्चर्य होता है। सच बात तो यह है कि अभी तक मनुष्य का ज्ञान बहुत अपूर्ण है। दुनिया में बहुत सी घटनाएं तो ऐसी होती हैं जिनका कारण मनुष्य अपने ज्ञान के बल से समझ सकता है। लेकिन कई घटनाएं ऐसी भी होती हैं जो मनुष्य के अपूर्ण ज्ञान की परिधि से बाहर होती हैं, उनके मूल कारण का पता लगाने में वह अ-समर्थ रहता है। जब वह कोशिश करके भी ऐसी घटनाओं का पता लगाने में अपने को असमर्थ पाता है तब तत्काल उनकी जड़ में वह प्रारब्ध का अडङ्गा लगा देता

है। भौतिक विज्ञान की उन्नति ने इस सिद्धान्त को बिलकुल स्पष्ट करके बतला दिया है। बहुतसी ऐसी बातें जो पहले प्रारब्ध का परिणाम समझी जाती थीं, अब प्रारब्ध-मूलक नहीं समझी जातीं, अब उनके मूल कारणों का पता लग गया है और उनको उत्पन्न करने, नष्ट करने, घटाने और बढ़ाने की शक्ति भी मनुष्य के हाथ में आ गई है। मतलब यह कि प्रारब्ध नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। बल्कि सृष्टि रहस्य के जिन भण्डारों की कुंजियां अब तक मनुष्य जाति के हाथ में नहीं आई है उन्हीं में मनुष्य जाति ने प्रारब्ध नामक अन्धकारमय वस्तु को मान रक्खा है। ज्यों-ज्यों मनुष्य के ज्ञान का विकास होता जायगा और उसके ज्ञान से सृष्टि रहस्य के ताले खुलते जायँगे त्यों-त्यों यह प्रारब्ध नामक वस्तु नष्ट होती जायगी। और जिस दिन उसका ज्ञान अपनी पूर्णावस्था को पहुँच जायगा उसी दिन प्रारब्ध नामक वस्तु का संसार में अस्तित्व न रहेगा। अतएव यह सिद्ध हुआ कि दुनिया के अन्दर मनुष्य को जितने दुःख उठाने पड़ रहे हैं वे उसके प्रारब्ध के नहीं प्रत्युत उसके अज्ञान के परिणाम हैं। इस बात को एकाध उदाहरण के द्वारा सिद्ध करना और भी अधिक उपयुक्त होगा। कल्पना कीजिए एक बीस वर्ष का युवक स्वास्थ्य के नियमों का ज्ञान न होने से संग्रहणी या और किसी रोग से पीड़ित हो गया उसके साथ उससे अधिक उम्र का एक दूसरा मनुष्य भी उसी रोग से पीड़ित है। दोनों की चिकित्सा एक ही डाक्टर के हाथ में है। डाक्टर पूरी चिन्ता के साथ दोनों की चिकित्सा कर रहा है। उसकी उस चिकित्सा से वह दूसरा व्यक्ति तो धीरे धीरे अच्छा हो रहा है मगर वह पहिला व्यक्ति अच्छा नहीं

होता। दोनों के एक ही रोग है और एक ही चिकित्सा है। मगर आश्चर्य्य यह है कि एक तो सुधर रहा है और एक बिगड़ रहा है। इस घटना को देख कर वह डाक्टर और दूसरे लोग बड़े ही चकित हो रहे हैं। अन्त में कुछ दिनों के पश्चात् वह दूसरा व्यक्ति तो बिलकुल तन्दुरुस्त हो जाता है मगर डाक्टर के लाख चेष्टा करने पर भी वह बीस वर्ष का युवक मर जाता है। ऐसे स्थान पर बड़े-बड़े समझदार भी कह बैठते हैं कि क्या करें चेष्टा तो बहुत की मगर उसका तकदीर ही ऐसा था। लेकिन जो लोग गम्भीर विचारक हैं वे ऐसे समय में भी धैर्य्य के साथ यही कहेंगे कि मनुष्य जाति के अपूर्ण ज्ञान से ही उसकी मृत्यु हुई। अभी तक मनुष्य-समाज को शरीर-शास्त्र का इतना गहरा ज्ञान नहीं हुआ है कि वह शरीर की बारीक से बारीक समस्याओं को हल कर सके। चिकित्सा-विज्ञान की चाहे कितनी ही तरक्की क्यों न हुई हो फिर भी अभी उसकी चिकित्सा अन्धकार में निशाना मारने की तरह है। जब शरीर-शास्त्र और चिकित्सा-शास्त्र का पूरा-पूरा ज्ञान मनुष्य जाति को हो जायगा तब प्रारब्ध इस प्रकार मनमाना नहीं कर सकेगा। जिस प्रकार आज से सौ बरस पहिले माता, हैज़ा और प्लेग के सैकड़ा पिचानवे बीमार प्रारब्ध का नाम ले लेकर मर जाते थे मगर आज पांच या दस ही मरते हैं, उसी प्रकार जिस दिन यह ज्ञान और भी बढ़ कर अपनी सीमा पर पहुँच जायगा उस दिन इस प्रकार एक भी मनुष्य अकाल मृत्यु का शिकार न होगा।

तात्पर्य्य यह कि मनुष्य जाति को इस बात का विश्वास दिलाया जाय कि प्रारब्ध नामक कोई वस्तु नहीं है। दुनिया में

जितनी दुर्घटनाएँ होती हैं सब तुम्हारे अज्ञान का परिणाम है। यदि तुम इनके रहस्य को खोजोगे, यदि तुम अपने ज्ञान की उन्नति करोगे तो तुम अपने प्रारब्ध पर आप शासन करने लगोगे। जब तक तुम प्रारब्ध पर विश्वास करके निराश होकर अकर्मण्य की तरह बैठे रहोगे तब तक प्रारब्ध तुम्हें निरन्तर सताता रहेगा। तुम इसके विश्वास पर निरन्तर दुःख की अग्नि में जलते रहोगे मगर जिस दिन तुम अपने भाग्य के आप विधाता बन जाओगे, जिस दिन तुम अपने ज्ञान और प्रयत्नों का विकास करने लग जाओगे, उसी दिन से प्रारब्ध तुम्हारा गुलाम हो जायगा। दुनिया की भीषण से भीषण दुर्घटना को भी तुम प्रारब्ध का परिणाम मत समझो। उसके मूल कारण को खोजो, एक बार की असफलता से निराश मत होओ, एक के बाद एक कोशिश उसके तत्त्व को खोजने की करते रहो। एक दिन अवश्य तुम्हें उसके प्रकाशमय कारण का पता लगेगा और तुम्हारे उस उद्योग से भविष्य में ऐसी घटनाओं का होना बन्द हो जायगा।

(३) इन भयंकर रोगों की तीसरी औषधि भौतिक विज्ञान का अधिकाधिक उत्थान है। भौतिक विज्ञान ने इस प्रारब्धवाद और निराशावाद-मूलक धर्म के ताने-बाने बिखेरने में बहुत सहायता दी है। इसने अपने प्रत्यक्ष सिद्धान्तों के द्वारा सिद्ध कर दिया है कि इस संसार में बिना कारण के कोई भी कार्य्य सम्पन्न नहीं होता। प्रत्येक घटना की जड़ में ईश्वर या प्रारब्ध को बताने वाले लोग अभी बहुत अज्ञान में हैं। दुनिया में ऐसा कोई कार्य्य नहीं, ऐसी कोई घटना नहीं जिसका कारण मनुष्य अपने ज्ञान द्वारा न समझ सके। हाँ, अभी मनुष्य का ज्ञान अपूर्ण है इस

लिए दुनिया में होनेवाली कई घटनाओं को देखकर उसे आश्चर्य होता है। मगर एक दिन ऐसा आयगा जिस दिन मनुष्य के ज्ञान के प्रकाश से आश्चर्य्य नामक वस्तु समूल नष्ट हो जायगी और दुनिया की किसी घटना को देख कर मनुष्य चकित न होगा। जिस प्रकार आज से पचास या सौ वर्ष पहले के लोग बाजीगरों के तमाशे देख कर आश्चर्य्य चकित हो जाया करते थे मगर आज इन खेलों में किसी को कुछ विशेषता नहीं मालूम होती उसी प्रकार कुछ समय के पश्चात् प्रारव्ध के इन आश्चर्य्य-जनक खेलों की भी पोलें खुल जायंगी और मनुष्य जाति के भ्रम का यह परदा फट जायगा। मतलब यह कि ज्यों-ज्यों विज्ञान का प्रचार बढ़ता जायगा त्यों-त्यों मनुष्य जाति का नैराश्य, उसकी यह अकर्म-शीलता, उसका यह तामस और उसकी यह जड़ता अपने आप नष्ट होती जायगी।

पांचवां अध्याय

असाध्य-निदान

जिस समाज में निम्न-लिखित रोग एकसाथ उत्पन्न हो गये हों, उसको त्रिदोष पीड़ित समझना चाहिए। ऐसे समाज की चिकित्सा होना अत्यन्त दुःसाध्य है। ऐसी स्थिति में समझदार चिकित्सकों का कर्त्तव्य है कि उसके नाम रूप का मोह छोड़ कर, उसकी अच्छी अच्छी सामग्री (ऊंचा साहित्य, बढ़िया रिवाज, इत्यादि) को संग्रहित कर उनमें नवीन काल की उपयोगी सामग्री मिला कर नवीन समाज के बढ़िया महल की रचना प्रारम्भ कर दे। जिस समाज का किला बिलकुल जर्जर हो गया हो; जिसमें वायु और प्रकाश पहुँचने के मार्ग बिलकुल बन्द हो गये हों; जिसकी दिवारों में सैकड़ों छिद्र हो गये हों; जिसके एक स्थान की मरम्मत करते करते दस स्थान खण्डित हो जाते हों, जो सुधार की सीमा से परे चला गया हो ऐसे किले की मरहम पट्टी करते रहने से कोई लाभ नहीं, ऐसे किले का अस्तित्व दुनिया के लिए खतरनाक होता है। न मालूम किस समय उसका कौनसा हिस्सा गिरे और क्या क्या भयङ्कर अनर्थ उत्पन्न करे। अच्छा हो ऐसे किले को किसी का नुक्सान होने के पहले ही गिरा दिया जाय और उसमें से काम में आने लायक मसाला लेकर और उसमें नया मसाला मिलाकर अनुकूल, मजबूत, बढ़िया, चारों ओर से खुला हुआ नया किला तैयार कर लिया जाय।

(१) सामाजिक गुलामी—जिस समाज के रीति-रिवाज उसमें रहनेवाले सदस्यों को अपने बन्धन में बांधते हों। जिसके रीति-रिवाज मनुष्य और मनुष्य की एकता को नष्ट कर उसके उस बीच में भेदभाव की दीवार खड़ी करते हों, जिसके विधान एक अङ्ग के लिए तो आशीर्वाद की तरह और दूसरे अङ्ग के लिए शाप तुल्य हों, जिसकी विवाह-पद्धति भ्रष्ट हो रही हो, जिसमें कमज़ोर सन्तानों की तेजी के साथ वृद्धि हो रही हो, जिसके व्यक्ति सैकड़ों जातियों में बंटे हुए हों, जिसमें व्यक्ति-स्वाधीनता और विचार-स्वाधीनता का कोई महत्त्व नहीं समझा जाता हो, जिसमें रूढ़ि का एक तंत्री साम्राज्य हो, जिसमें प्रारब्धवाद का डङ्का पिट रहा हो, तथा जिसमें समष्टिगत-व्यभिचार, समष्टिगत-तामस और समष्टिगत-अकर्मण्यता का साम्राज्य छाया हुआ हो, समझ लो कि वह समाज सामाजिक दृष्टि से बिलकुल गुलाम है।

(२) धार्मिक गुलामी—जिस समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के कई धर्म प्रचलित हों, तथा वे अपने अनुयायियों को अपनी अपनी कोठरियों में बन्द कर बाहर की शुद्ध वायु लेने से मना करते हों। जिस धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने में, दूसरे धर्म वालों के साथ सहयोग करने में, दूसरे धर्म के साथ सहानुभूति दिखलाने में पाप समझते हों, जिस धर्म के अनुयायी बुद्धि से शत्रुता कर, विचार से विरोध कर केवल अन्ध विश्वास पर आपस में मरने, मारने को तैय्यार हो जाते हैं, और इन्हीं अन्ध विश्वासों पर सैकड़ों, हजारों, लाखों रुपया यहां तक कि अपना सर्वस्व लुटा देने को तैय्यार हो।

समझ लो कि इस समाज के सदस्य धार्मिक दृष्टि से गुलाम है। बुद्धि और विचार का विरोध ही इस धार्मिक गुलामी का प्रधान लक्षण है।

(३) राजनैतिक गुलामी—जिस समाज से भिन्न स्वार्थों-वाली किसी बाहरी जाति का राज्य हो, अथवा अपनी ही जाति के किसी निरङ्कुश राजा का राज्य हो, जिस जाति की शिक्षा, रक्षा, सभी दूसरों के हाथ में हो, तथा जिस जाति की राष्ट्रीय भावनाएं नष्ट हो गई हों, समझ लो कि वह जाति राजनैतिक दृष्टि से गुलाम है।

यही तीनों गुलामियाँ मिल कर समाज का त्रिदोष हो जाता है। इसमें जब आर्थिक गुलामी का तत्त्व मिल जाता है तब वह त्रदोष भीषण सन्निपात का रूप धारण कर लेता है। एक ओर तो अर्थ के अभाव से दुःखी होकर लाखों मनुष्य भूखे नङ्गे फिरते हुए दृष्टि-गोचर होते हैं दूसरी ओर अर्थ के प्रभाव से प्रभावित हजारों व्यक्ति अपनी रक्षा के लिए सामाजिक राजनैतिक और धार्मिक गुलामियों को बढ़ाते रहते हैं। यह समय समाज के लिए बड़ा ही सङ्कट पूर्ण हो जाता है। इससे धीरे धीरे समाज में जड़त्व का संचार हो जाता है। यह जड़त्व ही मृत्यु है। क्योंकि समाज का पाप की धार में बहना, युद्ध, हत्या, और रक्त-पात में परिणत होना उतना बुरा नहीं जितना बुरा उसका एक स्थान पर रुक जाना है। पाप के मार्ग पर अग्रसर होने वाला समाज एक दिन पुण्य के उच्चतम शिखर पर भी पहुँच सकता है पर जिसकी गति बन्द हो गई है, जिसकी जीवनी-शक्ति नष्ट हो गई है उस समाज को सबसे अधिक दुर्दशा-ग्रस्त समझना

चाहिए। समाज-चिकित्सकों का कर्तव्य है कि सबसे प्रथम ऐसे समाज को किसी न किसी प्रकार गति प्रदान करें। जीवन संचार होने पर उसके उद्धार का मार्ग खुल जायगा।

दूसरा खण्ड

पहला अध्याय

क्रान्ति

मनुष्य-प्रकृति में साधारणतः दो प्रकार की भावनाएं सदैव विद्यमान रहती हैं। पहली स्वार्थसाधन की प्रवृत्ति और दूसरी महत्त्वाकांक्षा की। छोटे बड़े, बच्चे, बुड्ढे सब में किसी न किसी अंश में ये दोनों प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। इन प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य संसार में रह कर कभी अक्षय शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि मनुष्य का स्वार्थ और उसकी आकांक्षाएं अनन्त हैं। एक आकांक्षा से निवृत्त होने के पूर्व ही उसे दूसरी में प्रवृत्त होना पड़ता है। इस प्रकार उसका सारा जीवन ही प्रवृत्तिमय रहता है। ऐसी स्थिति में उसे शान्ति का मिलना असम्भव हो जाता है क्योंकि शान्ति का बीज तो निवृत्ति में है और मनुष्य प्रकृति पर प्रवृत्ति का पूर्ण साम्राज्य रहता है।

इन दो विकारों के कारण मनुष्य के हृदय में हमेशा एक प्रकार की हलचल होती रहती है। यही क्रान्ति का जन्मस्थान है। वरन् यह कहा जाय तो अनुचित न होगा कि इसी हलचल या गति-विधि को क्रांति कहते हैं। मनुष्य के स्वार्थ और उसकी महत्त्वकांक्षाओं के अनन्त और अविनाशी होने से क्रान्ति भी अनन्त और अविनाशी है। शान्ति और सन्तोष क्रान्ति के एकान्त विरोधी गुण है, क्योंकि क्रान्ति का स्वाभाविक धर्म गति-विधि है और शान्ति तथा सन्तोष की स्थिरता। मनुष्य जब तक

जगत् में रहता है, क्रान्तिमय रहता है। जब मनुष्य मुमुक्षु हो जाता है तब शान्ति और सन्तोष-मय हो जाता है, क्योंकि क्रांति (गतिविधि) जगत् का धर्म है और शान्ति तथा सन्तोष (स्थिरता) मोक्ष का।

मनुष्य का स्वार्थ और उसकी महत्त्वाकांक्षाएं तीन प्रकार की होती हैं। दैवी, मानवी और दानवी। दैवी स्वार्थ और आकांक्षाओंवाले मनुष्य या मनुष्य-समुदाय का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण रहता है। इस स्थिति का मनुष्य अपने लिए कुछ भी नहीं सोचता वह सारे विश्व के स्वार्थ और आकांओं पर दृष्टिपात करता है। उसकी स्वार्थ-सिद्धि और आकांक्षाओं में किसी के अनिष्ट का बीज नहीं रहता। वरन् उसके कार्य्यों से संसार का प्रत्यक्ष या परोक्ष कल्याण ही होता है। मानवीय आकांक्षाओं और स्वार्थ का क्षेत्र दैवी आकांक्षाओं की अपेक्षा अधिक संकीर्ण होता है। इस प्रकार का मनुष्य अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की ओर लक्ष्य रखता हुआ अपने देश और अपने समाज की आकांक्षाओं पर निगाह डालता है। उसकी स्वार्थ सिद्धि का प्रधान लक्ष्य तो अपना कल्याण रहता है पर उस कल्याण साधन में दूसरों के अनिष्ट की सम्भावना नहीं रहती। दानवी आकांक्षाओं का क्षेत्र बहुत संकीर्ण और कलुषित रहता है। इस स्थिति का मनुष्य या मनुष्य--समुदाय अपने छोटे से छोटे स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरों के बड़े से बड़े स्वार्थ को नष्ट करने तथा उसका अनिष्ट को प्रस्तुत रहता है।

मनुष्य की आकांक्षाओं और स्वार्थ के इन्हीं भेदों के अनुसार क्रांति के भी तीन भेद होते हैं। सात्विक राजस और तामस

जो क्रांति विश्व का कल्याण करने के निमित्त दैवी आकांक्षाओं वाले मनुष्य अथवा मनुष्य समुदाय के द्वारा उठायी जाती है, वह सात्विक कहलाती है। ऐसी क्रान्तियां अधिकतर धार्मिक हुआ करती हैं। बुद्ध, ईसा, महावीर आदि महा पुरुषों के द्वारा की हुई क्रान्तियां इसी श्रेणी की थीं। जो क्रांति राजनैतिक, सामाजिक या आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के निमित्त मानवीय आकांक्षाओं वाले मनुष्य या मनुष्य-समुदाय के द्वारा उठायी जाती है, वह राजस कहलाती है। इस प्रकार की क्रान्तियां अधिकतर राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक होती हैं। इन क्रान्तियों का उद्देश्य यद्यपि अपना या अपने समुदाय का उद्धार करना ही रहता है, तथापि इनसे प्रति-पक्षवाले समुदाय जो क्रान्तिकारी समुदाय के उद्धार कार्य्य का बाधक है—अनिष्ट होने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार की क्रान्तियों में कभी कभी ऐसा अवसर भी आ जाता है कि उस समय जातीय भावनाओं के आगे मनुष्यत्व और सत्य की उपेक्षा करनी पड़ती है। तामसिक क्रान्ति व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि के निमित्त दानवी आकांक्षाओं वाले मनुष्य या मनुष्य समुदाय द्वारा उठायी जाती है। इस क्रान्ति में क्रांतिकारी व्यक्ति या समुदाय अपने छोटे से स्वार्थ की पूर्ति के लिए शत्रु पक्ष का बड़े से बड़ा अनिष्ट करने को प्रस्तुत हो जाता है। इस प्रकार की क्रांति करने वालों का लाभ तो बहुत कम होता है पर अनिष्ट बहुत अधिक है। दुर्योधन के द्वारा छेड़ा हुआ महा भारत इस क्रांति का नमूना है।

सात्विक क्रान्ति मनुष्यत्व प्रधान, राजस जातीयता प्रधान और तामस स्वार्थ-प्रधान होती है।

साधारण मनुष्य--समाज में विशेषतः राजस क्रान्तियां होती रहती हैं क्यों कि सांसारिक मनुष्य को साधारणतः तीन प्रकार के दुःख ही अधिक रहते हैं राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक जिस देश की राज्य-पद्धति बिगड़ी हुई होती है। जहां का राज्य प्रजा के हितों की उपेक्षा करता रहता है जहां का राजा और उसका समुदाय स्वेच्छाचारी और निरंकुश होता है अथवा जिस देश में भिन्न स्वार्थों वाली किसी विदेशी जाति का राज्य होता है उस देश में राजनैतिक क्रान्तियां अधिक होती हैं क्योंकि मनुष्य सामाजिक और आर्थिक दुःखों से उतना नहीं घबराता जितना राजनैतिक दुःखों से घबराता है। इसका कारण यह है कि राज्य के पास सत्ता का बल बहुत अधिक रहता है और वह उस सत्ता की चक्की में अपने अधोनस्थ मनुष्य-समाज को पीसता रहता है।

जिस देश की राज्य पद्धति साधारणतः ठीक होती है पर सामाजिक और आर्थिक स्थितियां अच्छी नहीं होतीं वहां सामाजिक और आर्थिक क्रान्तियां उठा करती हैं क्यों कि राज्य-सुख के पश्चात् मनुष्य सामाजिक और आर्थिक सुख को प्राप्त करना चाहता है। जहां पुरुष और स्त्रियों की मर्यादा की रक्षा न होती हो, विवाह प्रणाली नष्ट हो चुकी हो विधवाओं की संख्या बहुत बढ़ रही हो, जातीय प्रथाओं का रूप बहुत भ्रष्ट हो गया हो, छूतआछूत की बीमारी बहुत फैल गयी हो, वहां लोग सामाजिक दुःखों से बहुत दुःखी होने लग जाते हैं और इसी दुःख को दूर करने के लिए सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न हो जाती है।

आर्थिक क्रान्ति का मूल कारण भी सामाजिक अव्यवस्था ही होती है। अर्थ का अभाव और प्रभाव ही इस क्रान्ति के मूल

कारण हैं। सामाजिक अव्यवस्था होने से अमीरी और गरीबी समाज में बहुत फैल जाती है। समाज की साम्यावस्था और सहानुभूति शीतला नष्ट हो जाती है। गरीब लोग अर्थ के अभाव से दुःखित रहते हैं और अमीर उसके अधिक्य से। फल यह होता है कि इन दोनों समुदायों में भयङ्कर विरोध पैदा हो जाता है। अमीर अधिकाधिक अमीर होते जाते हैं और गरीब अधिकाधिक गरीब। जिससे अमीरों और गरीबों में तथा पूँजीपतियों और मजदूरों में भयङ्कर विरोध छिड़ जाता है। यह क्रान्ति आज कल इंग्लैण्ड में खूब जोरों से चल रही है।

इन तीनों प्रकार की क्रान्तियों के दो भेद हैं। रचनात्मक और विनाशात्मक। रचनात्मक क्रान्ति के द्वारा क्रान्तिकारी दल अपने पक्ष को मजबूत करता और विनाशात्मक क्रान्ति के द्वारा वह दूसरे पक्ष की जड़ पर आघात करता है महात्मा गांधी का विदेशी बहिष्कार वाला कार्य्यक्रम विनाशात्मक था और स्वदेशी प्रचार तथा चरखा वाला आन्दोलन रचनात्मक। अछूतोद्धार का कार्य्यक्रम रचनात्मक है, समय और योग्य परिस्थिति में दोनों प्रकार के कार्य्य क्रम की आवश्यकता होती है।

जिस क्रान्ति का मूलाधार सत्य, स्वाधीनता और नीति पर अवलम्बित रहता है, जिस क्रान्ति का जन्मदाता व्यक्ति या समुदाय स्वार्थ त्यागी, गम्भीर और लोकप्रिय होता है जिस क्रान्ति का कार्य्यक्रम धीरे धीरे विकसित किया जाता है और जिस क्रान्ति की अनुगामिनी जनता में उच्छृंखलता—रहित परिणाम-दर्शिता की अधिक से अधिक मात्रा रहती है उस क्रान्ति की सफलता अवश्यम्भावी है।

क्रान्ति की सफलता का सब से बड़ा चिन्ह संगठन है। जिस क्रान्तिकारी व्यक्ति या समुदाय का संगठन जितना ही अधिक मजबूत और विशाल होगा उसकी सफलता उतनी ही निश्चित होगी। सब प्रकार के संघटनों में भाषा और वेश भूषा का ऐक्य होना आवश्यक है क्योंकि इन दोनों वस्तुओं के ऐक्य से जनता में भ्रातृभाव का प्रचार बहुत शीघ्र हो जाता है। जब क्रान्तिकारी देश या समाज बड़ा तो है, उस समय उसमें कुछ अशान्ति और अवस्था भी बढ़ जाती है इसका परिणाम यह होता है कि कार्य्य और विपत्ति से जी चुराने वाले हुल्लड़बाज़ व्यक्ति तो आगे आ जाते हैं और सहन शील, कार्य्य करने वाले और गम्भीर व्यक्ति पीछे रह जाते हैं। इससे क्रान्ति की जड़ बहुत कमजोर पड़ जाती हैं। नेताओं को ऐसे समय खूब सावधान रहना चाहिए।

जो क्रान्ति अपरिणाम-दर्शी उच्छृंखल व्यक्तियों द्वारा उठायी जाती है, जिस में नीति का बल नहीं होता, जिसका संगठन ठीक नहीं रहता, जिसका प्रवाह संसार के जीवन-स्रोत के विपरीत होता है, जिसमें हुल्लड़बाज स्वार्थी और दुर्बल व्यक्तियों का आधिक्य रहता है जिस क्रान्ति का जन्मदाता व्यक्ति या समुदाय अदूरदर्शी, पक्षपाती, स्वार्थी समय की चालों और परिस्थिति के ज्ञान से शून्य रहता है वह क्रान्ति सफल नहीं हो सकती। इस प्रकार की क्रान्ति समुद्र में तूफान की तरह एक बार तो देश व्यापी होजाती है पर बहुत शीघ्र थोड़ासा धक्का लगते ही समाप्त हो जाती है और देश तथा समाज को उसकी पूर्वावस्था के भी पीछे ढकेल देती है।

क्रान्ति का नेतृत्व करना बहुत ही कठिन कार्य्य है। क्रान्तिकारी नेता के हाथ में देश और समाज की बागडोर रहती है, उसकी छोटी से छोटी भूल का फल सारे देश और समाज को भोगना पड़ता है। इस लिए क्रान्तिकारी नेता का सर्व गुण सम्पन्न होना अत्यन्त आवश्यक है। सब से बड़ा गुण उसमें यह होना चाहिए कि वह पहले सिरे का परिणाम--दर्शी हो। उसका एक छोटे से छोटा कार्य्य भी कुछ न कुछ महत्त्व रखता हो। उसका लक्ष्य एक हो पर उसको प्राप्त करने के तरीके अलग २ हों। समय और परिस्थिति के अनुसार कार्य्यक्रम में तत्काल परिवर्तन करने की योग्यता उसमें हो। उसमें जनता की गतिविधि को अध्ययन करने की सूक्ष्म दृष्टि हो। इन गुणों के अतिरिक्त योग्य नेता का धैर्य्य असीम होना चाहिए। भयङ्कर से भयङ्कर विपत्ति में भी उसे खरे सोने की तरह शुद्ध और धैर्य्य शील रहना उसे यह बात तो क्रान्ति करने के पूर्व ही सोच लेनी चाहिए कि इस सौदे में पद पद पर विपत्तियां हैं।

किसी भी क्रान्ति को उत्पन्न करने के पूर्व जनता की मनोभावनाओं का गहरा अध्ययन कर लेना आवश्यक है। उसकी मनोभावनाओं में जिस दर्जे का बल और साहस हो तो उसी दर्जे की क्रान्ति का प्रारम्भ करना उचित है। वरन् अधिक अच्छा यही है कि पहले रचनात्मक कार्य्यक्रम ही प्रारम्भ किया जाय और फिर उसको क्रमशः विकसित करते करते विनाशात्मक रूप दे दिया जाय। रचनात्मक कार्य्यक्रम में यद्यपि किसी प्रकार की प्रत्यक्ष भयंकर विपत्ति की आकांक्षा नहीं रहती तथापि इसको भी सफल बनाने में असाधारण मनस्विता की आवश्यकता होती है

क्योंकि एक तो इस कार्य्यक्रम में जनता को प्रोत्साहित करनेवाला आकर्षण कम रहता है और दूसरे विरुद्ध पक्ष की आंख भी फिर जाती है। जब इस बात का निश्चय हो जाय कि अब कार्य्यक्षेत्र विनाशात्मक क्रान्ति के अनुकूल हो गया है, जब इस बात का पूर्णविश्वास हो जाय कि जनता के हृदय में भयंकर कष्ट-सहन; दुर्दमनीय साहस, अभिनन्दनीय संघटन शीलता और उत्कट कर्म शीलता के भाव पैदा हो गये हैं, तभी इस विनाशात्मक कार्य्यक्रम को प्रारम्भ करना चाहिए। इस परीक्षा में बहुत ही सावधानी से काम लेना चाहिए। थोड़ी सी भी भूल बड़ा भारी अनिष्ट उत्पन्न कर सकती है।

जब किसी बड़ी शक्ति के विरुद्ध क्रान्ति का आरम्भ किया जाता है तो उसकी प्रारम्भिक अवस्था में लोगों को उसक महत्त्व मालूम नहीं होता। तटस्थ लोगों में से कुछ तो क्रान्ति को नगण्य समझ कर उसका मज़ाक उड़ाते हैं, कुछ उससे घृणा करते हैं और उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। पर जब यही क्रान्ति अपना क्रमागत विकास करते हुए मध्यमावस्था में पहुँचती है तब इसका रूप बड़ा विकट हो जाता है। उस समय एक ओर तो बहुत से लोग क्रान्तिकारी समुदाय में सम्मिलित होकर उसके लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने को तैयार हो जाते हैं और दूसरी ओर कई ऐसे लोग, जिनके स्वार्थों को क्रान्ति से धक्का पहुँचता है, विघ्न डालने को प्रस्तुत हो जाते हैं। यह समय भीषण संघर्षण का होता है। क्योंकि क्रान्तिकारी समुदाय की प्रबलता जितनी ही अधिक होती है उतनी ही अधिक शक्ति का प्रयोग उसका विरोधी दल उसे कुचल डालने के लिए करता है। क्रिया

जितनी प्रबल होगी प्रतिक्रिया भी उतनी ही ज़ोरदार होगी। इसी भयंकर संघर्षण में क्रान्तिकारी दल की नीतिमत्ता, सचाई और कट्टरता की कड़ी परीक्षा होती है। यदि क्रान्ति की इमारत कमज़ोर हुई, उसमें घरेलू झगड़े, उच्छृंलता, मदान्धता और व्यक्तित्व की भावनाओं का प्राबल्य हुआ तो इस संघर्षण में उसका अन्त हो जाता है। इसके विपरीत, यदि उसका संघटन दृढ़ हुआ, उसके कार्य्य-कर्त्ताओं का साहस और प्रेम अभिनन्दनीय रहा तो वह अवश्य अपने प्रतिपक्ष को पराजित कर देश को उसके लक्ष्य पर पहुँचा देती है। मतलब यह कि यही काल क्रान्तिकारियों के लिए सब से अधिक संकटमय होता है। इस समय भयंकर से भयंकर विपत्तियों का वज्र उन पर टूट सकता है। इसी समय उच्छृंखलता-आवेशपूर्ण और हुल्लड़बाज़ व्यक्तियों का भण्डाफोड़ होता है। इसी समय क्रान्ति का प्रकाश अथवा अन्धकारमय भविष्य दृष्टि-गोचर होने लगता है। इस कठिन समय में यदि क्रान्तिकारियों की त्याग-शक्ति और उनकी सहिष्णुता अविचलित रही तो फिर सफलता में सन्देह नहीं रहता।

प्रत्येक क्रान्ति में विपक्षी का प्रतिरोध तीन प्रकार से किया जाता है। शांत प्रतिरोध, सशस्त्र प्रतिरोध और गुप्त प्रतिरोध। पहला सात्विक है, दूसरा राजस और तीसरा तामस। पहले प्रतिरोध में प्रतिपक्षी को कष्ट पहुँचाने का रंच-मात्र भी उद्देश्य नहीं रहता, केवल अपने कष्ट-सहन से उठाने का प्रयत्न किया जाता है। दूसरे में दूसरों के कष्ट का ध्यान नहीं रहता, पर उद्देश्य अपना उद्धार ही रहता है। तीसरे प्रकार के प्रतिरोध में प्रतिपक्षी को कष्ट पहुँचाने की भावनाएं ही अधिक प्रबल रहती

हैं। पहला प्रतिरोध निष्काम संकट-सहिष्णु और सात्विक भावों-वाली जनता में ही संभव है। दूसरे और तीसरे प्रतिरोध साधारण जनता में होते हैं।

सशस्त्र प्रतिरोध और शान्त प्रतिरोध में एक भेद होता है। सशस्त्र प्रतिरोध में तो उसके भविष्य की भीषणता सब को पहले ही से दिखलाई देती है, पर शान्त प्रतिरोध में उसके भावी परिणाम शीघ्र प्रकट नहीं होते। सशस्त्र प्रतिरोध का निश्चय करने में ही बड़े साहस की आवश्यकता होती है पर शान्त प्रतिरोध में यह बात नहीं है। यह प्रतिरोध प्रारम्भ में तो बड़ा आसान दिखलाई देता है पर जब कष्ट सहन का समय उपस्थित होता है उसकी कठिनता का पता चलता है। सशस्त्र प्रतिरोध के कार्य्य-क्रम में निःशंक साहस की आवश्यकता होती है और शान्त प्रतिरोध में असाधारण मनः संयम की। विरोधी पक्ष की अवस्था सशस्त्र प्रतिरोध की अपेक्षा शान्त प्रतिरोध के समय अधिक अप्रिय और कठिन हो जाती है क्योंकि इसमें निहत्थे मनुष्यों के विरुद्ध बल-प्रयोग की आवश्यकता होती है, जिसका समर्थन नीति किसी भी हालत में नहीं कर सकती।

सब से अधिक मनःस्विता की आवश्यकता शान्त प्रतिरोध का सचालन करने में होती है। सशस्त्र-प्रतिरोध की कठिनाइयां तो पहले ही से सब पर विदित रहती है। इसलिए ऐसे प्रतिरोध में वे ही व्यक्ति सम्मिलित होते हैं, जिन्हें अपने साहस और शौर्य पर पूर्ण विश्वास हो। इस प्रकार का आन्दोलन जन संख्या की कमी के कारण प्रारम्भ में चाहे असफल हो जाय पर माध्यमिक काल में उसके असफल होने की कम

सम्भावना रहती है। शान्त प्रतिरोध में यह बात नहीं होती। इस प्रकार का प्रतिरोध प्रारम्भ में बड़ा सहज मालूम होता है। जिससे योग्य और अयोग्य सब प्रकार के व्यक्ति "अहिंसा परमो धर्मः" का राग अलापते हुए इसमें सम्मिलित होकर हुल्लड़ बाजी मचा देते हैं। इस प्रकार के जन-समुदाय में सच्चे और खरे आदमी बहुत कम होते हैं। अधिकांश आदमी ऐसे होते हैं जो या तो आन्दोलन के द्वारा अपनी जेब गर्म करने की धुन में रहते हैं या सभाओं में जोशीली वक्तृताएं देकर झूठी वाहवाही लूटना चाहते हैं। इस प्रकार के लोगों की अधिकता के कारण आरम्भ में तो क्रान्ति की सफलता के चिन्ह दिखलाई पड़ने लगते हैं। पर जब उसका माध्यमिक काल उपस्थित होता है और उसकी क्रिया के साथ प्रति पक्षी की प्रति-क्रिया का भीषण संघर्ष होता है तब उसकी कमजोरी का चित्र जगत् की आंखों के सन्मुख उपस्थित होता। स्वार्थी और हुल्लड़बाज लोग अपना सा मुँह लेकर घर बैठ जाते हैं और सारे आन्दोलन का भार उन मुट्ठी भर लोगों पर पड़ जाता है, जो सच्चे और कर्म शील होते हैं ऐसे विकट समय में आन्दोलन की दशा बड़ी नाजुक हो जाती है और अन्त में तरह तरह के मतभेद के बाद उसका दुःखदायी अन्त हो जाता है। हां, कुछ सात्विक मनुष्यों के नैतिक तेज के कारण इसका मानसिक प्रभाव किसी न किसी रूप में बना रहता है।

यदि आन्दोलन-कर्ता सुदक्ष साहसी, उत्कट, कर्मशील और त्यागी हों, जनता का बहुमत सात्विक प्रकृतिवाला हो, और आन्दोलन का क्षेत्र बहुत बड़ा न हो, तो ऐसी क्रान्ति का अपूर्व

चमत्कार दिखलाई पड़ता है। पर विस्तीर्ण क्षेत्र में इस प्रकार की क्रान्ति का सफल होना अत्यन्त कष्टसाध्य होता है। क्योंकि मनुष्यों के बड़े समुदाय का बहुमत पूर्ण रूप से कभी सात्विक नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में क्रान्ति तामसी हो जाती है और तामसी होने के बाद उसका सफल होना कठिन है।

तामसी या गुप्त प्रतिरोध से विरुद्ध पक्ष के हृदय में एक जबर्दस्त खटका पैदा हो जाता है और इसमें भी सन्देह नहीं कि प्रतिपक्षी इस प्रकार के प्रतिरोध से जितना अधिक सावधान और भीत हो जाता है उतना कदाचित् दूसरे आन्दोलनों से नहीं होता। पर इस प्रकार के प्रतिरोध का नैतिक प्रभाव नष्ट हो जाता है, जिससे नैतिक पक्ष प्रतिपक्ष वालों को मिल जाता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के प्रतिरोधियों के हृदय पर एक प्रकार की भीषण हिंसक प्रवृत्ति अधिकार जमा लेती है जिसके फल स्वरूप इन लोगों को खून खराबी और गुण्डेपन के सिवा दूसरा मार्ग ही नहीं सूझता, और जिस दिन इनके षड्यंत्र का स्फोट होता है, उस दिन इनके साथ ही साथ सारे समाज की मिट्टी पलीद होती है। फिर भी, ऐसे षड्यंत्रों में कभी-कभी बड़ी सफलता मिलती हुई देखी जाती है।

मनुष्य समाज के लिए ऐसी क्रान्ति अपेक्षित है, जिसमें तीनों गुणों का समावेश हो। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि उसमें प्रधानता सत्वगुण की ही हो, जिससे नैतिक बल हाथ से न चला जाय। सत्वगुण से अहिंसा, सत्य और आत्म-बलिदान, रजोगुण से वीरता, निर्भीकता और संगठन शक्ति, तथा तमोगुण से शत्रु की भेद-नीति का भण्डा फोड़ और अपनी भेद-नीति का उस पर

आतंक जमाने की शक्ति ग्रहण करके क्रान्ति आरम्भ करनी चाहिए।

क्रान्ति के आरम्भ करने के पूर्व उसके परिणाम का गहरा मनन कर लेना चाहिए। कभी-कभी ऐसा होता है कि छोटे-छोटे कारणों के लिए बड़ी-बड़ी क्रान्तियां उत्पन्न कर दी जाती हैं, जिनके फल स्वरूप कुछ बुरे नियमों के साथ बहुत से अच्छे नियम भी नष्ट हो जाते हैं, एक राज-पद्धति का नाश होकर दूसरी उससे भी भीषण राज-पद्धति का प्राबल्य हो जाता है।

जिस देश का भयंकर नैतिक पतन हो गया हो, जहां का आचार-शास्त्र आडंबरमय हो, जहां का संघटन बिखरा हुआ हो, जिस जनता के हृदय में सहानुभूति की भावनाएं नष्ट होकर फूट की भावनाएं प्रधान हो गयी हों, जिस देश के व्यक्ति अपने निजी स्वार्थों की वेदी पर देश और जाति के स्वार्थों का बलिदान देने को तैय्यार हों, जहां पर छोटी-छोटी बातों के लिए बड़े-बड़े मत-भेद खड़े हो जाते हों, जहां के धर्म में संकीर्णता और व्यवहार में तुच्छताभरी हो, जहां का मनुष्यत्व नष्ट हो गया हो, ऐसे देश और ऐसे समाज में किसी भी प्रकार की विनाशात्मक क्रान्ति सफल नहीं हो सकती। ऐसी जनता के नेताओं को चाहिए कि सब से प्रथम वे जनता में अनिवार्य्य शिक्षा-प्रचार का कार्य्य हाथ में लें। जब जनता शिक्षित हो जाय, उसमें जातीयता और मनुष्यत्व के भावों का समावेश हो जाय, तब उसमें किसी भी प्रकार का कार्यक्रम सफलता पूर्वक चलाया जा सकता है।

दूसरा अध्याय

क्रान्ति के साधन

पिछले अध्याय में हम क्रान्ति की उत्पत्ति और उसके मूल तत्त्वों का संक्षिप्त विवेचन कर आये हैं। मनुष्य की जिन-जिन मनोवृत्तियों के संघर्ष से क्रान्ति के बीज की सृष्टि होती है तथा जिन-जिन परिस्थितियों के संयोग से उसमें अंकुर की उत्पत्ति होकर उसका विकास होता है, उन सब का संक्षिप्त वर्णन उस लेख में किया गया है। इस लेख में क्रान्ति के साधनों का जरा विस्तार के साथ विवेचन किया जाता है।

उस लेख में हम विस्तार के साथ यह बात लिख आये हैं कि प्रत्येक क्रान्ति में दो प्रकार के कार्य्यक्रम रहते हैं। पहला रचनात्मक और दूसरा विनाशात्मक! क्रान्ति चाहे राज-शक्ति के विरुद्ध हो, चाहे समाज-शक्ति अथवा अन्य किसी शक्ति के विरुद्ध हो, पर हर हालत में क्रान्तिकारी दल को इन दोनों कार्य्यक्रमों से काम लेना पड़ता है। रचनात्मक कार्यक्रम का अर्थ या उसका मूल उद्देश्य अपने आपको संघटित और मजबूत बनाना है। इस कार्य्यक्रम के द्वारा क्रान्तिकारी दल अपने आपको संघटित, दृढ़ और प्रतिपक्षी के मुकाबले में खड़ा होने योग्य बनाता है। रचनात्मक कार्य्यक्रम के सफल होने के बाद विनाशात्मक कार्य्यक्रम का नम्बर आता है। इस कार्य्यक्रम के द्वारा रचनात्मक कार्य्यक्रम से प्राप्त हुई शक्ति का आघात प्रतिपक्ष पर किया जाता है।

रचनात्मक कार्य्यक्रम का उद्देश्य है शक्ति का संग्रह करना और विनाशात्मक कार्य्यक्रम का उद्देश्य है उस शक्ति के द्वारा शत्रु की शक्ति को जर्जर करना । इस नियम से कार्य्य करने पर सफलता की अधिक सम्भावना रहती है। यदि क्रान्तिकारी दल इस नियम की अपेक्षा सामाजिक उत्तेजना के वशीभूत हो, बिगड़े दिमाग नेताओं के नेतृत्व में रचनात्मक कार्य्यक्रम के सफल हुए बिना ही विनाशात्मक कार्य्यक्रम में प्रविष्ट होता है तो उसकी विजय अत्यन्त संदिग्ध और अनिश्चित हो जाती है।

इससे निश्चित हुआ कि किसी भी क्रान्ति की सफलता के लिए इन दोनों कार्य्यक्रमों का पूरा होना आवश्यक है। अब प्रश्न यह है कि इन दोनों कार्य्यक्रमों की सफलता के लिए प्रधानतः किन-किन साधनों की आवश्यकता है।

रचनात्मक कार्य्यक्रम में सब से पहला नंबर "एक भाषा" का आता है। यदि क्रान्ति के सदस्य भिन्न भाषा-भाषी हुए—वे अपने भावों को दूसरे पर प्रकट करने में और दूसरे के भावों को ग्रहण करने में असमर्थ हुए तो उनका वास्तविक संघटन किसी हालत में संभव नहीं। क्योंकि भाषा भावों को प्रकट करने का मुख्य साधन है। जब तक इस प्रधान साधन में ऐक्य नहीं होता तब तक भावों में ऐक्य कैसे हो सकता है? इसलिए किसी भी क्रान्तिकारी दल या देश के रचनात्मक कार्य्यक्रम के प्रारम्भ में ही एक ऐसी भाषा ग्रहण कर लेनी चाहिए जो सरल, सुपाठ्य, मधुर और बोधगम्य हो। इस भाषा का ज्ञान क्रान्ति का प्रत्येक सदस्य अनिवार्य्य रूप से प्राप्त करे, फिर चाहे उसकी मातृ-भाषा कोई दूसरी ही क्यों न हो। क्रान्ति के दल की कार्रवाइयाँ इसी भाषा

में होनी चाहिए। सब सदस्यों के एक भाषा-भाषी होने में उनमें आत्मीयता आती है और उनका उत्साह बहुत बढ़ जाता है।

क्रान्तिकारियों की "वेशभूषा" एक सी होना जरूरी है। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि एक तरह की भाषा बोलने वाले और एक तरह की पोशाकवाले समुदाय को देख कर उसका उत्साह बहुत बढ़ जाता है। एक सिपाही की उस स्थिति में जिसमें वह अपने कुटुम्ब के साथ साधारण पोशाक में रहता है और उस स्थिति में—जिसमें वह एक वेश और एक भाषा की पलटन के साथ युद्ध में जाता है—बड़ा अन्तर रहता है। उस समुदाय के साथ युद्ध के मैदान में जाते ही उसका उत्साह उमड़ पड़ता है और वह बड़े प्रेम के साथ उस मृत्यु का आलिंगन करता है, जिसके भय से सारा चराचर जगत् हमेशा कांपता रहता है।

कहने का मतलब यह है कि मनुष्य प्रकृति को उत्साहित और वीरभाव पूर्ण करने के लिए क्रान्ति के सदस्यों में एक भाषा और एक वेषभूषा का होना अत्यन्त आवश्यक है। अब प्रश्न यह है कि क्रान्तिकारी दल की पोषाक किस ढङ्ग की होनी चाहिए? हमारे खयाल से पोषाक पवित्र और शुद्ध कपड़े की बनी हुई हो, चुस्त और बदन को स्फूर्ति देनेवाली हो, उसके पहनने से बालक भी बहादुर और बुड्ढा भी जवान नजर आने लगे। यदि क्रान्ति सतोगुण प्रधान हो तो पोषाक का रंग सफेद, रजोगुण प्रधान हो तो भूरा या नीला, और तमोगुण प्रधान हो तो काला होना चाहिए। पोशाक और भाषा का कार्य्यक्रम पूरा होने के बाद क्रान्तिकारी दल को अपने सामाजिक रीति रिवाजों की ओर भी ध्यान देना चाहिए। वहां पर यह बात पूरी तौर से स्मरण रखनी

ाहिए कि क्रान्तिकारी दल की तैय्यारी और उसका कार्य्यक्रम
ितना ही आगे क्यों न बढ़ जाय, पर जब तक उस समाज के
ष्ट रीति-रिवाज नष्ट न हो जाएंगे, जब तक वे उस समाज की
ड़ खोखली करते जायँगे, तब तक कभी वह दल या समाज
ापने लक्ष्य स्थल पर नहीं पहुँच सकता। जब कभी वह दल
ानाशात्मक कार्य्यक्रम में पैर बढ़ायेगा तभी ये रीति-रवाज उस
मार्ग के कण्टक बनेंगे और उस रास्ते से अपमानित होकर
ापस आने के लिए उसे बाध्य करेंगे। अतएव विनाशात्मक कार्य्य-
्रम में प्रविष्ट होने वाले समुदाय को इन कण्टकों का मूलोच्छेद
र डालना चाहिए।

यह समय क्रान्तिकारी दल के लिए बड़े ही संकट का होता
रचनात्मक कार्य्यक्रम में सब से भयंकर संकट इसी समय
पस्थित होता है। इस से पूर्व क्रान्तिकारी दल केवल राज-शक्ति
ा ही कोपभाजन रहता है। पर इस स्थान पर आकर उसे
माज-शक्ति का भी सामना करना पड़ता है। समाज का एक
ड़ा अङ्ग उसके विरुद्ध हो जाता है। समाज की रूढ़ियों के
ुलाम लोकाचार के पैरों पर धर्म, शास्त्र और पुण्य का बलिदान
र देने वाले पापी और समाज में प्रचलित रूढ़ियों के द्वारा अपने
वार्थ की तृप्ति करने वाले नर-पिशाच इस संकट के समय क्रान्ति
ो नष्ट करने की पूरी चेष्टा करते हैं। इस विरोध से घबराकर
ान्ति के कितने ही कमज़ोर समर्थक अलग हो जाते हैं यहां
क कि कुछ विरोधियों में भी जा मिलते हैं। बहुत ही थोड़े
ाहसी लोग बच जाते हैं। यदि ये लोग अपने साहस और
आत्म बल पर उन लोगों को ठुकराते हुए, रूढ़ियों को तोड़कर
आगे बढ़ गये तो इन्हें फिर बहुत से सहायक मिल जाते हैं।

पर यदि वे बीच ही में फिसल पड़े तो वहीं क्रान्ति की अन्त्येष्टि हो जाती है।

सामाजिक प्रश्नों के अन्तर्गत जिन्हें क्रान्तिकारी दल मिटाना चाहता है, जाति पांति का भेद, छूआछूत की प्रथा, स्त्री और पुरुष के अधिकारों की विषमता, विवाह प्रणाली की भ्रष्टता, धर्म का झूठा आडम्बर आदि बातें सम्मिलित रहती हैं। ये सब बातें ऐसी हैं जो जाति की जड़ को खोखली और गुलामी तथा बदकिस्मती के पौधों को हरा करती रहती है। जिस जाति की विवाह-प्रणाली भ्रष्ट है वह जाति कभी सुन्दर बलिष्ट और शुद्ध संस्कारों वाली सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती। कमजोर सन्तानें जाति का कलेवर तो बढ़ाती है पर उसके बल तथा प्रतिभा में वृद्धि नहीं कर सकतीं। इस पर भी कठिनता यह है कि ऐसी कमजोर सन्तान भी आपस में संघटित होकर नहीं रहती। उनमें समष्टि रूप से व्यक्तिगत-विद्वेष की भावनाएं रहती हैं। उनमें पारस्परिक सहानुभूति की भावनाएं नहीं होतीं। उच्च कर्म्म के द्वारा जीविका चलाने वाली जाति, हीन कर्म करने वाली जाति से घृणा करती है, उस जाति के लोगों को छूने तक में उन्हें पाप लगता है। वे तो परछाई पड़ने से भी अपवित्र हो जाते हैं। इस प्रकार की भावनाएं जब सारे समाज में फैल जाती हैं तब धार्मिक आडम्बर आप से आप उत्पन्न हो जाता है, और उसकी आड़ में और भी अनेक भयङ्कर बातें होने लगती हैं। ये सब बातें जब तक समाज में रहती हैं तब तक वह अपनी राजनैतिक या सामाजिक किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता, और इन बातों के रहते कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती है। इस लिए इन सब

बातों के विरुद्ध क्रान्तिकारी दल को समाज में आवाज उठानी पड़ती है। इस आवाज से चौंक कर रूढ़ियों के सब ठेकेदार, वास्तविक स्थिति के समझने में असमर्थ लोग तथा धर्म और रूढ़ियों से अपने स्वार्थ की तृप्ति करने वाले स्वार्थी, समाज में तोबा तोबा की आवाज बुलन्द करने लगते हैं। शास्त्रों का झूठ मूठ आधार लेकर रूढ़ियों की दुहाई देकर, लोकाचार की डौंडी पीटकर अपने आपको वे कट्टर आस्तिक तथा क्रान्तिकारी दल को नास्तिक और धर्म-भ्रष्ट कहकर समाज को उसके विरुद्ध बहकाने का प्रयत्न करते हैं। शुरू में समाज का बहुत बड़ा हिस्सा इनका पृष्ठ-पोषक होता है। क्रान्तिकारी दल को इसकी परवाह न करके साहस पूर्वक आगे बढ़ते जाना चाहिए। उसे पूरी शक्ति के साथ इन विद्रोहियों का तख्ता उलट देने का प्रयत्न करना चाहिए। निश्चित है कि कुछ समय तक, विरुद्ध पक्ष का सिक्का समाज पर जमा रहेगा पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता चलेगा कि चुपचाप कोई अदृश्य शक्ति अप्रत्यक्ष रूप से उस दल की शक्ति को क्षीण और क्रान्ति की शक्ति को बढ़ा रही है। समाज की भावनाओं का प्रवाह धीरे धीरे उधर से हटकर इधर को प्रवाहित हो रहा है।

इस प्रकार रचनात्मक कार्य्य-क्रम की सफलता के लिए इतने साधन आवश्यक हैं (१) एक राष्ट्र-भाषा (२) एक राष्ट्रीय पोशाक (३) सामाजिक संघटन और (४) सामाजिक कुरीतियों [जाति-पांति, छूआछूत, अधिकार-वैषम्य आदि] का नाश।

इतना कार्य्यक्रम सफल हो जाने के पश्चात् विनाशात्मक क्रान्ति के अनुकूल क्षेत्र तैयार हो जाता है। हम गत लेख में

लिख आये हैं कि विनाशात्मक क्रान्ति तीन प्रकार की होती है। (१) सात्त्विक (२) राजस और (३) तामस। सात्विक क्रान्ति का प्रधान साधन सत्याग्रह है। राजस क्रान्ति का शस्त्र और तामस का षड्यन्त्र। अब इन तीनों साधनों पर अलग अलग विचार करें।

सत्याग्रह

इस विषय पर हम पिछले लेख में भी विचार कर चुके हैं। सतोगुण प्रधान तथा मनुष्यत्व और जातीयता-सम्पन्न जाति की क्रान्ति के लिए सत्याग्रह के बराबर शुद्ध और सुन्दर अस्त्र दूसरा नहीं हो सकता किन्तु यहां पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सत्याग्रह की सफलता के लिए असीम आत्मबल, प्रशंसनीय त्याग और अभिनन्दनीय क्षमा का एकत्र संयोग होने की अत्यन्त आवश्यकता है। जब तक क्रान्तिकारी दल में उदारता की उच्च भावनाएं समष्टिगत नहीं हो जातीं, तब तक सत्याग्रह की सफलता सन्दिग्ध रहती है। इस विषय पर विचार करते हुए जब हम संसार की गुलाम, पतित तथा ऐसी जातियों पर जिन्हें क्रान्ति की आवश्यकता है, निगाह डालते हैं तो हमें मालूम होता है कि उनमें एकाध जाति भी कठिनता से शायद सतोगुण-प्रधान निकलेगी। अधिकांश जातियाँ रजोगुण प्रधान या सत्त्व-रज प्रधान ही होती हैं। गुलाम और पतित ही क्यों, आजाद और उन्नत जातियों की मानसिक भावनाओं का भी जब हम अध्ययन करते हैं, तो हमें मालूम होता है कि उनमें सात्विक की अपेक्षा राजस भावनाओं का प्राबल्य होता है। निरपराध व्यक्ति या राष्ट्र पर आक्रमण करने की भावना के विरोधी बहुत मिल सकते है क्यों

कि यह भावना तमोगुण प्रधान है। पर अपने पर आक्रमण करने वाले शत्रु से बदला न लेकर उस पर हमला न कर केवल उसे क्षमा कर देने वाले लोग उन्नत जन-समाज में भी बहुत कम मिलेंगे। इसीसे शायद एक लेखक ने कहा है—"क्षमा स्वर्ग का धर्म है, प्रतिहिंसा मनुष्य का धर्म है और हत्या नरक का धर्म है" इस कथन से हमारा तथा उक्त लेखक का यह मतलब नहीं है कि मनुष्य-समाज को क्षमा की आवश्यकता नहीं है। हम जानते हैं कि मनुष्य के हृदय में प्रकृति ने ही क्षमा के बीज बो रखें हैं और यदि मनुष्य चाहे विकास करके उन बीजों को वृक्ष के रूप में परिणत कर सकता है। हम यह भी जानते हैं कि कोई महान् आत्मा यदि चाहे तो मनुष्य-समाज के बहुमत को भी क्षमा की ओर झुका सकती है। हमारा कथन केवल इतना ही है कि मनुष्य का स्वाभाविक धर्म मनुष्यत्व है और सत्याग्रह करने के लिए जिस क्षमा की आवश्यकता है वह दैवी गुणों से पूर्ण है। जिस प्रकार पिशाचत्व प्राप्त करने के लिए मनुष्य जाति को अपने पद से पतित होना पड़ेगा उसी प्रकार देवत्व प्राप्त करने के लिए उसे अपनी साधारण मर्यादा से ऊंचा उठना पड़ेगा, मनुष्य-सुलभ प्रति हिंसक प्रवृत्ति को नष्ट करके देव-सुलभ क्षमा की प्रवृत्ति ग्रहण करना पड़ेगी। यदि आन्दोलन के नेता में इतनी शक्ति हो कि वह सारे समाज की गति विधि को देवत्व की ओर मोड़ दे, समाज में सतोगुण समष्टिगत कर दे, तो सत्याग्रह का सुन्दर फल दिखलाई पड़ सकता है। पर यदि नेता में इतनी शक्ति न हुई, सारे समाज की गतिविधि पर अधिकार रखने में वह असमर्थ रहा, तो उसका बड़ा ही विषमय परिणाम होता है। उस हालत

में वीरों का यह प्रधान अस्त्र सत्याग्रह कायरों की ढाल बन जाता है, अहिंसा के सुन्दर नाम की ओट में वे अपनी कायरता छिपाते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि समाज में दुर्बलता और कमजोरी की भावनाएं फैल जाती हैं।

हाँ, यदि क्रान्ति के सदस्य थोड़े और चुने हुए लोग हों, स्वार्थ-त्याग, उदारता और आत्म-बल की भावनाएं उनमें मौजूद हों और किसी खास लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वे प्रयत्न शील हों, तो सत्याग्रह उनका बहुत बड़ा सहायक हो सकता है।

इससे प्रकट हुआ कि (१) सत्याग्रह सात्विक क्रान्ति है, इसकी सफलता के लिए क्रान्तिकारी समुदाय में आत्म-विश्वास, क्षमा, उदारता और अहिंसा की भावनाओं का समष्टिगत होना आवश्यक है (२) एक बड़े देश या बृहत् जन समुदाय के अन्तर्गत सत्याग्रह का सफल होना कठिन है। क्योंकि मनुष्य प्रकृति की स्वाभाविक कमजोरियां इसके मार्ग में बाधक होती हैं। हां, यदि सुसंस्कृत, सुशिक्षित, उन्नत और चुने हुए लोगों का समुदाय इस अस्त्र को ग्रहण करे तो उसे आशातीत सफलता मिल सकती है।

तीसरा अध्याय

सशस्त्र क्रान्ति

रजोगुण प्रधान समाज तथा क्षात्रधर्म प्रधान जाति के लिए सत्याग्रह का उपयोग कुछ कठिन होता है। जिस जाति का ब्राह्मणत्व प्रबल रहता है उसमें सत्याग्रह और क्षमा-शीलता की भावनाएँ समष्टिगत रहती है पर क्षत्रिय प्रधान जाति में प्रतिहिंसा और बहादुरी की भावनाएँ अधिक प्रबल होती है। इस सिद्धान्त की पुष्टि सारा इतिहास कर रहा है कि एक क्षत्रिय अपने शत्रु को पकड़ कर उसे उदारतापूर्वक छोड़ सकता है पर यह नहीं हो सकता कि अपने पर आक्रमण करने वाले को वह बिलकुल क्षमा कर दे, उसे पकड़े भी नहीं। इसलिए इतिहास में स्थान स्थान पर क्षत्रियों को युद्ध-प्रिय जाति कहा है।

सशस्त्र क्रान्ति की सफलता के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है वे निम्नलिखित हैं —

(१) राजनीति-पारंगत नेता (२) युद्धकला-पारंगत सेनापति (३) काफी तादाद में ऊँचे दर्जे के अस्त्र, शस्त्र, जल, स्थल, और आकाश में युद्ध करने के सभी प्रकार के साधन (४) राजनीति और युद्धकुशल शिक्षक (५) ऊँचे दर्जे का खुफिया विभाग इत्यादि।

प्रत्येक प्रकार की क्रान्ति में नेता का सर्वगुण-सम्पन्न होना आवश्यक है। बिना उच्च श्रेणी के नेता के कोई भी क्रान्ति सफल नहीं हो सकती। सत्याग्रह की क्रान्ति में नेता का धर्म प्रधान

होना अच्छा है पर सशस्त्र क्रान्ति में केवल इस गुण से काम नहीं चल सकता। इस तरह की क्रान्ति में तो नेता को राजनीति में पारंगत होना चाहिए। किन अवसरों पर शत्रु के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए, पराजित शत्रु के साथ कहां तक उदारता दिखानी चाहिए, किस स्थान पर बल, किस स्थान पर कल और किस स्थान पर भेद-नीति से काम लेना चाहिए, इन सब विषयों का उसे पूर्ण ज्ञान होना जरूरी है। इस प्रकार के नेता का धार्मिक और सदाचारी होना भी आवश्यक है। पर धर्म को वह प्रधानता न दे। जिस स्थान पर जाकर राजनीति धर्म से जुदा होती है, उस स्थान पर उसे भी धर्म का साथ छोड़ कर राजनीति का अनुकरण करना चाहिए। सात्विक क्रान्ति के नेता इस समय धर्म का पल्ला पकड़ते हैं पर राजसिक क्रान्ति के नेताओं को ऐसा करने से सफलता नहीं मिल सकती। यही भयङ्कर भूल करके भारतवर्ष के अनेक क्षत्रिय राजाओं ने अपनी और देश की भयंकर बरबादी की है। शत्रु के साथ उदारता का बर्ताव करना राजनीति का एक अंग है। पर इसके साथ ही राजनीति यह भी पूछती है कि वह शत्रु उदारता का पात्र है या नहीं, वह किस प्रकार के व्यवहार का पात्र है, इस बात का पूर्ण विचार करके ही उसके साथ योग्य बर्ताव करना चाहिए। सिकन्दर ने पारेस के साथ उदारता का बर्ताव किया, इसके लिए सिकन्दर को कोई बुरा नहीं कह सकता। चंद्रगुप्त ने सेल्यूकस के साथ उदारता दिखाई, इसको भी कोई राजनीति की भूल नहीं कहता। क्योंकि ये दोनों व्यक्ति (पारेस और सेल्यूकस) इसके पात्र थे। वे उदारता के महत्व को समझते थे। पर यही उदारता उस समय भयंकर मूर्खता हो जाती

है, जिस समय पृथ्वीराज मुहम्मद गोरी को बार बार पकड़ कर भी छोड़ देते हैं, भीमसिंह अलाउद्दीन को अपने घर में ला कर अपनी स्त्री का रूप दिखा उसे कामान्ध कर देते हैं और फिर उसे पहुँचाने के लिए उसके खीमें पर जाते हैं। इस प्रकार की मूर्खतापूर्ण उदारता और अविचार पूर्ण मनुष्यत्व से भारतीय इतिहास के पन्ने रंगे हुए हैं। धर्म ऐसी वातों का भले ही समर्थन कर सकता हो पर राजनीति की दृष्टि से यह ऐसी भयंकर भूल, है जिसका कोई जवाब नहीं। इसी प्रकार की भयंकर राजनीतिक क्रान्तियां यहाँ विफल हुईं और ग्यारहसौ बरस के लम्बे प्रयत्न पर भी इसकी दासता के बन्धन न टूटे।

इससे यह सिद्ध हुआ कि सशस्त्र क्रान्ति का नेता यदि राजनीति निपुण न होगा तो वह क्रान्ति सफल नहीं हो सकती।

सशस्त्र क्रान्ति में जिस प्रकार नेता का राजनीति पारंगत होना आवश्यक है, उसी प्रकार उसके प्रधान सेनापति को युद्ध-कला निपुण होना भी परम आवश्यक है। क्योंकि इस क्रान्ति में प्रायः मुठभेड़ और युद्ध का बहुत काम पड़ा करता है। किस स्थान पर कैसी मोर्चाबन्दी सफल हो सकती है आदि बातों का ज्ञान होना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है। इन बातों में पारंगत हुए बिना सशस्त्र क्रान्ति की सफलता बिलकुल अनिश्चित रहती है।

राजनीति-कुशल नेता और युद्धकुशल सेनापति के पश्चात् सशस्त्र क्रान्ति के लिए बढ़िया अस्त्र-शस्त्रों की आवश्यकता है। प्रतिपक्षी शक्ति के पास जिस दर्जे की और जितनी युद्ध सामग्री की व्यवस्था है उसी दर्जे की और उतनी ही सामग्री की व्यवस्था क्रान्तिकारी दल को भी करनी चाहिए। सामग्री कुछ कम भी हो

तो काम चल सकता है पर वह उतने ही ऊँचे दर्जे की होनी चाहिए जितने ऊँचे दर्जे की प्रतिपक्ष के पास है। उदाहरणार्थ यदि प्रतिपक्ष के पास वायुयान और पनडुब्बे हों और क्रान्तिकारी दल के पास ये वस्तुएँ न हों, तो और दूसरी शक्तियों के रहते हुए भी वह प्रतिपक्ष से विजय नहीं पा सकता।

सशस्त्र क्रान्ति की सफलता के लिए उत्तम खुफिया विभाग का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। हम ऊपर लिख आए हैं कि सशस्त्रक्रान्ति की सफलता के लिए केवल शारीरिक शक्ति या बहादुरी की ही आवश्यकता नहीं है इसकी सफ़लता के लिए गम्भीर भेदनीति भी अत्यन्त आवश्यक है। अपनी चालों को शत्रुओं से गुप्त रखना और शत्रु की गुप्त चालों का भेद लेकर गुप्त रीति से उसको पराजित करना यही उत्तम भेदनीति का प्रधान कार्य्य है। आचार्य्य कौटिल्प ने चन्द्रगुप्त के राज्य-काल, में इस भेदनीति को चरम विकास दिखला दिया था। उनकी आशातीत सफलता के जितने मूल कारण है उनमें उनकी भेदनीति ही प्रधान है। शायद जर्मनी को छोड़ कर आज तक संसार का कोई देश भेदनीति का इतना सफल रूप हमारे सामने रख नहीं सका है। इस विभाग पर केवल शत्रु की चालों के जानने ही का भार न होना चाहिए। प्रत्युत अपने दल के बदमाश और विश्वास घाती लोगों की चालों पर पूरी पूरी दृष्टि रखने की जिम्मेदारी भी होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त क्रान्ति पक्ष को सेना के सैनिकों को सुशिक्षित करने के लिए कई ऐसे शिक्षकों की भी आवश्यकता होती है जो सच्चे निस्वार्थ और युद्ध कला के पूरे जानकार हों।

इन सब साधनों का एकत्र होना बहुत ही कठिन है। सात्विक क्रान्ति की तरह सशस्त्र क्रान्ति में भी संघटन, शौर्य्य और स्वार्थ-त्याग आदि गुणों की आवश्यकता है। अन्तर केवल इतना ही है कि सत्याग्रह में जनता के मानसिक बल और मानसिक त्याग की आवश्यकता होती है और इसमें शारीरिक संघटन और शारीरिक त्याग की। यदि इसमें भी स्वार्थ और विश्वासघात की भावनाएं प्रबल रहें तो इसका भी बड़ा भयंकर परिणाम होता है। ऐसे परिणाम संसार के-खासकर भारत के इतिहास में बहुत मिलते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त साधनों की पूर्ति सशस्त्र क्रान्ति की सफलता के लिए आवश्यकता है।

सात्विक (सत्याग्रह) और राजसिक (सशस्त्र) क्रान्ति के साधनों के विषय में हम लिख चुके। अब तीसरी तामसिक क्रान्ति अर्थात् षड्यन्त्र के विषय में कुछ लिखना शेष है। हम यह पहले लेख में लिख आये हैं कि षड्यन्त्र के द्वारा जो क्रान्ति की जाती है उसे नीति और धर्म का आधार नहीं रहता। कई लोग इसके विरोध में यह कहना चाहते हैं कि "नीति और धर्म का निश्चित रूप आज तक दुनिया ने नहीं जाना" इस विषय की कुछ परिभाषाएं अपेक्षाकृत ही होती हैं। ऐसी स्थिति में किसी काम के लिए "वह नीति विरुद्ध है" ऐसा कहना कहने वाले का अनुत्तर-दायित्व सूचित करता है। इस प्रकार का आक्षेप करने वालों को यह उत्तर दिया जा सकता है कि चाहे नीति का एक निश्चित स्वरूप अभी तक आज़ाद न हुआ हो, पर मनुष्य जाति ने कई ऐसे सिद्धान्त स्थिर कर दिये हैं जिन पर आज भी वह दृढ़ है। उन सिद्धान्तों का हमारे मनुष्यत्व के साथ भी गहरा सम्बन्ध है उनकी

उपेक्षा करने से हमारी आत्मा मनुष्यत्व से पिशाचत्व की ओर सतोगुण से तमोगुण की ओर अग्रसर होती है। अतः आन्दोलन कारियों को जहां तक हो सके ऐसे उपायों से बचना चाहिए ।

